वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द · 162

सृष्टि सम्वत् · 1972949087

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 बुधवार 15 अप्रैल 1987
अंक 4 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

वैशाख कृ० 1 संवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आर्यसमाज के वर्तमान व भावी कार्यक्रम पर विचार होगा

20 से 23 अप्रैल तक दिल्ली में प्रमुख आर्य विचारकों की संगोष्ठी

सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान मे एव आर्य समाज अजमेर के प्रधान श्री दत्तात्रेय जी आर्य के सयोजकत्व में आर्य समाज की वर्तमान स्थिति तथा भावी कार्यक्रम के सम्बन्ध में विचार-विनिमय हेतु प्रमुख आर्य-विद्वानो की एक सगोष्ठी का आयोजन मदिर मार्ग, आर्य समाज, नई दिल्ली मे गया है। गोष्ठी मे सम्मिलित विद्वानो के व्यापक विचार-विमर्श के उपरान्त प्राप्त सर्व-सम्मत सुझावो व निष्कर्षों के आधार पर एक प्रस्ताव पारित कर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को प्रस्तुत किया जाएगा। गोष्ठी की अध्यक्षता सुप्रसिद्ध आर्य सन्यासी व विद्वान डा स्वामी सत्यप्रकाश जी सरस्वती करेंगे।

उल्लेखनीय है कि श्री दत्तात्रेय जी आर्य ने आर्य समाज की वर्तमान स्थिति से खिन्न होकर आर्य समाज के पुनर्गठन की माग सन् 1982 मे सार्वदेशिक सभा की अतरग सभा मे उठाई थी इससे पूर्व श्री स्वामी विद्यानन्द जी ने भी आर्यसमाज के पुनर्गठन के प्रश्न को उठाने का प्रयास किया था, लेकिन सभा के अधिकारियो द्वारा पर्याप्त रुचि न लेने के कारण स्वामी जी का यह महान् कार्य पूर्ण नही हो सका था। परन्तु श्री दत्तात्रेय जी आर्य की जोरदार मागो के फलस्वरूप 1983 मे सभा ने श्री आर्य जी के सयोजकत्व मे ही एक उपसमिति का गठत उपयु'क्त विषय मे सुझाव प्रस्तुत करने के लिए-कर दिया था। इस उपसमिति मे इनके अतिरिक्त श्री स्वामी विद्यानन्द जी, दिल्ली, श्री वीरेंद्र जी प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब श्री प्रो शेरसिहजी दिल्ली एव डॉ भवानीलाल जी भारतीय चण्डीगढ सदस्य थे। इस उपसमिति ने अपनी अतरिम रिपोर्ट सभा मे पेश की थी। सभा प्र द्वारा स रिपोर्ट पर देश की प्रतिनिधि सभाओ आर्य समाजो एव प्रमुख व्यक्तियो से दो बार सम्मतिया आमन्त्रित की गई और अब उनके आधार पर पुन यह आदेश दिया गया है कि इन सुझावो एव उन पर प्राप्त सम्मतियो पर और अधिक आर्य-विद्वानो की सगोष्ठी का आयोजन कर व्यापक विचार विमर्श किया जाय।

सगोष्ठी के सयोजक श्री दत्तात्रेय जी आर्य ने प्राय सभी प्रमुख आर्य विद्वानो को निमत्रित किया है एव उनसे आर्य समाज के जीवन-मरण के इस प्रश्न के महत्व को दृष्टिगत रखते हुए अपनी व्यक्तिगत असुविधाओ के उपरान्त भी सगोष्ठी मे सम्मिलित होने का आग्रह किया है।

महात्मा हंसराज दिवस समारोह

रविवार 19 अप्रैल 1987 प्रात 9 से 1 बजे तक
स्थान—तालकटोरा इण्डोर स्टेडियम, नई दिल्ली

आर्य प्रतिनिधि सभा तथा डी ए वी सस्थाओ एव आर्य समाजो के सयुक्त तत्वावधान मे महात्मा अमर स्वामी जी महाराज की अध्यक्षता मे समारोह पूर्वक सम्पन्न होगा। इस समारोह मे देश भर से भर मे प्रसिद्ध आर्य विद्वान्, आर्यसमाज के नेतागण तथा भारत सरकार के अनेक मत्री महानुभाव महात्मा हसराज जी को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करेंगे। कुलाची हसराज माडल स्कूल, अशोक विहार के छात्र-छात्राय मनोहर मनोरजक कार्यक्रम प्रस्तुत करेंगे।

आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का वार्षिक अधिवेशन

आय प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली का वार्षिक अधिवेशन रविवार, 31 मइ 1987 को सभा के मुख्यालय आर्य समाज 'अनारकली', मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली मे प्रात 10-30 से 1 30 बजे तक तथा 2-30 बजे से साय 5-00 बजे तक निश्चित किया गया है।

—रामनाथ सहगल

भूल-सुधार

'आर्यपुनर्गठन' के 29 मार्च के अक मे पृष्ठ-3 पर कालम 1 की 12 वीं पक्ति में 'अग्रण्य' की जगह अग्रगण्य और इसी पृष्ठ पर प्रकाशित स्वामी जी के पत्र मे 1778 की जगह 1878 होना चाहिए था। कृपया पाठक सुधार लें।

—सपादक

आर्य समाज अजमेर की मांग—

ऐतिहासिक धर्म स्थल हिन्दुओं को लौटाये जावें

आर्य समाज अजमेर के प्रधान श्री दत्तात्रेय आर्य तथा मत्री श्री रासासिंह ने भारत सरकार से पुरजोर शब्दों मे अपील की है कि हिन्दुओं के ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तथा राष्ट्रीय सस्कृति के धरोहर धर्म स्थलो (राम और कृष्ण के जन्म स्थलो) को हिन्दुओ को सौंप दिया जावे। उन्होने मुसलमानों से भी अपेक्षा की है कि वे धार्मिक कट्टरता एव धर्मान्धता को त्याग कर साम्प्रदायिक सौहार्द्रता, प्रेम भावना तथा करोडो हिन्दुओ की भावनाओं का आदर कर राष्ट्र की अस्मिता के प्रति अपनी सद्भावना का परिचय देते हुए सहर्ष उन स्थानों को हिन्दू भाइयों को सौंप दें। इससे देश मे साम्प्रदायिक कटुता समाप्त होकर राष्ट्रीय एव भावात्मक एकता को बढावा मिलेगा।

उन्होने यह भी कहा कि यद्यपि आर्य समाज मूर्तिपूजक नहीं है तथा मूर्ति पूजा का विरोध करता है, परन्तु मर्यादा पुरुषोत्तम राम और योगीराज श्री कृष्ण भारतीय धर्म और सस्कृति के आधार स्तम्भ ऐतिहासिक महापुरुष रहे हैं। अत उनसे सम्बन्धित स्थान हिन्दुओं को प्राप्त होने हा चाहिए। इस ऐतिहासिक तथ्य को झुठलाया नही जा सकता कि विदेशी आक्रमणकारियो तथा तत्कालीन मुस्लिमशासकों ने इन स्थानो का रूप विकृत कर उन्हे मस्जिदो के रूप मे बदल दिया था।

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान सपादक : रासासिह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या 21010

वर्तमान परिस्थितियो में आर्यसमाज

राष्ट्र की भयावह स्थिति

देश की वर्तमान परिस्थितिया बडी भयावह है देश की राष्ट्रीय एकता अखण्डता पर खतरे के बादल मडरा रहे हैं भाषावाद प्रान्तीयतावाद क्षत्रीयतावाद जातीवाद साम्प्रदायिकतावाद आतकवाद एव उग्रवाद राष्ट्र की जडो को खोखलाकर रहे है। अधविश्वास अज्ञान मूर्तिपूजा आदि सामाजिक कुरीतिया पुन जोर शोर से पनपने लग गइ है। सबसे बढकर मानवीय मूल्यो और नैतिकता का तेजी से ह्रास हो रहा है। सब स्वार्थवाद के पुजारी हो रहे है। भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी भाई भतीजावाद बेईमानी चरित्रहीनता की दुष्प्रवृत्तिया तेजी से बढ रहा है। देशभक्ति एव राष्ट्रीयता की भावना पीछे सरक रही है। पर्दे के पीछे सी आई ए तथा के जी बी एव विदेशी मिशनरियो के षड्यन्त्र अपना जाल तेजी से फैला रहे है

दायित्व बोध —

इन भयावह परिस्थितियो मे आर्य समाज का उत्तरदायित्व अत्यधिक बढ जाता है। जो लोग यह कहते है कि आर्य समाज की अब आवश्यकता नही है इसके सब कार्यक्रम सरकार ने अपना लिये है वह आर्य समाज के घोर शत्रु है। आर्य समाज मे भी कुछ अन्य विचारधारा वाले छद्मवेषी लोग घुस गये है जो शल्य की तरह कहते रहते हैं कि अब आर्य समाज तो मर रहा है पिछड रहा है खण्डन नहीं करना चाहिये आदि आदि। ऐसे तत्व आर्य समाज के हित चिन्तक नही कहे जा सकते। अत आवश्यकता इस बात की है कि आर्य समाज को अपने दायित्व का बोध भली भाति हो। सका प्रखर और प्रचण्ड तेजोमय रूप सबके सामने आवे।

आर्य समाज ही सक्षम —

आर्य समाज ही निस्वार्थ भाव से निर्भीकता पूर्वक बुराइयो पर प्रहार कर सकता है भ्रष्टाचरण का पर्दाफाश कर सकता है। उसे सत्ता या अथवा वोटो का लालच नही है। विश्व मे यही मात्र ऐसा सगठन है जो डके की चोट कहता है सत्य को ग्रहण करने और असत्य के त्यागने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिये तथा सब काम धर्मानुसार अर्थात सत्य और असत्य को विचार कर करने चाहिए। विद्या की वृद्धि और अविद्या के नाश का यत्न करता है।

गौरव पूर्ण अतीत —

आर्य समाज का गौरवपूर्ण इतिहास तथा मजबूत सगठन रहा है। आर्यो मे असीम उत्साह और कर गुजरने की तमन्ना है। वे सिद्धान्तनिष्ठ और दृढनिश्चयी होते है। नैतिक मूल्यो की पुनर्स्थापना और चरित्र की प्रतिष्ठा आर्यसमाज ही कर सकता है। राष्ट्रीयता और देशभक्ति का पाठ आर्य समाज ही पढा सकता है। सच्चा ईश्वरोपासना और कर्मठता कर्मण्यता आर्य समाज ही उत्पन्न कर सकता है। आर्य समाज गैर साम्प्रदायिक राष्ट्रवादी सगठन है। उसके हाथ मे ओ३म् का ध्वज है। कृण्वन्तो विश्वमार्यम् उसका उद्घोष है

हम प्रमाणित बनें —

अत आर्य समाज स्थापना दिवस के शुभ अवसर पर अपने आपको महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज का अनुयायी कहने वाले आर्यजन सच्चे अर्थो मे आर्य बनें (मन्त्र दृष्टा धर्मात्मा ईश्वरभक्त और परोपकारी बनें)। बलिदान देने वाले सज्जन बनें। बलिदान पथ के पथिक बनें। अपनी सत्य निष्ठा एव चारित्रिक दृढता का प्रमाणिकता की छाप दूसरो पर डाले। उपदेश तो बहुत हो चुके अब तो हम आचरण से शिक्षा देना है। कृण्वन्तो स्वय आर्य।

रासासिंह

हमारे देश की विचित्र धर्म निरपेक्षता (गताक का शेष)

—लेखक श्री दत्तात्रय जी आर्य

यदि स्वामी दयानन्द सर्व धर्म समभाव या धर्म निरपेक्षता के नाम पर इन वेद विरुद्ध धार्मिक ग्रन्थो की समालोचना नही करते तो आज इन मे से एक भी सामाजिक कुरीति दूर नही होती। इन सब सामाजिक अन्धविश्वासो कुरीतियो के सम्बन्ध मे महात्मा गांधी ही नही अपितु आज देश के प्राय सब राष्ट्रीय और धार्मिक नेताओ की भी वही मान्यता है जो ऋषि दयानन्द की थी। यहा तक कि हमारे स्वाधीन भारत के सविधान तक मे प्राय इन सब कुरीतियो का निषेध किया गया है अत प्रश्न यह है कि यदि स्वामी दयानन्द धर्म के नाम पर प्रचलित इन अभिशापो का साहस पूर्व खण्डन करने का प्रिय कार्य न करते तो आज हिन्दू समाज ही नही भारत भी दासता की जजीरो मे जकडा रहता।

यह निर्विवाद है कि हमारी अनेक सामाजिक कुरीतियो का आधार हमारे धार्मिक विश्वास और पवित्र ग्रन्थ तथा उनसे सम्बन्धित पैगम्बर अवतार और गुरु समझे जाते है। इसलिये भी केवल धार्मिक ग्रन्थ या किसी धर्म के सस्थापक की दुहाई देकर इस प्रकार की मान्यताओ की समीक्षा और निराकरण का विरोध नही किया जा सकता।

आर्य समाज का घटता प्रभाव—

आर्यसमाज के आन्दोलन और सगठन के प्रभाव तथा शक्ति मे ह्रास का एक कारण सर्वधर्म समभाव की यह अव्यवहारिक विचार धारा भी है। स्वाधीनता आन्दोलन मे गांधी जी की इस व्यक्तिगत मान्यता को स्वाधीनता के बाद राज्य व्यवस्था का एक आदर्श स्वीकार कर लिया गया जिसके दुष्परिणाम आज हम देख रहे हैं। राजनैतिक सत्ता के प्रलोभन मे अनेक आर्य समाजी भी इस लहर मे बह गए। कट्टरपथी हिन्दुओ और विशेषकर गैर हिन्दुओ से वोटो की भिक्षा मागने वाले अभ्यर्थियो के लिए इन मतदाताओ की धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियो की समीक्षा करना कैसे सम्भव हो सकता है? यही कारण है कि अजमेर के ख्वाजा साहब की कब्र पर चादर चढाने वालो मे कई आर्य समाजी नेता भी होते हैं। जब आर्य समाज के मच से इन अन्धविश्वासो का साहसपूर्वक खण्डन किया जाता था उस समय वह सर्व प्रिय न होने पर भी एक शक्तिशाली सस्था थी। वस्तुत उसका यह सैद्धांतिक विवादास्पद स्वरूप ही उसके प्रभाव का एक बडा कारण था किन्तु त्याग व कष्ट पर आधारित सभी यह गतिविधि शिथिल होते ही धार्मिक अन्धविश्वासो के जगत मे पराक्रम और विरोध की यह आवाज बन्द हो गई अपनी इस विशेषता को खोने के बाद आर्य समाज को न तो विवादास्पद प्रतिष्ठा ही रही और न ही उसे अपेक्षित लोक प्रियता ही प्राप्त हुई देश के सार्वजनिक जीवन मे अब वह उपेक्षित होता जा रहा है। आज उसके मच से वही ठकुर सुहाती बात कही जा रही हैं जो वोटो की राजनीति के मच से भी। सगठन और सस्थाए बट रही है अपना शक्तिशाली पृथक अस्तित्व न होने के कारण न किसी को उसके समर्थन की आवश्यकता है और न ही विरोध की चिन्ता है। विरोध भी उसी का माना होता है जिसका कुछ प्रभाव व शक्ति हो

वस्तुत आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य केवल समाज सुधार तक सीमित नही था अपितु धार्मिक क्रान्ति था। आर्यसमाज के इन दो उद्देश्यो मे से केवल समाज सुधार का उसका गौण उद्देश्य अधिक लोकप्रिय होने के कारण सर्व साधारण और स्वय आर्य समाज के कुछ व्यक्ति उसे आधुनिक भारत का केवल एक प्रभावशाली समाज सुधार आन्दोलन मानने लगे है। जो सही नही है। स्वाधीनता के बाद जातपात छुआछूत और यहा तक कि सती जैसी कुरीतिया पुन बढ रही है। यही इस बात का प्रमाण है कि जब से हमने धर्म निरपेक्षता या समभाव के नाम पर इनके समर्थको की समालोचना न करने की नीति अपनायी है तब से उन्हे पुन एक नवजीवन प्राप्त होने लगा है। यहाँ तक कि कुछ अल्पमत के लोग धर्म के नाम पर राष्ट्रगीत राष्ट्रीय झण्डा सविधान तक का विरोध करने लगे है। बहु विवाह व तलाक तथा स्त्रियो के प्रति होने वाले अन्यायो तथा अत्याचारो तक का धर्म निरपेक्षता के नाम पर समर्थन किया जा रहा है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विचार स्वतत्रता तक और विज्ञान के इस युग मे केवल धर्म के नाम पर प्रचलित कुरीतियो और अन्धविश्वासो का निराकरण करने के लिये उनका परीक्षण और आवश्यक हो तो समीक्षा और खण्डन करना न केवल आवश्यक है अपितु अनिवार्य भी है अन्यथा जिन राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक निर्बलताओ के कारण हमारे देश का पतन हुआ और सैकडो वर्षो तक उसे पराधीनता का शिकार होना पडा उसकी पुनरावृत्ति हो सकती है। ⊙⊙

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार से पुरस्कृत

आचार्य दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित साहित्य के विचार बिन्दु

सकलनकर्त्ता—वीरेन्द्र कुमार आर्य

गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार द्वारा इस वर्ष दयानन्द स्नात्तकोत्तर महाविद्यालय, अजमेर के सस्थापक/प्राचार्य श्री दत्तात्रेय वाब्ले आर्य को आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। उनके द्वारा हिन्दी, अंग्रेजी मे लिखी गई लगभग एक दर्जन छोटी-बड़ी पुस्तकें हैं। जिनमे हिन्दू विदाउट हिन्दूजिम और उसका हिन्दी रूपान्तर आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही तथा राष्ट्रीय चरित्र और एकता, सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थमाला, देश धर्म और समाज को आर्य समाज की देन और विद्यार्थियों के लिए 'आचार सहिता' प्रसिद्ध हैं। इसमे जो मौलिक विचार व्यक्त किए गए है उनका सक्षिप्त परिचय देना इस अवसर पर आवश्यक और प्रासगिक प्रतीत होता है।

आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं

उनकी विकास पब्लिकेशन द्वारा द्वारा प्रकाशित सबसे प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक दी आर्य समाज-हिन्दू विदाउट हिन्दूजिम' है जिसका उन्ही के द्वारा किया गया हिन्दी रूपान्तर 'आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही'' है। इसमे उन्होने ऋषि दयानन्द की मान्यताओ, ग्रन्थो और आर्य समाज के ऐतिहासिक सन्दर्भ मे यह स्पष्ट किया है कि आर्य समाज कोई नवीन धर्म या पन्थ नही है। वह उस प्राचीन सार्वभौम वैदिक धर्म का समर्थक है जिसे ऋषि दयानन्द द्वारा पुन प्रतिपादित किया गया है किन्तु वर्तमान हिन्दू धर्म से वह सर्वथा पृथक् और भिन्न है।

आर्य या हिन्दू

यद्यपि हमारा वास्तविक और गौरवपूर्ण नाम आर्य ही है फिर भी ऐतिहासिक, सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टि से आर्य समाज के अनुयायी हिन्दू समाज के एक घटक के रूप मे गैर धार्मिक अर्थ मे हिन्दू हैं। वस्तुत हिन्दू धर्म नामक कोई सगठित धर्म नही है। प्रचलित अर्थ मे जिसे हम हिन्दू धर्म कहते है उसका तात्पर्य सनातनी या पौराणिक धर्म से है। आर्य समाज उसका सम्प्रदाय न होकर अपना एक पृथक धार्मिक अस्तित्व रखता है।

हिन्दू एकता और संगठन के लिए आर्य समाज अनिवार्य

पौराणिक काल के गत सैकडो वर्षो के इतिहास से स्पष्ट है कि हिन्दू समाज की ही नही अपितु सारे देश की राजनैतिक दासता, राष्ट्रीय पतन तथा सामाजिक धार्मिक आदि क्षेत्रो मे निरन्तर गिरावट का एक मात्र कारण हिन्दुओ की मूर्ति पूजा और उससे सम्बन्धित अन्य धार्मिक अन्ध-विश्वासो और जात-पात, छूआछूत आदि सामाजिक कुरीतिया रही हैं इसलिए इनका निराकरण किए बिना हिन्दू राष्ट्र तो क्या हिन्दुओ की एकता और किसी सगठन तक का निर्माण असम्भव है। यह कार्य एक स्वय गतिशील और प्रभावशाली आर्य समाज जैसे क्रान्तिकारी आन्दोलन के द्वारा ही किया जा सकता है। हिन्दुओ की एकता और सगठन के अन्य सब प्रयत्न इसके बिना असफल होगे। हिन्दू विश्व परिषद, राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ और आर्य समाज मे यह महत्वपूर्ण और दूरगामी अन्तर है।

आर्यसमाज केवल समाजसुधार आन्दोलन नहीं

वाब्ले जी की यह भी मान्यता है कि आर्यसमाज केवल समाज सुधारिका सस्था नही है अपितु एक धार्मिक सगठन भी है। यह सामाजिक सुधार कार्य केवल उसकी धार्मिक मान्यताओ के परिणाम मात्र है और उसका मुख्य उपदेश ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म का प्रचार व प्रसार करना है इसलिए केवल एक सुधार आन्दोलन के रूप मे उसे हिन्दू धर्म की नमक की खान मे विलीन होने से बचाना उसके तथा स्वय हिन्दूओ के हित मे है।

धर्म निरपेक्ष या सर्वधर्म सापेक्ष

धर्म निरपेक्ष राज्य की आधुनिक कल्पना सर्वथा उपयुक्त व तर्कसगत है विशेषकर भारत की विशेष परिस्थिति में यह और भी अधिक आवश्यक है कि आज किसी एक सगठित धर्म के प्रति पक्षपात न करें किन्तु दुर्भाग्य से हमारे नेताओ ने राजनैतिक कारण से इस सर्वमान्य सिद्धान्त को एक विकृत रूप देकर धर्म निरपेक्ष राज्य के स्थान मे एक सर्वधर्म सापेक्ष राज्य की नीति अपना ली है। जिसके परिणाम स्वरूप बहुसख्यक किन्तु असगठित हिन्दू धर्म के प्रतिकूल सगठित अल्प सख्यक धर्मो के अनुयायियो की देश विरोधी अनुचित मागो को प्रोत्साहन मिल रहा है। दूसरी ओर स्वय हिन्दुओ की अनेक धार्मिक और सामाजिक कुरीतियो को भी धर्म निरपेक्षता के नाम पर प्रोत्साहन मिल रहा है।

सर्वधर्म समभाव केवल काल्पनिक आदर्श

सर्वधर्म समभाव व्यक्तिगत जीवन का आदर्श तो हो सकता है किन्तु वह किसी राज्य या राष्ट्र की नीति का आधार नही हो सकता। ऐसा करना और विशेषकर भारत की विशेष परिस्थिति म अवाछनीय तथा अव्यवहारिक दोनो ही है।

साम्प्रदायिकता का अर्थ

साम्प्रदायिकता क्या है? यह अभी तक किसी सविधान या कानून म परिभाषित नही है किन्तु भारतीय परिपेक्ष्य म उसका अर्थ कार्य और विचार है जो हमारे देश की एकता और अखण्डता को चुनौती देते है। बहुसख्यक हिन्दुओ की अपरिभाषित साम्प्रदायिकता अन्य सम्प्रदायो के के विरुद्ध हो सकती है किन्तु वह साधारणत ही राष्ट्र विरोधी नही हो सकती दूसरी ओर अल्प सख्यको और विशेषकर इस्लाम की धार्मिक कट्टरता और साम्प्रदायिकता न केवल अन्य सम्प्रदायो के लिए अनिष्ट कर है अपितु वह प्राय राष्ट्र विरोधी भी है। इस्लाम धर्म निरपेक्ष राज्य का विरोधी है और भौगोलिक राष्ट्रीयता को भी वह स्वीकार नही करता, पाकिस्तान का निर्माण इसका उदाहरण है।

राष्ट्रीयता का आधार सस्कृति

हमारी धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीयता का आधार केवल भौगोलिक एकता पर नही रखा जा सकता, राष्ट्रीयता एक भावनात्मक एकता का नाम है, इसीलिए उसका आधार एक आधुनिक और प्रगतिशील सास्कृतिक धरातल पर ही रखा जा सकता है जिसे हमे मिली जुली या हिन्दू मुस्लिम सस्कृति न कहकर एक भारतीय सस्कृति कहना और बनाना चाहिये।

राष्ट्रीय चरित्र बनाम व्यक्तिगत चरित्र

सास्कृतिक एकता के इसी धरातल पर हमे अपने नवयुवको म एक विशेष प्रकार के राष्ट्रीय चरित्र का विकास करना आवश्यक है। अभी तक इस चरित्र का अर्थ केवल व्यक्तिगत व्यवहारो तक सीमित करते रहे हैं किन्तु इन दोनो मे अन्तर है और होना चाहिये। प्राय सब धर्म अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार व्यक्तिगत चरित्र पर ही जोर देते है। हमे एक ऐसे धर्म निरपेक्ष राष्ट्रीय चरित्र पर बल देना चाहिये जो प्रत्येक भारतीय, चाहे वह किसी धर्म जाति सम्प्रदाय का हो उसके व्यक्तिगत और सार्वजनिक व्यवहारो से प्रकट होता है।

वाब्ले जी ने इसी दृष्टि से एक आचार सहिता सग्रहित की है जिसका सर्वत्र स्वागत हुआ है।

निश्रेयस से पहले अभ्युदय

यताऽभ्युदय निश्रेयस समिद्धि स धर्म'।

देश की सैंकडो वर्षो की धार्मिक और सामाजिक और विशेषकर राजनैतिक दासता के कारण हिन्दुओ ने जहा अपनी निर्बलता को तथाकथित उदारता और सहनशीलता का नाम देना प्रारम्भ किया वही अपनी आर्थिक और भौतिक दुर्दशा को आध्यात्मिक और परलौकिक काल्पनिक श्रेष्ठता के नाम पर स्वीकार करना प्रारम्भ कर दिया है। ऋषि दयानन्द इस युग के पहले महापुरुष थे जिन्होने इस जीवन म अभ्युदय को परलौकिक निश्रेयस या कल्याण के समान नही अपितु उससे भी अधिक महत्व देकर हमारे दृष्टिकोण म क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया है। कर्म के स्थान म पुरुषार्थ असमानता के स्थान म समानता, पराजय के स्थान म जय, तपस्या के स्थान म बल और शक्ति, और दासता के स्थान मे स्वराज्य के नवीन आदर्श इन्होने हमे दिये।

भिन्नता में एकता

दुर्भाग्य से भिन्नता हमारे देश की एक वास्तविकता रही है किन्तु उसे हम अपना आदर्श समझने का

(शेष पृष्ठ 5 पर देखें)

धर्म (?) के नाम पर राजनीति में हस्तक्षेप सिख धर्म के विरुद्ध है।

आर्य समाज धर्म के विषय मे अपने स्वतन्त्र व शास्त्रोक्त विचार रखता है। परन्तु आज इसके विपरीत समाज मे मजहब व सम्प्रदाय को भी धर्म के अर्थ मे ही लिया जाता है धर्म का ही वाचक समझा जाता है। इसीलिए आज जब धर्म विहीन राजनीति की माग या बात की जाती है तो वस्तुत उसका आशय साम्प्रदायिकता विहीन राजनीति से होता है।

हम पाठको के लाभार्थ 18 मार्च के 'टाइम्स आफ इन्डिया मे प्रकाशित श्री पी जे सिंह के लेख का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर रहे है। कृपया इस लेख को उपयुक्त सदर्भ मे ही ले। सपादक

अन्य धर्मों की तरह सिख धर्म मे पुरोहितो के लिए कोई स्थान नही है। इसके दो सम्भावित कारण हो सकते हैं। पुरोहितो का नैतिक पतन एव उनमे व्याप्त भ्रष्टाचार व दुराचार इसका पहला मूल कारण हो सकता है। सिख धर्म मे आस्था रखने वाले अपने धार्मिक कर्त्तव्यो का पालन करें व ईश्वर प्राप्ति हेतु स्वय साथ प्रयत्न करें। वे इसके लिये पुरोहितो पर आश्रित न रहे एसी इच्छा सिख गुरुओ की थी। यही इच्छा दूसरा सम्भावित कारण हो सकता है। यद्यपि कुछ सिख परिवारो ने ग्रथियो व रागियो का व्यवसाय कई पीढियो से अपना रखा है परन्तु इन्हे पुरोहितो के रूप म मान्यता कभी नही मिली। सक्षेप मे सिख धर्म म पुरोहितो की व्यवस्था के लिए कोई स्थान नही है। नि सदेह बाबा बुढा जी भाई मानी सिंह बाबा दीपसिंह इत्यादि जत्थेदारों का सिख समाज मे असीम आदर व सम्मान प्राप्त रहा है। इस सम्मान का मूल कारण इन जत्थेदारो की विद्वता पवित्रता नैतिकता व ईमानदारी जस गुण थे न कि उनका पद।

उपरोक्त वर्णित तथ्यो की पृष्ठ भूमि मे उच्च कोटि के जत्थेदारो द्वारा असाधारण शक्ति ग्रहण करना व मनमाने फरमान व हुक्मनामे जारी करना सिख धर्म के नियमो का खुला उल्लघन है। ये जत्थेदार अपने राजनतिक प्रभाव व गठबधन के कारण अपने पदो पर आसीन है और सिख समाज मे उनकी छवि के मूल म भी उनका राजनैतिक प्रभाव ही है। अत इन के द्वारा जारी किये गये फरमान व हुक्मनामे तर्क सगत कदापि नही हो सकते।

नि सन्देह भूतकाल मे सिख उपदेशको व सामयिक चन्दा सकलन कर्त्ताओ की व्यवस्था थी। परन्तु ये सिख कार्यकर्ता भ्रष्टाचार व दुराचार मे लिप्त हो गये थे। धन इकट्ठा करने के लिये अपने पद का दुरुपयोग करने लगे थे व धर्म विरुद्ध व्यवहार करने लगे थे। अत गुरु गोविंदसिंह जी को इस व्यवस्था को समाप्त करना पड़ा। सिख धर्म के इतिहास की यह एक मुख्य घटना है। आज भी गुरुद्वारो मे इस घटना पर आधारित बहुत से भजन गाये जाते हैं। सिख इतिहास के जानकार लोग इस घटना से भलीभांति परिचित है। राजा रणजीत सिंह के सत्ता मे आने से पूर्व सिख इतिहास के मिसल काल Misal Period) मे जत्थेदारो की भूमिका नगण्य है। सिख इतिहास के इस काल मे इस बात का तो उल्लेख है कि ये लोग बैसाखी व दीपावली के अवसरो पर हरमिन्दर साहब मे सभायें आयोजित करते थे। जत्थेदार इन सभाओ मे सिख धर्म के विषय पर विचार विमर्श करते थे। भविष्य मे सम्पन्न किये जाने वाले कार्यं का प्रारूप तैयार करते थे। परन्तु सतलज सरदारों मे कुछ ऐसे सरदार भी थे जो स्वय के निहित स्वार्थों के कारण इन सभाओ मे न तो भाग लेते थे न ही इन सभाओ म लिये गये निर्णयो को स्वीकार करते थे। ऐसा होने पर भी इन के विरुद्ध कोई फरमान जारी किये जाने का किसी घटना का उल्लेख नही मिलता। बल्कि इन सरदारो के वशज आज की अकाली राजनीति मे मुख्य भूमिका अदा कर रहे है।

यद्यपि राजा रणजीतसिंह जी ने दरबार साहब व उसके मुख्य जत्थेदार का सदैव सम्मान किया परन्तु जत्थेदार ने कभी राजा रणजीतसिंह जी के राजकीय प्रशासन मे हस्तक्षेप नही किया। हरमिन्दर साहब के जत्थेदार ने राजा रणजीतसिंह को केवल उनके द्वारा सिख पथ के धार्मिक नियमो के उल्लघन करने पर ही दण्डित किया। राज्य के प्रशासन को चलाने के लिए सवैधानिक कदमो को लेकर किसी मंत्री के विरुद्ध फरमान जारी करना कदापि उचित नही माना जा सकता। जत्थेदारो को ऐसा करने की Personal Law भी आज्ञा नहीं देता। सिख धर्म के इतिहास मे कही भी ऐसा उदाहरण नही मिलता जिसमें कभी जत्थेदारो ने किसी उच्च अधिकारी को उसकी प्रशासकीय त्रुटियो के लिए दण्डित किया हो। अत हरमिन्दर साहब के मुख्य ग्रथी को व अकाल तख्त के जत्थेदारो को राज्य की राजनीति मे हस्तक्षप करने का कोई अधिकार नही है। न ही उन्हे देश के राजनैतिक क्षत्र मे निर्देश देने का अधिकार है।

बरनाला के विरुद्ध हुक्मनामा जारी किया गया। बरनाला ने हुक्मनामे का सम्मान करते हुए आनन्द साहब गुरुद्वारे मे जूते साफ किये। इसमे सदेह नही कि इस का पजाब राज्य के प्रशासन तत्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा व सिख सेवको जत्थेदारा और नेताओ को अनुचित प्रोत्साहन मिला है जिसका भरपूर लाभ उठाने से वे कभी नही चूकेंगे। बरनाला ने उन पर लगाये गये दोषो का यद्यपि स्पष्टीकरण दे दिया है। परन्तु बरनाला साहब को जत्थेदारो से क्षमा मागने की जिम्मेदारी से अभी मुक्ति प्राप्त नही हुई है। जत्थेदार अभी भी यह मानते हैं कि बरनाला ने उन के धार्मिक अधिकारो का हनन किया है। उचित यह ही होगा कि अब जत्थेदारो की इस मनोवृत्ति को बढावा न दिया जाये व उन के प्रति उदासीनता का व्यवहार किया जाये। यदि ऐसा नही किया गया तो इन जत्थेदारो के नाम व उन के द्वारा अनुचित फरमान सिख इतिहास मे एक नवीन अध्याय के रूप मे जुड़ जायेंगे और यह स्पष्ट है कि ऐसा होना देश के हित मे नही होगा। विशाल सिख समुदाय ने खुलकर जत्थेदारो के राजनैतिक क्षत्र मे हस्तक्षप के विरुद्ध अपनी आवाज उठायी है। यह हम सब के लिए उत्साहवर्धक है। जत्थेदारो की यह मान्यता कि राजनीति से धर्म को अलग मान कर नही चला जा सकता कदापि उचित नही। बरनाला साहब को अभी जत्थेदारो की इस चुनौती का दृढता पूर्वक सामना करना है।

श्री गुरुद्वारा प्रबधक स की कार्यकारिणी के चुनाव के उपरात जत्थेदार कृपालसिंह को हटाकर रागी दर्शन सिंह को अकाल तख्त के जत्थेदार के पद पर नियुक्त करने से यह सिद्ध हो जाता है कि पजाब मे स्थित सभी तख्तो के जत्थेदार NGPS के वेतन भोगी कर्मचारी हैं व उसकी मुह बोली तस्वीरें हैं। यह इस बात से भी सिद्ध हो जाता है कि बरनाला के विरुद्ध फरमान का समर्थन पजाब के बाहर स्थित तख्तो के जत्थेदारों ने बिल्कुल नहीं किया। यदि पजाब के जत्थेदारो को राजनीति मे हस्तक्षप को खुली छूट दे दी गयी व उन के कार्य कलापो को महत्व दे दिया जाये तो पजाब सरकार NGPS के हाथो मे केवल कठपुतली बन कर रह जायेगी। सिख धार्मिक सस्थाओ का राजनैतिक क्षत्र पर नियन्त्रण करने का उद्देश्य कभी नही रहा। SGPC का गठन राज्य प्रशासन के कानून के अन्तर्गत किया जाता है इसलिये इसका कार्यक्षेत्र व अधिकार सीमित है। अत SGPC केवल धार्मिक क्षत्र मे ही सर्वोपरि है राजनतिक क्षत्र मे वह प्रशासन व विधान सभा के अन्तर्गत है। गुरु परपरा के अनुसार गुरुद्वारो का प्रबन्ध करना ही SGPC के कार्यकर्ताओ व जत्थेदारो का मूल कर्तव्य है।

मूर्खतापूर्ण हत्यायें

जत्थेदारो के लिये राजनीति म भाग लेना अवाञ्छनीय है [illegible] आतकवादियो व पृथकतावादियो [illegible] गठबधन करना अत्यधिक आपत्तिजनक है। निर्दोष नागरिको [illegible] व बच्चो की आतकवादियो द्वारा की जा रही हत्याओ से समस्त सिख समुदाय को आघात पहुच रहा है। इस से सिखो के सिर लज्जा से झुक गया है। ऐसा होने पर भी जत्थेदार पृथकतावादियो के विरुद्ध एक भी शब्द बोलने को तैयार नही है।

समय समय पर जत्थेदार पथ की एकता के उद्देश्य का राग अलापते रहते हैं। यहाँ पथ की एकता का क्या अर्थ है? जत्थेदारो के अनुसार पथ की एकता व अकाली एकता दोनो एक दूसरे के पर्यायवाची हैं परन्तु सिख अरदास के अनुसार पथ की एकता व अकाली एकता दोनो बिल्कुल भिन्न है। पथ की एकता का अर्थ समस्त सिख समुदाय की एकता से है। अकाली नेताओ से मेरा निवेदन है कि वे पथ शब्द का अर्थ अकालीदल से न लगायें उदार दृष्टिकोण का परिचय देकर सिख समुदाय मे पथ व अकाली दल को लेकर फैली भ्रान्ति को दूर करने की कृपा करें। OO

चलते रहो

चलते रहो चलते रहो ।

यात्रा कहाँ विश्राम है
पथ में कहाँ आराम है ?
बढ़ना चरण का लक्ष्य है-
चलना पथिक का काम है ।
युग की अमा में प्राण के

लघु दीप से जलते रहो ।
चलते रहो चलते रहो ।

आशा अटल विश्वास है ।
पथी तुम्हारे पास है ।
नूतन सृजन की शक्तिमय
गतिमय चरण हर श्वास है ।
शिव-सत्य के सकल्प तरु

तुम फूलते फलते रहो ।
चलते रहो चलते रहो ।

बहते हुए रसधार से
जग मैल धोते प्यार से
रुकते हुओं को शक्ति द
जागो उठो तुम ज्वार से ।
जा ता रणी गगा बह

हिम शल म गलते रहो ।
चलते रहो चलते रहो ।

—लाखन सिंह भदौरिया सौमित्र
पना भोजपुरा (मनपुरी उ प्र)

आर्य समाज स्थापना-दिवस मनाया

अजमेर 31 मार्च (कास) आर्य समाज का स्थापना दिवस सेवानिवृत्त आयुक्त श्री प्रेमसिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

इस मौके पर प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य डा देव शर्मा दयानद शोधपीठ के प्रवक्ता डा कृष्णपाल सिंह ने आर्यसमाज के सिद्धान्तों वर्तमान परिस्थितियों में समाज की भूमिका एव महत्ता पर प्रकाश डाला स्वामी धर्मानन्द जी दयानन्द बाल सदन तथा सुगन तामरा आर्य कन्या विद्यालय के बालक बालिकाओं के मधुर भजन कार्यक्रम भी हुए।

अन्त मे आर्य समाज के मत्री रासासिंह ने आभार व्यक्त किया।

जियालाल शि प्र सस्थान मे यज्ञशाला निर्मित

जियालाल शिक्षक प्रशिक्षण सस्थान अजमेर के छात्रावास प्रागण मे एक भव्य यज्ञशाला का निर्माण पूरा हो चुका है। इसके निर्माण के लए बी एड के नियमित तथा अनुसूचित जाति के छात्रों ने करीब 5 500/- रु दान मे दिया। इस यज्ञशाला का उद्घाटन सस्थान के सचालक मान्यवर श्री दत्तात्रय आर्य ने दिनाक 28 3 87 को किया।

उदघाटन समारोह पर आर्यसमाज शिक्षा सभा के मत्री श्री कृष्णराव जी वाघ मुख्य अतिथि के रूप मे पधारे और उक्त अवसर पर श्री बुद्धि प्रकाश जी आर्य के द्वारा भव्य यज्ञ समारोह आयोजित किया गया।

सत्र 1986 87 के सभी बी एड छात्रों ने अपनी अवधान राशि इस यज्ञशाला के विकासार्थ दान मे देने की घोषणा का वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

डा रामपाल सिंह
प्राचार्य

आचार्य दत्तात्रय आर्य द्वारा लिखित

(पृष्ठ 3 का शेष)

भूल कर रहे है। वर्तमान भिन्नताओं को कम करने के स्थान मे उनको प्रोत्साहित करने तथा उसमे और अधिक वृद्धि करना आत्मघाती सिद्ध होगा। भिन्नता की वास्तविकता का आदर्श समझने या बनाने के स्थान मे हमे एकता के आदर्श को वास्तविकता बनाने का प्रयत्न करना चाहिये

हिन्दुओं का उत्तरदायित्व

इस देश की लगभग 8 प्रतिशत जनसख्या हिन्दुओं की है। इस लिए इस देश की स्वाधीनता राष्ट्रीयता और प्रगति की सुरक्षा करना उनका विशेष कर्तव्य है दुर्भाग्य से उनमे प्रचलित मूर्तिपूजा जातपात छुआछूत आदि धार्मिक तथा सामाजिक कुरीतियां ही इस देश की एकता के लिए सबसे बड़ा खतरा हैं। इसलिए जहाँ बहुमत के कारण उनके अनेक अधिकार हैं वहां इन राष्ट्र विरोधी कुरीतियों का निराकरण करना भी उनका उतना ही बड़ा उत्तरदायित्व है। यह इसी लिए नहीं कि वे हिन्दू हैं अपितु इसी लिये कि देश का बहुमत उनका है और उसके हित अहित में उनका सबसे बड़ा हित या अहित है।

अन्तर्जातीय विवाह

जात पात का ऐतिहासिक अभिशाप और उससे उत्पन्न छुआछूत के कलक के निराकरण का अब एक मात्र उपाय कानून द्वारा अन्तर्जातीय विवाहो को अनिवार्य करना है इसके सिवाय इस असाध्य प्राय रोग का और कोई उपाय नही है अभी तक केवल स्वजातीय विवाह ही वैध और कानूनी समझे जाते थे और अन्तर्जातीय विवाहो को अवैध माना जाता था। अब इसका निराकरण करने के लिए अन्तर्जातीय विवाहो को ही वैध और कानूनी बनाकर अनिवार्य किया जाना चाहिये।

ऋषि दयानन्द की विचार क्रान्ति

ससार की क्रान्तियों का मुख्य आधार विचारों की क्रान्ति रहा है प्राय सब इतिहासवेत्ता आर्य समाज के सस्थापक ऋषि दयानन्द को उन्नीसवी सदी का महान क्रान्तिकारी विचारक मानते है। उनकी प्ररणा से आर्यसमाज ने गत सौ वर्षों मे धार्मिक सामाजिक शैक्षणिक और राजनैतिक आदि प्राय सब क्षेत्रों मे नयी आकाक्षाए नया दिशाए नयी आशाए और नयी सम्भावनायें उत्पन्न की हैं।

धार्मिक क्रान्ति

आज के वैज्ञानिक युग मे ईश्वर और धर्म के प्रति अविश्वास का कारण उनके नाम पर प्रतिपादित अन्धविश्वास और प्रचलित निरर्थक रीति रिवाज हैं। आर्यसमाज के रूप में ऋषि दयानन्द ने हमे एक ऐसा जीवन दर्शन दिया है जो हमारी आध्यात्मिक जिज्ञासा मनोवैज्ञानिक आकाक्षा तथा जीवन की व्यवहारिक आवश्यकता को सतुष्ट करता है और साथ ही शाश्वत सत्यों के आधार पर प्रगति का मार्ग भी खुला रखता है। उनके द्वारा प्रतिपादित यह जीवन दर्शन या धर्म सरल और सीधा सादा सबके लिए समान रूप से सार्वत्रिक और तर्क विहीन विश्वासों और कर्मकाण्डो से मुक्त है।

यदि दिवस में ही नहीं कुछ देख पाया

—डॉ (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी

यदि दिवस मे ही नही कुछ देख पाया
दीप पाकर के निशा मे क्या करेगा ?

कर्म पथ का पाथ भूला कर्म पथ को
व्यस्त होकर भी स्वय को छल रहा है
विश्व इच्छा का अपरिमित है जहां पर
प्राप्ति कारा को स्वय कर मल रहा है
राग पाकर भी नही यदि गा सका तू
कठ वचित ताप कब किसके हरेगा ?

नित्य कल की ही प्रतीक्षा कर लेते
हर प्रहर है सृजन क्यो मद करता ?
शक्ति शापक बन गया उन्मादमय हो
पूर्णता के दम्भ मे प्रिय का न जपता।
ध्यान होते भी न पहुचा साध्य तक यदि
ध्यान वचित जड बना कैसे चलेगा ?

शाप की गाथा बना डाला स्वय को
बस नियति का नाम लेकर रह रहा है।
छांह पाकर भी बना निरुपाय कितना
कालिमा के सताप मे उर दह रहा है
पास का अमृत नहीं यदि जान पाया
कौन से पीयूष से घट को भरेगा ?

पता—प्रा सस कालोनी श्यामगज बरेली—245005

बुरी लगे, चाहे लगे भली

राम जन्म भूमि का विवाद—

राम जन्म भूमि का विवाद कम होने के स्थान पर समय के साथ-2 क्रमश बढता ही जा रहा है एव निकट भविष्य मे इसके समाप्त होने होने की कोई सम्भावना दिखाई नहीं देती। इस तथ्य की सत्यता मे कोई सदेह नही है कि तथाकथित् स्थान ही ऐतिहासिक राम जन्म स्थान है। गत दिनो दिल्ली मे हुई वरिष्ठ इतिहासकारों की एक सगोष्ठी मे वक्ताओ ने भी अपने अकाट्य-प्रमाणो द्वारा यह सिद्ध किया था। लेकिन मुस्लिम नेता सत्य को अनदेखा कर अपना पुराना 'बाबरी मस्जिद' का ही राग अलाप रहे हैं। यहा तक कि वे इस मुद्दे को लेकर मुसलमानो को उत्तेजित कर एक नये साम्प्रदायिक दगे की रूप रेखा बना रहे है। जामा मस्जिद के शाही इमाम अब्दुला बुखारी तथा उनके पुत्र नायब इमाम अपनी सभाओ म हिन्दुओ के प्रति जहर उगल रहे है, कुख्यात तस्कर हाजी मस्तान अपने नापाक इरादो सहित उत्तर प्रदेश पर मडरा रहा है। घटनाक्रम जिस तरह से घट रहा है, उसे देखकर लगता है कि निकट भविष्य मे साम्प्रदायिक-दगो का तूफान आ सकता है।

ऐसी विषम परिस्थितियो मे हम हिन्दुओ का सम्भावित खतरे के प्रति सावधान करना अपना कर्त्तव्य समझते हुए, उन्हे स्वर्गीय पडित मदन मोहन मालवीय के निम्न शब्दो का स्मरण करने का अनुरोध करते हैं--

' हिन्दुओ की दुर्बलता ही फसादो का कारण बनती है। अब तक जहाँ कही भी फसाद हुए है, हिन्दुओ की दुर्बलता के कारण हुए हैं। मुसलमानो मे जो फसादी हैं उनमे यह भावना घर कर गई है कि हिन्दू बुजदिल और कायर हैं। इसलिए व झट उन पर धावा बोल देत है। हिन्दू भी अपने घरा से निकलकर उनका सामना नही करते। वे कायरा की तरह भाग खडे होते है। जब कभी गुडो को यह पता लगता है कि फसाद करने पर उनकी अच्छी खबर ली जायगी वहा व फसाद नही करते। उन्हे ठीक रास्ते पर लाने का एक ही उपाय है कि हिन्दू सगठित और बलवान बनें। यदि हिन्दू सगठित रह तो गुडो को हमला करने का कभी भी साहस न होगा।

फेयरफैक्स ऊट किस करवट बैठेगा

भले ही श्री राजीव गाधी ने फेयरफैक्स विवाद की सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री ए पी ठक्कर की अध्यक्षता वाली दो सदस्यीय समिति द्वारा जाच करवाने की घोषणा से सम्भावित खतरे से तत्कालीन रूप मे राहत पा ली हो, परन्तु यह निर्विवाद रूप से तय है कि इस काड ने उनकी साफ छवि(?) को गहरा धक्का पहुचाया है। (वैसे असफल अस्पष्ट समझौतो व तथाकथित मुस्लिम विधेयक ने उनकी साफ छवि कोछोडा ही कहाँ था।)

अभी तक इस विवाद के विषय मे समाचार-पत्र नित नई-नई एव परस्पर विरुद्ध खबरें दे रहे है। अतएव इस विषय म कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती है कि दोषी कौन पाया जायेगा? किन्तु लोकदल महासचिव एस स्वामी जैसे लागो को अपनी इस मान्यता म तो सुधार कर लेना ही चाहिए कि अनाड़ी से अनाडी व्यक्ति भी गद्दी मिलने पर शासन चला सकता है।

मातृ-शक्ति के सौदागर

गत दिनो एक राष्ट्रीय दैनिक न राज के धौलपुर जिले के विषय मे समाचार प्रकाशित किया है कि वहाँ शारीरिक व्यापार जोरो पर है एव महिलाओ की खरीद-फरोक्त भैस-बकरियो की तरह होती है। नि सदेह यह समाचार प्रत्यक स्वाभिमानी भारतीय के लिए कलक की बात है अहा! अब हनुमान भीष्म व दयानन्द के देश मे नारी की यह दशा, धिक्कार है हमे!

सरकार को चाहिए कि इस कुकृत्य को रोकने मे की दिशा मे विशेष उद्योग करे। इस अमानवीय-कुकृत्य मे लिप्त लोगो के विरुद्ध कड़ी कारवाई करे तथा इसके साथ ही इन लोगो की यदि कोई मजबूरी इस कुकृत्य म प्रेरक का काम कर रही है तो उसे भी दूर किया जाए। समाज सेवी सस्थाओ को भी यथा शक्ति सरकार को इस नेक काम में सहयोग देना चाहिए।

विश्वनाथ प्रताप सिंह का त्याग-पत्र

आखिर राजीव गाधी ने श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह का त्याग-पत्र स्वीकार कर यह सिद्ध कर ही दिया कि उनके मत्रिमण्डल मे ईमानदार आदमी के लिए कोई स्थान नही है। वैसे यदि 'राजा साहब' की कार्य-कुशलता व ईमानदारी के कारण उनकी छवि के सामने मि कलीन की छवि धु धली दिखाई देने लगी थी तो इसमें 'राजाजी' का क्या दोष था?

हम मान्य 'राजाजी' के शुभचिंतक हैं, अतएव हमारा राजाजी को परामर्श है कि अब जबकि उन्हे अवकाश है तो निम्नलिखित दो आधुनिक नीति सम्बन्धी दोहो का मनन शील होकर स्व ध्याय करें एव तत्पश्चात इन अनुसार ही आचरण करें।

1 झूठ का बोलवाला।
सत्य का मुह काला॥

2 झूठ बराबर तप नहीं
सत्य बराबर पाप॥

उपसंहार:

कर्नाटक के मुख्यमन्त्री श्री रामकृष्ण हेगडे के 'राष्ट्रपति प्रधानमत्री पत्र विवाद' सम्बन्धी इस कथन पर कि यदि ऐसा किसी अन्य लोकतान्त्रिक देश मे होता तो वहा का प्रधान मत्री अपने पद से त्याग पत्र दे देता, किन्तु हमारा देश इतना लोकतान्त्रिक नही है। हमारे एक मित्र की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार थी।

मि हेगडे! यदि अपने देश के प्रधानमत्री इतनी छोटी-छोटी बातो पर त्याग-पत्र दे दिया करते तो अब तक भूतपूर्व प्रधानमत्रियो के नामों को सूची मे आठ दस नाम न होकर हजारो नाम होते! और फिर—महोदय! आपने भी तो अरक-काड मे मात्र त्याग पत्र देन का ड्रामा ही किया था न?

—वीरेन्द्र आर्य

स्वत्वाधिकार आर्य समाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल [illegible] द्वारा [illegible] मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 बृहस्पतिवार 30 अप्रैल 1987
अक 5 प स-43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

वैशाख शु० 2 सवत 2044
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

आर्य समाज नयी पीढी के चरित्र निर्माण का बीडा उठाये —विश्वनाथ प्रतापसिंह

समारोह को सम्बोधित करते हुए श्री सिंह

पूर्व रक्षामन्त्री श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह आचाय वाल्ले को गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार प्रदान करते हुए

नई दिल्ली, 19 अप्रैल भूतपूर्व रक्षामंत्री विश्वनाथ प्रतापसिंह ने आज कहा कि हमे भारतीयता से अनुप्राणित मूल्य निष्ठ शिक्षा प्रणाली अपनानी चाहिए। जो किताबी ज्ञान तक सीमित न होकर मानवीय आचरण के सभी पहलुओं का स्पर्श करे।

श्री सिंह आज यहा डी ए वी शिक्षण आन्दोलन के प्रणेता महात्मा हसराज जी की जयन्ती पर आयोजित समारोह में भाषण कर रहे थे। उन्होने कहा कि अच्छे इसान बनकर ही हम स्वामी दयानन्द और महात्मा हसराज जैसे महापुरुषो को उपयुक्त श्रद्धांजलि दे सकते हैं।

श्री सिंह ने आर्य समाज की शिक्षण सस्थाओ से अपील की कि वे समाज के सभी वर्गों को एक सूत्र मे पिरोकर राष्ट्रीय एकता की नीव मजबूत करने मे सहयोग दें। भूतपूर्व रक्षामंत्री ने इस अवसर पर आर्य समाज की उन विभूतियो का गुरुकुल कागडी द्वारा प्रदत्त आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार से सम्मान किया। जिन्होने अपना सारा जीवन शिक्षा के प्रसार और सामाजिक उत्थान के लिए अर्पित किया है। उल्लेखनीय है कि आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य वाल्ले को भी उपर्युक्त पुरस्कार से श्री सिंह ने सम्मानित किया।

श्री सिंह ने आर्यसमाज को नयी पीढीके चरित्र निर्माण का बीडा उठाने की सलाह दी और कहा कि चरित्र पुस्तक से ज्यादा कीमती है। उन्होने कहा कि शिक्षा की परीक्षा मानवीय व्यवहार मे होनी है अत समग्र मानव का निर्माण करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

आर्य प्रतिनिधि सभा राज. की राज्य सरकार से मांग—

अजमेर के विश्वविद्यालय का नाम दयानन्द विश्वविद्यालय हो

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने अजमेर में खुलने वाले विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय' रखने की माग राजस्थान सरकार से की है सभा के प्रधान श्री छोटूसिंह एडवोकेट ने राज्य के मुख्यमन्त्री के नाम लिखे अपने पत्र में अनेक तर्क देकर विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानन्द के नाम पर रखने का औचित्य सिद्ध किया है।

श्री छोटूसिंह ने लिखा है-' स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवन का अधिकाश समय राजस्थान मे लगाया, आर्य समाज के प्रतिष्ठ ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना भी उन्होने उदयपुर के 'नौलखा' महल म बैठकर की। राजस्थान उनका सबसे बडा परम क्षेत्र रहा है। उन्होने राजस्थान के उद्धार के लिए अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया। उनकी अन्त्येष्टि भी राजस्थान के प्रमुख नगर अजमेर मे ही हुई।''

श्री छोटूसिंह ने अपने पत्र में दयानन्द स्नातकोत्तर कालेज, अजमेर के अतिरिक्त अजमेर मे चल रही अन्य आर्य शिक्षण सस्थाओ का विवरण भी दिया है।

आर्यसमाज अजमेर ने भी इस आशय का एक प्रस्ताव सव सम्मति से पारित कर राज्य के मुख्यमन्त्री व शिक्षा मत्री को भेजा है।

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान संपादक : रासासिंह संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या : 21010

सम्पादकीय

प्रतिनिधि सभा का अलवर अधिवेशन

गत 11 एव 12 अप्रल 1987 ई को अलवर मे आय विद्यामंदिर के विशाल सभागार मे आय प्रतिनिधि सभा राजस्थान का वार्षिक अधिवेशन हुआ जिसमे राजस्थान प्रान्त की अधिकाश आय समाजो के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए।

प्रतिनिधि सभा की साधारण सभा की कायवाही को देखकर तो मुझ गुप्त जी की निम्न पक्तियाँ सहज ही याद हो आई कि—

हम क्या थे ? क्या हो गये ?
क्या होगे अभी।'
आओ मिल कर विचारें देश
(सभा) की समस्यायें सभी॥

कई बार तो मछली बाजार का सा दृश्य उत्पन्न हो जाता था। अध्यक्ष जी के लिये सभा का सचलन भी कठिन हो जाता था। हमारी वाकशूरता के दशन वहाँ स्पष्ट हो रहे थे साथ ही हमारी कमवीरता के धीरे धीरे लुप्त होने के सकेत भी आ रहे थे। यद्यपि लोगो मे जोश था आक्रोश भी था कुछ कर गुजरने की तमन्ना भी थी परतु दिशा हीनता स्पष्ट दृष्टिगत हो रही थी। कौन किसको दोष दे। आखिर हम सभी उसी नाव मे सवार है।

आज आयसमाज मे ऊपर से नाचे तक सक्षम सबल एव याग्य नेतृ व का अभाव हो रहा है वोट बटोरु चुनावो के नाम पर यत्र तत्र गुटबन्दी धडेबन्दी और जोड तोड हो जाती है परिणाम स्वरूप अपक्षित बदलाव नहा आ पाता। एक और बात है कि पहले के आयजनो मे मनसा वाचा कमणा प्रमाणिकता हाती थी परतु अब तो यहा पर भी प्रत्यक्ष प्रिय वादिन परोक्ष काय हन्तार की प्रवत्ति प्रबल हो चली है फलस्वरूप चुनावी हथकण्डो मे माहिर लोगा के सामन शराफत घटने टेक देता है।

आज हम प्रात के आय एव उपलब्धियो के नाम पर अगर मगर की बात कह कर अपना हित साधन है पर हम जिस दयानन्द वदिक धम और आय समाज के रहबर हैं हमारे कन्धो पर जो दायित्व है उसका हम भली भाँति पालन नहा कर पा रहे हैं। कवि ने क्या ही सुदर बात कही है—

तू अगर मगर की बात न कर
यह बता कि कारवा क्यू लूटा।
मुझ राहजनी से गरज नही
तेरी रहबरी का सवाल है॥'

आज 11 वष बीतने को आ रहे हैं पर प्रतिनिधि सभा के पास अपना भवन नही अपना अब तक का रिकाड नही। अपनी समस्त सम्पत्ति की सूची नही है। कई स्थानो पर समाज मदिर बन्द पडे हैं अथवा अनधिकृत व्यक्तियो ने कब्जे कर लिये है कई समाजा मे दो धडे हैं। प्रतिनिधि सभा की अपनी कही जाने वाली सम्पत्ति पर भी किरायेदार अथवा अन्य लोग काबिज हैं। प्रतिनिधि सभा के पास नाम मात्र के उपदेशक भजनोपदेशक एव प्रचारक है। जो हैं उनकी भी समुचित व्यवस्था नही। यह सब बताने का उद्दश्य आलोचना अथवा बुराई करना नही अपितु वस्तु स्थिति का दिग्दशन कराना है। जो हम सब के लिए विचारणीय है।

नही चाहते हुए भी अलवर अधिवेशन मे चुनाव को लेकर अप्रियता उत्पन करने की कोशिश की गई। कुछ लोगो ने जान बूझकर दो मित्रो को अध्यक्ष के चुनाव मे आमने सामने ला दिया। यह साफ दृष्टिगत हो रहा था कि पूव मे कायरत अध्यक्ष ही पुन दावेदार हैं इच्छुक है उनकी सब प्रकार से पूरी तयारी है पर फिर भी परिवतन के हामी कई बुद्धिजीवियो तथा अन्य उत्साही आयजनो ने चुनाव के लिये सवथा अनिच्छुक एव बार बार मना करने और असमथता प्रकट करने वाले महानुभाव को सामने खडा किया पर ऐनवक्त पर उन तथाकथित परिवतन वादियो ने अपना पतरा बदल लिया और सौदेबाजी के आधार पर यथापूवम् कल्पयत को स्वीकार कर लिया।

खैर जो हुआ सो हुआ। कल जो मित्र थे वे आज भी मित्र ही रहेंग। दानो ही महानुभावो ने अपनी सौजन्यता सहृदयता तथा भलमनसाहत का परिचय दकर जो कुछ हुआ उसे भुला कर मिलकर सभा के काय को आगे बढाने का निश्चय व्यक्त किया। श्री छोटूसिह जी प्रधान निर्वाचित हुए और उन्होने वहीं साधारण सभा के सम्मुख श्रीदत्तात्रय आय (वाब्ले) को सभा का वरिष्ठ उपप्रधान घोषित किया।

हम आशा और अपेक्षा करते हैं कि अलवर अधिवेशन के पश्चात् सभा का काय गति पकडेगा प्रभावी बनेगा और हम प्रान्त के कोने कोने में ऋषि के सदेश को पहुचाने मे कामयाब होवे। अन्यथा—

वह वक्त भी देखा है
तवारीख की घडियो ने
लम्हो ने खता की है
सदियो ने सजा पाई।

—रासासिह

आचार्य श्री गोवर्धन शास्त्री : एक परिचय

श्री आचाय गोवधन जी शास्त्री (1881 1927) आयसमाज के एक निष्ठावान कायकर्ता थे। स्व गोवधन जी ने भारतीय सस्कृति और जीवन दशन के प्रचार प्रसार मे अनुकरणीय योगदान दिया। आचाय गोवधन जी विचारक चिन्तक और लेखक एव उच्चकोटि के सम्पादक भी थे। उन्होंने फ्रैंच दाशनिक रूसो के विख्यात ग्रथ एमिल का माँ और बच्चे नाम से हिन्दी मे अनुवाद किया था गुरुकुल कागडी के मुख्याध्यापक के रूप मे उन्होने हिन्दी मे भौतिकी तथा रसायन की पुस्तको की इस शताब्दी के प्रथम दशक मे रचना की यह पुस्तक कई वर्षों तक इन विषयो पर मुख्य पुस्तकें मानी जाती रही। उन्होने 1915 मे दिल्ली मे हिन्दी साप्ताहिक पत्रिका प्रहलाद के सम्पादक का उपक्रम भी किया जो अर्थाभाव के कारण दीघ जीवन हो पाया। उन्होने सस्कृत भाषा प्रचार के लिए और महर्षि दयानन्द के मिशन के लिए जीवन पयन्त काय किया। उनकी स्मृति मे हा उनके द्वारा स्थापित सनक विद्या सभा के अन्तगत वदिक साहित्य और आय मूल्यो के प्रचार का काय गोवधन ज्योति माला के रूप मे किया जा रहा है।

आपकी स्मृति मे सनक विद्या सभा ट्रस्ट ने कई महान विभूतियो को गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय के माध्यम से गोवधन पुरस्कार भी प्रदान किये हैं। पुरस्कार प्राप्त करने वालो मे आचाय राम प्रसाद वेदालकार (1981) डा० भवानी लाल भारतीय 1982) पडित विश्वनाथ (1983) विद्या मातण्ड पडित सत्यकाम (1984) वेद मातण्ड पडित भगवद् दत्त (1985) वेद मातण्ड आचाय प्रियव्रत और शतायु लाला सतराम बी ए (1986) के नाम उल्लेखनीय हैं। 1987 मे सनक विद्या सभा ने डा० सत्यव्रत सिद्धान्तालकार आचाय दत्तात्रय वाब्ले तथा लाला चेतनदास (मरणोपरान्त) को सम्मानित किया है।

आचाय गोवधन जी के दोनी पुत्र श्री—बलभद्र कुमार हूजा व श्री भूपेन्द्र हूजा भारत सरकार के उच्चतम प्रशासनिक अधिकारी रहे हैं। वास्तव मे वे योग्य पिता की योग्य सतानें हैं।

पाठको से निवेदन :—

सदस्यता शुल्क शीघ्र भेज —

आपकी सेवा मे विगत कइ माह से आय पुनगठन नियमित रूप से प्रषित किया जा रहा है। इस सदभ मे आपसे विनम्र निवेदन है कि पत्र का वार्षिक शुल्क मात्र 15/- M O द्वारा भेजने का कष्ट कर जिससे हम आर्थिक समस्या से मुक्त हो पत्र का नियमित प्रकाशन करते रह सक।

सहयोग की कामना मे।

—व्यवस्थापक

आचार्य श्री गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार

शीर्षस्थ शिक्षाशास्त्री

आचार्य श्री दत्तात्रेय वाब्ले

के कर-कमलों में सादर समर्पित

अभिनन्दन-पत्रम्

श्रद्धेय आचार्य जी !

दयानन्द कालेज अजमेर के प्रधानाचार्य के रूप मे आपकी ख्याति राजस्थान की सीमाओ को पार कर सम्पूर्ण देश मे पहुँची है। 5 सकायो, 12 स्नातकोत्तर विभागो, वाणिज्य, विज्ञान तथा कृषि मे स्नातक विभागो की स्थापना कर अपने प्राचार्य-काल मे इस महाविद्यालय की जो सर्वांगीण उन्नति आपने की, वह हर शिक्षा-शास्त्री के लिए स्पृहा की वस्तु है। आप कुशल प्रशासक, निष्ठावान प्राध्यापक तथा बहुआयामी शिक्षा के पारगत मर्मज्ञ रहे हैं। इसके अतिरिक्त अनाथ, निर्धन और निराश्रित बालक-बालिकाओ के पालन पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा के लिए भी दयानन्द बाल सदन जैसी आदर्श शिक्षण-सस्था का आप पिछले 32 वर्षों से सफलतापूर्वक सचालन कर रहे हैं। आपके अथक परिश्रम और सूझ बूझ के कारण ही यह सस्था आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बनी और बड़े उत्साह के साथ भी समानता के आधार पर बच्चो को शिक्षा प्रदान करने का कार्य कर रही है। आपका ही प्रताप है कि इस सदन से एक सौ पच्चीस अनाथ बालक-बालिकाओ के नि शुल्क रहन-सहन और शिक्षा पर यह सस्था प्रतिवर्ष एक लाख रुपये के लगभग व्यय करती है।

मान्यवर !

आपकी शिक्षा बनारस, इलाहाबाद तथा लखनऊ विश्वविद्यालय मे हुई। इतिहास तथा राजनीतिशास्त्र मे स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त करने के बाद आपने कानून की परीक्षा उत्तीर्ण की। मेयो तथा डी0 ए0 वी0 कालेज मे शिक्षण का कार्य किया तथा 'राष्ट्रीय चरित्र और एकता' 'सेवा और सघर्ष', 'आर्यसमाज हिन्दूधर्म का सम्प्रदाय नहीं', 'माडर्न इण्डिया एण्ड हिन्दूइज्म' तथा 'देश, धर्म और समाज को आर्यसमाज की देन', जैसी चर्चित पुस्तक लिखी। सत्यार्थप्रकाश ग्रन्थमाला, धर्मशिक्षा तथा आर्यसस्था परिचय निदेशिका जैसी पुस्तको का सम्पादन किया। 1935 से 1986 तक आपने 'अजय', 'विजय', 'अनाथरक्षक' तथा 'आय पुनर्गठन' जैसी पत्रिकाओ का सम्पादन भी किया। आर्यसमाज और उसके सिद्धान्तो के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र मे की गई आपकी सेवाएं अविस्मरणीय रहेगी। वैदिक साहित्य और आर्यसमाज के अवदान पर गम्भीर शोधकार्य के लिए डी ए वी कालेज मे 'दयानन्द शोधपीठ' की स्थापना आपके शिवसकल्प का ही सुफल कहा जा सकता है।

कुशल शिक्षाशास्त्री !

1956 मे शिक्षा, समाजसेवा तथा नागरिक प्रशासन आदि मे आपकी विशेष योग्यता तथा अनुभव से प्रभावित होकर अमेरिका तथा इगलैंड मे आपको विशेषरूप मे आमन्त्रित किया गया। वहाँ आपके भाषणो से भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वान विशेष प्रभावित हुए। महर्षि दयानन्द का सदेश विश्व के विचारको ने सुना और लोगो ने जाना कि आधुनिक भारत और हिन्दुत्व क्या है? 'इन्ट्रोडक्शन टू माडर्न इण्डिया एण्ड हिन्दूइज्म' नाम से प्रकाशित आपके भाषण उस विचारधारा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते हैं जो वैदिक ऋषियो ने तपस्या और समाधि के क्षणों मे अनुभव की थी और जिसे ऋषि दयानन्द ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ससार के सम्मुख सर्वप्रथम रखा था। यही कारण है कि दयानन्द कालेज की रजत जयन्ती के अवसर पर आपको उपराष्ट्रपति श्री गोपालस्वरूप जी पाठक द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंटकर देश के शिक्षा-शास्त्रियो ने आपकी सामाजिक सेवाओ के प्रति सार्वजनिक रूप से आदर व्यक्त किया।

आपकी आर्यसमाज के प्रति की गई असाधारण सेवाओ के लिए हम आपके आभारी हैं। अत गुरुकुल कांगड़ी के प्रारम्भिक आचार्यों मे अग्रणी, विज्ञान पर उत्कृष्ट हिन्दीग्रन्थप्रणेता तथा सस्कृतसस्कृतिनिष्ठ विद्वान स्व० श्री गोवर्धन शास्त्री की स्मृति मे **सघड विद्या सभा ट्रस्ट, जयपुर** द्वारा स्थापित **गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार** से आपको सम्मानित करते हुए हम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

आप शतायु हो, इस शुभकामना के साथ हमारी श्रद्धा का प्रतीक यह अभिनन्दन-पत्र आपके कर-कमलो मे सादर समर्पित है।

रामचन्द्र शर्मा
कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वा ले जी ने सांस्कृतिक आदान प्रदान कार्यक्रम के अमेरिकन सरकार के निमन्त्रण पर अपनी अमेरिका यात्रा तथा ब्रिटिश काउंसिल के निमन्त्रण पर इंगलैण्ड और यूरोप की सन 1956 में यात्रा की तथा दूसरी बार जापान आदि से होकर विश्व यात्रा करके वे सन 1983 मे लौटे।

उनकी अमेरिका की यात्रा अत्यंत व्यस्त रही और उस विशाल देश के प्राय सब राज्यो मे उन्हे जाने का अवसर मिला। वहा विश्वविद्यालयों रोटरी क्लबो नगर परिषदो और अनेक धार्मिक व सामाजिक संगठनो और प्रमुख व्यक्तियो से उनकी भेंट की व्यवस्था की गई। सैन फ्रांसिसको के तत्कालीन मेयर सुप्रसिद्ध जार्ज क्रिस्टफर ने उन्हे परम्परागत नगर की बडी कुंजी भेंट करके उनका नागरिक अभिनन्दन किया। इसी प्रकार से इंगलैण्ड मे पार्लियामेण्ट के दोनो सदनों प्रमुख विश्वविद्यालयो पब्लिक स्कूलो के अतिरिक्त उन्हे वहा तथा यूरोप के प्रमुख देशो के दर्शनीय स्थान देखने का अवसर मिला। इन सबका रोचक वर्णन उन्होने अपनी अंग्रेजी की पुस्तक दी टू वे ट्रैफिक (The Two Way Traffic) मे किया है। इसी प्रकार इन देशो मे आधुनिक भारत का परिचय देते हुए उन्होने स्वतंत्र भारत की राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो पर जो विचार व्यक्त किये उनको भी अपनी एक अन्य अंग्रेजी पुस्तक An Introduct on to Mcdern India and Hindu sm मे संकलित किया है। इसमे उनकी मुख्य स्थापना यह रही है कि भारतीय पुनर्जागरण का वास्तविक प्रारंभ धार्मिक, सामाजिक सुधार आन्दोलनो से हुआ जिसमे ऋषि दयानन्द और आर्य समाज की प्रमुख भूमिका थी। इसी नींव पर गान्धीजी ने राजनैतिक स्वाधीनता के भवन के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया जिसे पूरा करने का श्रेय सरदार पटेल और जवाहर नेहरू को है।

इसी पुस्तक मे वर्तमान विकृत हिन्दू धर्म के सम्बन्ध मे विदेशो मे प्रचलित भ्रान्तियो का निराकरण करने के लिए उन्होने उसके तर्क सम्मत और सीधे मार्ग उस वैदिक स्वरूप को उजागर करने का प्रयत्न किया जिसका आर्य समाज आधुनिक संस्करण है। इन दोनो पुस्तको की अनेक प्रतियां विदेश जाने वाले छात्रो को भेंट करने के लिये क्रय की जाती

गुरुकुल कांगड़ी विश्व विद्यालय द्वारा [illegible] शास्त्री पुरस्कार से पुरस्कृत

आचार्य दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित साहित्य के विचार बिन्दु

विदेश यात्रा के संस्मरण

संकलनकर्ता – वीरेन्द्र कुमार आर्य

रही है। अत अब दोनों पुस्तकें अप्राप्त हैं।

इन पुस्तको में उनके संस्मरणो और अनुभवों पर आधारित कुछ अन्य बिन्दु निम्न प्रकार हैं।

भारत के समान अमेरिका भी अनेक धर्मों जातियो तथा राष्ट्रीय प्रवासियो का देश है किन्तु वहा का आर्थिक और सामाजिक खुशहाली तथा लम्बी स्वाधीनता की परम्परा के कारण अमेरिका निवासियो के राष्ट्रीय चरित्र की कुछ विशेषताएं है। अनेक रंग व नस्लो के व्यक्तियो के साथ रहन के कारण उनमे नीग्रो जिन्हें अब काले कहा जाता है उन्हे छोडकर) रंग या नस्ल के विरुद्ध विशेष पक्षपात नही है। अंग्रेजो के विपरीत अमेरिकन अधिक उदार और साथ ही वाचाल भी हैं। भारत के सम्बन्ध मे उच्च शिक्षित वर्गो मे कौतूहल उत्सुकता के साथ एक विशेष सदभावना दृष्टिगोचर होता है किन्तु रशिया और विशेषकर साम्यवाद के विरुद्ध डर और शंका के कारण भारत और विशेषकर स्वर्गीय नहरू जी की गुट निरपेक्ष नीति को वे हितकर और अनुकूल नही समझते। जैसा वालेजी ने अमेरिका यात्रा संबंधी अपनी अंग्रेजी की पुस्तक he Two Way Trafic मे लिखा है उन्होने अमेरिका मे इस भ्रम को यह कहकर दूर करने का प्रयत्न किया कि अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को अनुचित समर्थन भारतीय विदेश नीति को प्रभावित करता है। भारत को अपने हित मे भी ऐसा करना जरूरी है। व्यक्तिगत जीवन की स्वतन्त्रता के कारण वहा स्त्री पुरुषो के सम्बन्धो आदि मे विकृति और नई पीढी के युवक युवको मे स्वच्छन्दता बढती दिखाई देती है।

यूरोप के कुछ देशो और खास कर इंग्लैण्ड मे साम्राज्यवाद की परम्पराओ का प्रभाव समाप्त नही हुआ है यह इनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन से स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि अंग्रेजी भाषा से अनेक यूरोपीय देशो में काम चल जाता है किन्तु फ्रांस जर्मनी, इटली ग्रीस और हालैण्ड से वे अपनी अपनी भाषाओ को ही महत्व देते हैं और सरकारी काम काज में इन्ही का उपयोग होता है। प्रथम दो युद्धो के कारण इन देशो के रहन-सहन तथा दृष्टिकोणों मे भी पर्याप्त अन्तर दिखाई देता है। उनके धार्मिक और राजनैतिक जीवन मे भी इसका प्रभाव है।

पूर्व मे जापान के निवासियो की अनुशासन प्रियता देशभक्ति और अमेरिका और यूरोप से अधिक और औद्योगिक क्षेत्र तक मे सफल प्रतिस्पर्धा भारत जैसे देश के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण है। जापान मे उद्योग धंधो तक के क्षेत्र मे हड़ताल नही होती। यदि उन्हे विरोध करना भी हो तो वे अपने कार्यकाल के पूर्व या बाद मे करते है यह उनकी अनुशासन प्रियता व देशभक्ति का प्रमाण है। हांगकांग जैसा छोटा देश भी कई दृष्टियो से सम्पन्न अनुशासित और साफ सुथरा प्रतीत होता है

प्रवासी भारतीय

अमेरिका तथा यूरोप मे प्राय सर्वत्र भारतीय मूल के लोग रहते हैं किन्तु इंग्लैण्ड मे उन्हें अब भी अंग्रेजी राज्य की अधीनता का स्मरण कराया जाता है और उनके प्रति आदर तो दूर समानता का भी अभाव है भारतीय पर्यटको तक को इसका कटु अनुभव होता है। दूसरी ओर अमेरिका में बसे भारतीय प्राय सब उच्च शिक्षित और सम्पन्न हैं। उनके प्रति वहां समानता और यहां तक कि आदर पूर्ण व्यवहार का यह भी एक कारण है। दुर्भाग्य से स्वयं भारतीय अपने देश की धार्मिक और विशेषकर प्रान्तीय तथा भाषायी विभिन्नताओं [illegible] करते हैं परिणाम स्वरूप वे [illegible] राष्ट्रीय एकता तथा विशिष्टता [illegible] प्रस्तुत नहीं कर पाते।

वाले जी वहां अपनी [illegible] और व्याख्यानो में अमेरिका [illegible] भारतीयों को अपने देश की विभिन्नताओ के स्थान पर एकता को प्रदर्शित करने की सलाह देते हैं। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के साथ केवल हिन्दी अपनाकर तथा आपस में [illegible] प्रान्तीय विवाहों द्वारा एक महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता है। इन देशों मे अनेक देवी-देवता आदि हिन्दू [illegible] नकली योगियों स्वामियो तथा [illegible] के माध्यम से धार्मिक मतभेदों के अतिरिक्त अनेक दकियानूसी अन्ध विश्वासो रीति रिवाजो का प्रदर्शन हमारे देश के गौरव और प्रतिष्ठा को कम करता है। इन देशो के कुछ मुख्य नगरों में आर्यसमाज भी है किन्तु उनमें मुख्यत भारतीय मूल के ही लोग भाग लेते हैं वहाँ के निवासियो का आर्य समाज जैसे क्रान्तिकारी आन्दोलन की बहुत कम जानकारी है।

वालेजी ने व्यक्तिगत चरित्र के स्थान मे एक विशिष्ठ भारतीय राष्ट्रीय चरित्र के संबंध में जो विचार व्यक्त किये हैं और उनका व्यावहारिक विवरण अपने द्वारा रचित आचार-संहिता मे दिया है वह उनकी विदेश यात्राओं तथा वहा के इन सब अनुभवो पर ही आधारित है।

मेरठ के दंगों से नकाब उठ रही है–

दंगे पूर्व नियोजित थे : मुस्लिम युवको ने आती जाती महिलाओं पर जलती आतिश बाजीयाँ फेंकी मोहल्ले के विद्युत कनेक्शन काटे : प्रमुख दंगाई मोहम्मद यामीन शिकायतों के बावजूद खुला घूम रहा है दैनिक विश्व मानव के मेरठ प्रतिनिधि की विशेष रिपोर्ट—

मेरठ 21 अप्रैल। जैसे जैसे दंगे की आग ठंडी पडती जा रही है, वैसे ही इसकी पीठ थपथपाने वालो और इसे हवा देने वालो के चेहरों से नकाब उठती जा रही है इनमे ऐसे चेहरे भी शामिल हैं, जिन्होंने कांग्रेस का और राष्ट्रीयता का जामा पहन रखा है मगर उन्होने साम्प्रदायिकता फैलाने और अधिकारियो को गुमराह करने के अपने प्रयासो मे कोई कमी नही छोडी है।

रविवार की रात को ऐसे ही तत्वो ने सर्किट हाउस मे जिस प्रकार मुख्यमन्त्री वीर बहादुर सिंह को घेर कर उन्हें गलत तरीकों से गुमराह करने का प्रयास किया, उसमें उनके असली रूप सामने आ गये हैं। युवा कांग्रेस का लबादा पहने साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के इन युवको का कहना था कि मेरठ का दंगा पुलिस के किसी शराबी इन्सपैक्टर की देन है जब कि दूसरे सम्प्रदाय के लोगो ने इस कहानी को मन गढन्त बताते हुए स्पष्ट किया था कि शबे बरात की आतिश बाजी के बहाने एक नियोजित तरीको से यह दंगा शुरु कराया गया था। एक ही समय मे विभिन्न स्थानो पर हुई हिंसक घटनायें इसके प्रमाण हैं।

जिला प्रशासन व पुलिस प्रशासन भी शबे-बारात को होने वाली आतिशबाजी की आपसी प्रतियोगिता को ही दंगे का जन्मदाता करार दे चुका है।

इसके अलावा विभिन्न समाचार पत्रो ने अपनी अलग अलग राय दी है। जब कि दंगे के आवाज की कहानी कुछ और ही है। सच्चाई व वास्तविकता से आंखे चार करने की साहस शायद जिला प्रशासन खो चुका है। यद्यपि प्रशासन की अपनी ढीली पकड का ही दुष्परिणाम है ये शर्मनाक हादसा क्योकि सरकारी तंत्र राजनीति से पूरी तरह प्रभावित है इसीलिए वह निष्पक्ष व स्वतन्त्र निर्णय लेने की स्थिति मे सक्षम नही है। वैसे एक भी कदम उठाने के लिए लखनऊ का मुंह ताकना पडता है।

दरअसल दंगे की शुरुआत का सही घटनास्थल है गुलमर्ग सिनेमा के सामने स्थित मौ० पूर्वा मुफ्तीयान शिव मंदिर वाली गली, शाहपीर गेट जहां हिन्दू लोगों की एक 33 परिवारों की बस्ती बसी है। इस बस्ती के चौराहा है बस्ती को घेरे हुए हजारो मुस्लिम परिवार शबे बारात की रात को वहां एक ओर नगर के मुख्य मार्ग की दो तरफा से नाके बंदी कर पुलिस शबे-बारात की आतिशबाजी कराने मे मशगूल थी वही दूसरी ओर एक रेवती शरण नामक लोधा के यहाँ उसके पुत्र नरेश कुमार की पांचवी वर्षगाठ मनाई जा रही थी जिस कारण आपके घर पर अतिथियों का आना-जाना लगा था।

प्रमुख मार्ग पर आतिशबाजी जारी थी। आबकारी चौपले से लेकर लिसाडी गेट चौपले तक नाके बन्दी कर दी गई थी ट्रैफिक बंद कर दिया गया था परन्तु इक्के दुक्के लोगो को पुलिस आने जाने दे रही थी। आतिशबाजी चला रहे मुस्लिम युवको और बच्चो द्वारा आने-जाने वालो पर भी पटाखे व फूलझडियाँ फेंकी जा रही थी।

ड्यूटी पर तैनात पुलिसकर्मियो पर मात्र डंडो के अलावा आग्नेयास्त्र नही था। वे मूक दर्शक बने देख रहे थे।

प्रत्यक्षदर्शियो का कहना है कि आतिशबाजी करने वालो के एक झुण्ड ने एकाएक मौहल्ला मुफ्तीयान की शिवमन्दिर वाली गली पर मोर्चा जमा लिया और वर्षगांठ मना रहे परिवार की आती जाती महिला मेहमानो पर जलती हुई आतिशबाजी फेंकी जाने लगी। अनेक महिलाओ पर फेंकी गई आतिशबाजी से कपडे जले। इस झुण्ड ने उनका पीछा घरो में घुस जाने तक नही छोडा। उन परिवारो के पुरुषों द्वारा ऐतराज करने पर इन मुस्लिम युवको ने उनके मोहल्ले के घरो के विद्युत कनेक्शन काट दिये और अल्लाह ओ अकबर, मारा ए-तकबीर और बाबरी मस्जिद ले के रहेंगे आदि नारो के साथ उनके घरो पर पथराव और जलती आतिश डालनी शुरु कर दी। लाईट गुल हो जाने से एकाएक हमला हो जाने से लोगो को अपनी जान बचानी भारी पड गई। किसी तरह महिलाओं को छतो पर से कुदाकर सुरक्षित स्थानो पर पहुंचाया गया हमले से घिरे लोगो ने सोचा कि शायद पुलिस हमारी मदद करेगी परन्तु पुलिस कर्मी अपनी जान बचा पहले ही भाग खडे हुए थे।

बस्ती वालों ने बताया कि उपद्रवियों का नेतृत्व मोहम्मद यामीन पुत्र अब्दुल कर रहा था। उसी ने बिजली काटी व गैस का हण्डा हाथ मे लिए हिंदुओ की दुकानें जलाने व जलवाने मे मुख्य भूमिका अदा कर रहा था।

लाखनसिंह की लकडी की टाल को उसकी आँखो के सामने जलाकर राख कर दिया गया।

जब यह सम्वाददाता मो मुफ्तीयान मे पहुंचा तो देवीशरण की आँख पर बंधी दवायुक्त पट्टी ने स्वयं बता दिया कि वह भी दंगे का शिकार हुआ है। संवाददाता के पहुंचने पर मोहल्ले वासी इकट्ठा हो गये जिनमे से कई एक के पट्टियां बंधी थी और उन्होने एक साथ ही सरकार व पुलिस की अकर्मण्यता का बखान शुरू कर दिया। उनका आरोप था कि प्रमुख दंगाई मौहम्मद यामीन शिकायतो के बावजूद भी खुला घूम रहा है। जबकि दंगे की चिंगारी डालने वाला मोहम्मद यामीन ही है। और अभी तक भी किसी सरकारी व गैर सरकारी लोगो ने आकर उनके हाल चाल नही पूछे हैं। वह सभी तरह की खाद्य सामग्री के लिए परेशान हैं। दहशत भरे चेहरे लिए दंगे के शिकार लोगो ने नगर मे बसे अन्य लाखो हिन्दुओ के प्रति भी दुःख व रोष प्रकट किया।

पुष्ट सूत्रो से यह भी पता चला चला है कि यह दंगा पूर्व नियोजित इसलिए भी लगता है कि महानगर पालिका मे कार्यरत लगभग 60 मुस्लिम भिश्तियो ने दस-दस दिन का अग्रिम अवकाश लिया था। इसी तरह सरकारी व गैर सरकारी कार्यालयो व कारखानो मे लगे लोगों ने भी दस-दस दिन की छुट्टियां ले ली थी। प्रशासन यदि सच्चाई व वास्तविकताओ तक पहुंचना चाहता है तो वह इस सम्पूर्ण प्रकरण की विजलैंस से जाँच कराकर सही निष्कर्ष पर पहुंच सकता है।

इसके अलावा कल सायं छावनी क्षेत्र के इका विधायक अजीत सिंह सेठी ने अपने निवास पर कुछ जन प्रतिनिधियों और प्रमुख कांग्रेस जनो की एक बैठक बुलाई थी।

उसमे भी श्री कैलाश चन्द्र गौतम एडवोकेट प्रकाश चन्द्र गौतम एडवोकेट, महेन्द्र कुमार शर्मा और पत्रकार सतीश शर्मा ने अपने विचार व्यक्त करते हुए यही निष्कर्ष निकाला कि दंगा पूर्व नियोजित था।

बैठक मे इस बात पर भी चर्चा हुई है कि स्थानीय अधिकारियो को मेरठ की भौगोलिक स्थिति का पूरा ज्ञान न होने के कारण उन्होने सही तरीकों से कर्फ्यू नही लगाया। जिन क्षेत्रो मे जली कोठी, अहमद रोड बली बाजार और खैर नगर मे हिंसक घटनाए हुई उन्हे कर्फ्यू रहित रखा गया और जहा आज तक कभी किसी दंगे मे कोई वारदात नही हुई वहां लगातार पाँच दिनो तक कर्फ्यू लगाकर लोगो का जीना दूभर कर दिया गया।

इस बात की जरूरत महसूस की गई कि साफ दिलो दिमाग के प्रमुख हिन्दू मुसलमानो को इकट्ठा करके उनसे एकता और शांति स्थापित करने और भाईचारा मजबूत बनाने का सहयोग लिया जाये ताकि मेरठ मे स्थिति पूरी तरह सामान्य हो सके।

***

(विश्व मानव से साभार)

राजस्थार [illegible]
[illegible]
[illegible]

30 अप्रैल, 87 | पुनर्गठन, पाक्षिक [illegible] | डाक पं. सं. RJ/AJ-169

अजमेर में दयानन्द विश्वविद्यालय क्यों ?

—प्रो [illegible]

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि राजस्थान राज्य सरकार ने अजमेर नगर में विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय लिया है। इस निर्णय को मूर्त रूप देने के लिये प्रारम्भिक तैयारियां भी शुरु कर दी गई हैं। प्रदेश के मुख्यमन्त्री माननीय श्री हरिदेव जोशी के प्रशस्य प्रयत्न से आगामी सत्र से ही विश्वविद्यालय अपना कार्य आरम्भ कर देगा, माननीय मुख्यमन्त्री का शिक्षा क्षेत्र में यह योगदान उनके कार्यकाल के स्वर्णिम अध्याय के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा।

उल्लेखनीय है कि 1962 से ही देश के प्रमुख नेताओं, मन्त्रियों तथा सार्वभौम आर्य समाज [illegible] परिषद द्वारा यह प्रयत्न किया जा रहा है कि अजमेर में दयानन्द विश्वविद्यालय स्थापित किया जावे। उस दिशा में पूर्व प्रधान मन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने दिल्ली में उद्घोषणा भी की थी कि अजमेर में दयानन्द विश्व विद्यालय की स्थापना में सरकार पूरा सहयोग करेगी। यह घोषणा 16 मार्च 1965 को जयपुर रेडियो द्वारा प्रसारित की गई थी। महापुरुषों के नामों पर विश्वविद्यालयों के नामकरण की प्रशस्य परम्परा के अनुसार अजमेर विश्वविद्यालय का नाम दयानन्द विश्वविद्यालय रखना कई दृष्टियों से तर्कसंगत है। यही कारण है कि सन 1962 से ही अजमेर में दयानन्द विश्वविद्यालय हेतु तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री हरी भाऊ उपाध्याय राजस्थान विधान-सभाध्यक्ष राम निवास मिर्धा, सांसद श्री प्रकाशवीर शास्त्री तथा भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन ने अभियान चलाकर पूर्ण समर्थन प्रदान किया था। देश के प्रमुख समाचार पत्रों में भी [illegible] अग्रलेख प्रकाशित किये गये थे।

अजमेर के विश्वविद्यालय का स्वरूप कार्यक्षेत्र तथा कार्य विधियां सुनिश्चित हो चुकी हैं अतः अब केवल विश्वविद्यालय का नाम युगप्रवर्तक महर्षि दयानन्द के नाम पर रखने की आवश्यकता शेष रह जाती है इसके आधार पर्याप्त सुस्पष्ट और तर्क संगत है। महर्षि दयानन्द ने राजस्थान को ही अपना प्रमुख कार्य क्षेत्र बनाया था यहीं वैदिक धर्म का प्रचार करते हुये तथा राष्ट्रीय चेतना का मन्त्र फूकते हुये उन्होंने अपने अमूल्य साहित्य का सृजन किया था। उदयपुर, जोधपुर, मसूदा, पुष्कर तथा जयपुर आदि क्षेत्रों में स्वामीजी ने अपना अमूल्य समय, कुरीतियों को दूर करने अछूतोद्धार करने, विदेशी शासन के विरुद्ध रचनाओं से राष्ट्रीय भावना जगाने, शिक्षा का प्रचार प्रसार करने तथा वैदिक धर्म का उद्धार करने में व्यतीत किया था। अन्त में अजमेर आकर उन्होंने अपनी जीवन लीला समाप्त कर निर्वाण प्राप्त किया जिससे इस नगर का जहां ऐतिहासिक महत्व बढ़ा है वहां यह आर्यों (हिन्दुओं) का एक तीर्थ स्थल भी बन गया है। आज अजमेर शिक्षा के क्षेत्र में [illegible] के मन्तव्यों के [illegible] देने वाली डी ए वी संस्थाओं का यहां बाहुल्य है तथा देश का सबसे पुराना डी ए वी कॉलेज भी देशव्यापी लोकप्रियता अर्जित कर चुका है। महर्षि द्वारा संस्थापित डी ए वी संस्थाओं, गुरुकुलों शिक्षण केन्द्रों आदि की संख्या लगभग तीन हजार है जो देश विदेश में अत्यन्त सफलतापूर्वक शिक्षा प्रदान कर रहे हैं। स्व डा राजेन्द्र प्रसाद (पू राष्ट्रपति) श्री प जवाहर लाल नेहरु (पू प्रधान मन्त्री) राष्ट्रपिता महात्मा गांधी आदि राष्ट्र के कर्णधारों ने आर्यसमाज को राष्ट्रीय व सैनिक आन्दोलन को स्वातन्त्र्य आन्दोलन का मूल प्रेरणा-स्रोत स्वीकार किया है। स्वामी दयानन्द ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी शासन की कड़े शब्दों में भर्त्सना की थी। लाला लाजपतराय श्री श्यामकृष्ण वर्मा स्वामी श्रद्धानन्द आदि ऐसे ही बलिदानी राष्ट्र पुत्र थे जिन्होंने महर्षि को अपना धर्मपिता तथा आर्य समाज को धर्म माता स्वीकार किया था।

इन सब सबल बिन्दुओं के आधार पर अजमेर विश्वविद्यालय का नाम "दयानन्द विश्वविद्यालय" रखने की वास्तविकता से कोई इन्कार नहीं कर सकता है। चूंकि अब नव नाम करण करना है अतः नेहरु विश्वविद्यालय नानक विश्वविद्यालय सुखाड़िया विश्वविद्यालय की भांति ही अजमेर के विश्वविद्यालय का नाम 'दयानन्द विश्वविद्यालय' रखने की जन भावनाओं का आदर करते हुये उसे स्वीकार करने की महती अपेक्षा है। ऐसा करने से हम देश व धर्मोद्धारक महर्षि दयानन्द के प्रति सच्चा सम्मान प्रदर्शित कर सकेंगे।

वेद वेदांग पुरस्कार 1987 के लिए

पण्डित विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड का नाम घोषित

आर्य समाज सान्ताक्रुज बम्बई द्वारा निर्धारित वेद वेदांग पुरस्कार चयन समिति ने वर्ष 987 के लिए आर्य जगत के प्रख्यात विद्वान पण्डित विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड का चयन किया है। 98 वर्षीय प विश्वनाथ जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक वाङ्मय के प्रचार प्रसार में समर्पित किया है और आज भी अथर्ववेद का भाष्य पूर्ण करने में संलग्न हैं।

इस पुरस्कार के लिए चुने गये विद्वान को 21000/- की थैली, रजत ट्राफी, अभिनन्दन पत्र एवं शाल भेंट कर सम्मानित किया जाएगा।

इस वर्ष आर्य समाज सान्ताक्रुज ने एक और नवीन पुरस्कार की घोषणा की है। जिसके अन्तर्गत वेद वेदांगों के विद्वान एवं अनुसंधान कर्ताओं के अतिरिक्त जिन विद्वानों ने उपदेशक, भजनोपदेशक एवं कार्यकर्ता के रूप में जीवन पर्यन्त आर्य समाज की सेवा की है, ऐसे एक विद्वान को प्रतिवर्ष 11000/- की थैली रजत ट्राफी, अभिनन्दन पत्र एवं शाल से सम्मानित किया जाएगा।

इस द्वितीय पुरस्कार के लिए सर्वप्रथम आर्य जगत के सुप्रसिद्ध सन्यासी, शास्त्रार्थ महारथी पूजनीय अमर स्वामी जी महाराज का चयन किया गया है।

इस रूप से आर्य समाज सान्ताक्रुज ने [illegible] विद्वानों के सम्मान का शुभारम्भ किया है। यह समारोह मई मास के अंतिम सप्ताह में आयोजित किया जाएगा।

— कैप्टन देवरत्न आर्य
महामन्त्री

आचार्य जी का भव्य स्वागत

अजमेर, 24 अप्रैल गोयन्का पुरस्कार प्राप्त कर दिल्ली से अजमेर लौटने पर, आर्य समाज, अजमेर के मन्त्री श्री रासासिंह के नेतृत्व में आर्य समाजों के अधिकारियों व कार्यकर्ताओं तथा शिक्षण संस्थाओं के अध्यापकों व कर्मचारियों द्वारा अजमेर के रेलवे स्टेशन पर फूल मालाओं द्वारा भव्य स्वागत किया गया।

स्वत्वाधिकार आर्य समाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एवं संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला, कैसरगंज अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 162

सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य
समाज की वर्तमान एव भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष 3 शुक्रवार 15 मई 1987
अंक 6 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् आमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

ज्येष्ठ कृ० 2 सवत 2044
वार्षिक मू 15/ एक प्रति 60 पैसे

आचार्य वाल्ले का नागरिक अभिनन्दन

अजमेर, 3 मई । आर्य समाज अजमेर के तत्वावधान मे दयानन्द कॉलेज के पूर्व आचार्य दत्तात्रेय वाल्ले का अभिनन्दन समारोह राजस्थान विधान सभा के उपाध्यक्ष किशन मोटवानी की अध्यक्षता तथा कप्तान दुर्गाप्रसाद चौधरी (स नवज्योति) के मुख्य आतिथ्य में सम्पन्न हुआ ।

श्री मोटवानी ने श्री वाल्ले की शिक्षा साहित्य और आर्य समाज के प्रति की गई सेवाओ तथा गौवर्धन शास्त्री पुरस्कार से सम्मानित होने के कारण उन्हे अजमेर का गौरव बताया ।

श्री मोटवानी जी ने कहा कि श्री वाल्ले के चरित्र से हमे प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए । आपने श्री वाल्ले के दीर्घायु होने की कामना की तथा उन्हें

समारोह को सम्बोधित करते हुए विधान सभा उपाध्यक्ष किशन मोटवानी तथा मच पर बैठे हुए हैं आचार्य वाल्ले एव कप्तान दुर्गा प्रसाद चौधरी ।

प्राचार्य दिनेशसिंह दयानन्द कालेज अजमेर ठा प्रेमसिंह पू आयुक्त, देवस्थान कृष्णराव वाल्ले मत्री आर्य समाज शिक्षा सभा, जे एस मेहता पूर्व प्रधान आर्य समाज उदयपुर चितरजन वर्मा अंतरंग सभासद, परोपकारिणी सभा आदि

प्रमुख नागरिको विभिन्न सगठनों एव शिक्षण सस्थाओ के प्रतिनिधियो ने माल्यार्पण कर श्री वाल्ले का स्वागत किया ।

मुख्य अतिथि पद से बोलते हुये कप्तान दुर्गाप्रसाद चौधरी ने कहा कि

समारोह में उपस्थित जन समूह

आश्वासन दिया कि अजमेर मे खुलने वाले विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय होने की उसकी इच्छा को पूर्ण करवाने का वे पूर्ण प्रयास करेंगे ।

जिला प्रमुख श्री हनुवन्तसिंह जी रावत ने कहा कि श्री वाल्ले के चरित्र के तीन विशेष गुण हैं—त्याग निष्ठा और सेवा जिनके बल से वे महापुरुषों की श्रेणी में आ पहुचे । श्री पन्नालाल जी माहेश्वरी ने आपके व्यक्तित्व की प्रशसा करते हुए प्रभु से प्रार्थना की वह आपको लम्बी उम्र प्रदान करे ताकि आपका मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद समाज को दीर्घकाल तक मिलता रहे । आपने श्री वाल्ले को अजमेर मे खुलने वाले विश्वविद्यालय के लिए बधाई देते हुए कहा कि इस विश्वविद्यालय का खुलना आपके प्रयासों के फलस्वरूप ही सम्भव हो सका है ।

श्री माणकचन्द सोमानी अध्यक्ष शहर जिला कांग्रेस (इ) अजमेर ने श्री वाल्ले के जीवन को प्रेरणास्रोत एव अनुकरणीय बताया एव प्रभु से उनके दीर्घायु की होने कामना की ।

इस अवसर पर सर्व श्री ओंकार सिंह लखावत एडवोकेट (अध्यक्ष भाजपा अजमेर देहात) भू पू अध्यक्ष नगर परिषद अजमेर, श्री बालाबक्स लाखरा (उद्योगपति) ब्रह्मानन्द त्रिपाठी प्रो एम के यादव भू पू प्राचार्य राजकीय महाविद्यालय अजमेर ओ पी यादव भू पू निदेशक कालेज शिक्षा (राज) रतनलाल यादव अध्यक्ष भाजपा, अजमेर भवरलाल शर्मा दत्तात्रेय वाल्ले ने स्वाधीनता सग्राम की लडाई मे भाग लिया । साथ ही आर्य समाज के द्वारा भी उन्होंने इस नगर की काफी सेवा की । कप्तान साहब ने श्री वाल्ले द्वारा विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रखने का समर्थन करते हुए कहाकि यह उन महापुरुष के प्रति सच्ची श्रद्धा होगी ।

अत मे प्राचार्य वाल्ले ने सभी महानुभावो के प्रति आभार व्यक्त

(शेष पृष्ठ दो पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक : रासासिंह सपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन कार्या 21010

अजमेर के विश्वविद्यालय का नाम दयानंद विश्वविद्यालय हो

—श्री रासासिंह एम ए, बी एड, एल एल बी

अत्यन्त हर्ष का विषय है कि राजस्थान सरकार ने निकट भविष्य मे अजमेर मे विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया है। 'देर आयद, दुरुस्त आयद' यह निर्णय सर्वथा उचित एव सामायिक है।

अजमेर मे स्थापित होने वाले इस विश्वविद्यालय का नाम दयानद विश्वविद्यालय होना चाहिए क्योकि देश मे कई विश्वविद्यालय राजनेताओं अथवा समाज सुधारको या सत महात्माओं एव ऐतिहासिक पुरुषो के नाम पर हैं। यद्यपि हरियाणा सरकार द्वारा वर्षों पूर्व रोहतक में स्थापित विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानद विश्वविद्यालय रखा गया है परन्तु वह तो एक क्रिया की केवल प्रतिक्रिया मात्र ही थी क्योकि पजाब मे गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय की स्थापना की गई थी। अत हरियाणा में भी एक विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानद विश्वविद्यालय कर दिया। देश मे कई विश्वविद्यालयो के नाम, एक ही महापुरुष के नाम पर हैं। ठीक इसी प्रकार इस विश्वविद्यालय का नाम भी दयानद विश्वविद्यालय रखा जाना चाहिए।

इस नामकरण के कारण —

स्वाधीनता के सूत्रधार

यह एक सुविदित-ऐतिहासिक तथ्य है कि महर्षि दयानद सरस्वती स्वराज्य, स्वधर्म, स्वसस्कृति, स्वभाषा के प्रथम सूत्रधार एव उन्नायक थे। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में उन्होने स्पष्ट शब्दो मे यह प्रतिपादित किया है कि विदेशी राज्य कितना ही हितकारी क्यो न हो स्वराज्य से ज्यादा हितकारी नही होता। सुराज्य से स्वराज्य ही कही अधिक बढकर है।

कई ऐसे ऐतिहासिक तथ्य गत वर्षों में प्रकट हुए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि महर्षि दयानद सरस्वती का 1857 के स्वाधीनता सग्राम तथा उसके पश्चात प्रज्वलित होने वाली स्वाधीनता की लौ के पीछे हाथ था और तत्कालीन अग्रेजी सरकार द्वारा उन्हे विद्रोही सन्यासी कहा गया था। उन्होने अपने जीवन मे स्थान-स्थान पर वैदिक धर्म का प्रचार करते हुए साम्प्रदायिक, धार्मिक और राष्ट्रीय एकता का प्रयास किया था तथा आपसी फूट को ही उन्होने देश के पतन का मूल कारण स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। उनके उपदेशो ने राष्ट्र के पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया था।

आर्य समाज ने महर्षि दयानद के विचारों से प्रेरित होकर आजादी की लडाई मे महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पट्टाभि सीतारमय्या द्वारा लिखित कांग्रेस के इतिहास मे यह उल्लेख आया है कि एक बार यह सर्वेक्षण किया गया कि आजादी की लडाई मे गिरफ्तार होने वाले व्यक्तियो मे सर्वाधिक किस विचार धारा से प्रेरित हैं? उस सर्वेक्षण मे यह ज्ञात हुआ है कि लगभग 80 प्रतिशत व्यक्ति आर्य समाज और महर्षि दयानद की विचारधारा से प्रेरित होकर स्वाधीनता आन्दोलन मे भाग ले रहे हैं। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, राम-प्रसाद बिस्मिल आदि सुप्रसिद्ध नेता एव क्रान्तिकारी आर्य समाज की ही देन थे।

प्रसिद्ध समाज सुधारक —

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि महर्षि दयानद सरस्वती सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उन्नीसवीं सदी के पुनर्जागरण एव सुधारात्मक आन्दोलनों मे सर्वाधिक प्रभाव महर्षि के विचारो का ही पडा था। महर्षि दयानद एव उनके द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' ने बाल विवाह निषेध सतीप्रथा उन्मूलन, विधवा विवाह का समर्थन, जाति बन्धनो का विरोध, स्त्री शिक्षा, अन्धविश्वासो एव सामाजिक कुरीतियो का प्रबल विरोध तथा सबसे बढकर दलितो के उत्थान का कार्य किया।

महान शिक्षाविद —

महर्षि दयानन्द सरस्वती स्वय शिक्षाविद भी थे। उन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास मे शिक्षा के बारे मे विस्तार से विवेचन किया है तथा शिक्षा के माध्यम, शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा के उद्देश्य, चरित्र निर्माण, शिक्षा प्रदान करने वालो के गुण, भेदभाव रहित अनिवार्य एव सार्वभौमिक शिक्षा राज्य के कर्त्तव्य आदि के बारे में उन्होने अपना मतव्य स्पष्ट किया है। इसी आधार पर आर्य समाज ने देश-विदेश मे गुरुकुलो, सस्कृत पाठशालाओं, कन्या पाठशालाओं एव डी ए वी स्कूल एव कालेजो का जाल बिछा दिया है जो शिक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं।

स्वाभिमान के जन्मदाता.—

महर्षि दयानद सरस्वती ने ही राष्ट्रवासियों मे स्वाभिमान की भावना उत्पन्न करने के लिए स्पष्ट रूप से यह उद्घोषणा की थी कि भारतीय सस्कृति विश्व की सर्वश्रेष्ठ प्राचीनतम सस्कृति है एव वैदिक धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है तथा उनका मूल उद्गम भी भारतीय ही है, यहां के ऋषि मुनियो से ही समस्त विश्व ने सत्य अहिंसा मानवता एव चरित्र की शिक्षा ग्रहण की है। ऋषि दयानद ने देश का नाम आर्यावर्त, निवासियों का नाम आर्य तथा भाषा आर्य भाषा के नाम की याद दिलाकर एकत्व का मत्र प्रदान किया था।

राष्ट्रभाषा के प्रबल पक्षधर

महर्षि दयानद की मातृभाषा गुजराती होने पर एव स्वय सस्कृत के प्रकाण्ड पडित होते हुए भी ब्रह्म समाज के नेता केशवचन्द्र के सुझाव पर उन्होंने सस्कृत के स्थान पर जन साधारण के हितार्थ आर्य भाषा हिन्दी का प्रयोग शुरू किया तथा अपने समस्त ग्रन्थ आर्य भाषा हिन्दी मे लिखे। अपने उपदेशो मे भी सर्वत्र आर्य भाषा 'हिन्दी का ही प्रयोग किया तथा उस जमाने में हिन्दी के प्रयोग को बढाने के लिए हजारों व्यक्तियों के हस्ताक्षर कराकर अग्रेजी सरकार को ज्ञापन भी दिया था आर्य समाज के उपनियमों मे प्रत्येक आर्य समाज के सदस्य के लिए हिन्दी और सस्कृत जानना अनिवार्य कर दिया।

ऋषि दयानद और राजस्थान

महर्षि दयानद जब कार्य क्षेत्र में उतरे तो पूरे देश में भ्रमण करते हुए एव अपने उपदेशो का प्रचार-प्रसार करते हुए राजस्थान मे भी कई बार आये तथा उन्होंने अपना अधिकाश समय राजस्थान की रियासतों मे बिताया। उदयपुर के नौलखा महल में सत्यार्थ प्रकाश को पूर्णता प्रदान की, वहीं परोपकारिणी सभा तथा अपनी वसीयत का पजीकरण भी करवाया। वहां के महाराणा सज्जनसिंहजी को वेद सस्कृति आदि धर्म शास्त्रों का अध्ययन करवाया। जोधपुर के राजा को भी अध्ययन करवाया। वहीं स्वामीजी को विषपान भी कराया गया जो उनकी मृत्यु का कारण बना। जयपुर, शाहपुरा, पाली, मसूदा अजमेर, नया शहर (ब्यावर), सोजत, आबूरोड, आबू पर्वत, पुष्कर आदि स्थानो पर भी वह ठहरे तथा अपने उपदेश दिये। पुष्कर के सुप्रसिद्ध ब्रह्मा मदिर में उन्होंने वेद भाष्य का कार्य भी किया। अजमेर से तो उन का बहुत ही ज्यादा सम्बन्ध रहा। राजस्थान की देशी रियासतो मे जागृति और चेतना का सचार करने मे ऋषि दयानद का अद्भुत योगदान रहा। केसरीसिंह बारठ, विजय सिंह पथिक जैसे क्रान्तिकारियो पर इन्ही का प्रभाव पडा।

निर्वाण स्थली अजमेर.—

जहां ऋषि दयानद वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए 3-4 बार अजमेर आये और वहां कई दिन ठहरकर अपने व्याख्यानों से अजमेर की जनता को लाभान्वित किया वही उनका प्राणान्त भी इसी अजमेर नगर मे हुआ। इसलिए अजमेर को ऋषि दयानद की निर्वाण स्थली कहा जाता है। लगभग 3 वर्ष पूर्व 1983 ई में अजमेर नगर मे ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महर्षि दयानद निर्वाण शताब्दी का आयोजन किया गया था जिसमें देश विदेश के लाखो नर-नारियों ने यहां आकर ऋषि दयानद को अपनी भावभीनी श्रद्धाजलि अर्पित की तथा उस समारोह का उद्घाटन भारत की तत्कालीन प्रधानमत्री श्रीमती इन्दिरा गाधी ने किया था। ऋषि दयानद की अर्द्ध निर्वाण शताब्दी भी 1933 में अजमेर में ही मनाई गई थी। ऋषि दयानद का निर्वाण स्थल (भिनाय कोठी), अत्येष्टि स्थल (पहाडगज स्थित श्मशान) उनकी स्मृति में निर्मित 'सरस्वती-भवन' ऋषि उद्यान एव दयानद आश्रम तथा उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा

(शेष पृष्ठ 3 पर)

सम्पादकीय ...

अजमेर की विशिष्ट प्रतिभा का सम्मान

अजमेर के मालवीय कहे जाने वाले तथा दयानन्द कॉलेज, अजमेर के सम्थापक प्राचार्य श्री दत्तात्रेय वाब्ले को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार द्वारा "गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार' से गत माह की 19 अप्रेल को सम्मानित किया गया। 'गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार' आर्य जगत् में अत्यन्त गौरव एव सम्मान का प्रतीक माना जाता है इस पुरस्कार से प्रतिवर्ष लब्ध प्रतिष्ठित 2-3 आर्य जगत के विद्वानो को सम्मानित किया जाता है तथा प्रत्येक को अलग-अलग अभिनन्दन-पत्र भी प्रदान किया जाता है। इस बार यह गौरव-पूर्ण पुरस्कार एव सम्मान एक समर्पित व्यक्तित्व के धनी तथा आर्य समाज एव महर्षि दयानन्द के प्रति अनन्यनिष्ठा रखने वाले तथा "मनसा वाचा, कमरणा" आर्यत्व को जीवन मे धारण करने वाले हिन्दी एव अग्रेजी के प्रकाण्ड विद्वान, श्री दत्तात्रेय जी वाब्ले को भी दिया गया है। यह अजमेर के आर्य जगत् के लिये गौरव की बात है।

श्री दत्तात्रेय वाब्ले को इससे पूर्व भी दयानन्द कॉलेज अजमेर की रजत जयन्ती के अवसर पर तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री गोपालस्वरूप पाठक द्वारा उनकी शैक्षणिक सेवाओ के लिए सम्मानित और अभिनदित किया जा चुका है। परन्तु इस बार एक विश्व विद्यालय द्वारा उनकी विद्वता एव पाडित्य को स्वीकार कर सम्मानित करना विशेष महत्व रखता है। यह ज्ञातव्य है कि उन्हे यह पुरस्कार गत 19 अप्रेल 1987 ई को नई दिल्ली के तालकटोरा स्टेडियम मे भूतपूर्व रक्षा मत्री श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह की अध्यक्षता मे आयोजित विशेष समारोह में प्रदान किया गया था।

श्री दत्तात्रेय वाब्ले वर्तमान में आर्य समाज अजमेर के प्रधान, आर्य समाज शिक्षा सभा (जिसके अन्तर्गत डी ए वी. कॉलिज, जियालाल टीचर्स ट्रेनिंग कॉलिज तथा डी ए वी स्कूल आदि जैसी 14 शिक्षण सस्थायें सचालित है) के वरिष्ठ उपप्रधान, निराश्रित बालक बालिकाओ का पालन पोषण एव शिक्षण करने वाली सस्था दयानन्द बाल सदन की प्रबन्ध समिति के प्रधान, इण्डियन रेड क्रास सोसायटी जिला शाखा अजमेर के चेयरमैन, आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के वरिष्ठ उपप्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के अतरग सभासद, डी ए वी प्रबन्ध समिति नई दिल्ली के अतरग सभासद, सार्वभौम आर्य समाज शिक्षण सस्था परिषद् के मत्री, अजमेर जिला सहायता प्राप्त शिक्षण सस्था प्रबन्धक सघ के अध्यक्ष, सार्वजनिक शिक्षण सस्था परिषद् राजस्थान के उपप्रधान आदि कई विभिन्न रूपो में सेवा कार्य कर रहे हैं। इतनी सार्वजनिक सस्थाओ के कार्य मे व्यस्त रहते हुये भी श्री दत्तात्रेय जी वाब्ले निरन्तर स्वाध्यायशील रहते हैं तथा आर्य सिद्धान्तो का पोषण करने वाली पुस्तकों के अध्ययन करने के साथ-साथ देश-विदेश के प्रसिद्ध लेखको की चर्चित पुस्तकें एव पत्र-पत्रिकायें भी नियमित रूप से पढते रहते हैं। आप एक अच्छे वक्ता और कुशल विचारक होने के साथ-साथ सिद्ध-हस्त लेखक भी हैं। आप द्वारा लिखित एव सम्पादित निम्न पुस्तकें विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी —

राष्ट्रीय चरित्र और एकता, आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नही, आर्य समाज, मूर्ति पूजा अवैदिक, आर्य समाज का भविष्य एक चेतावनी, सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थमाला (15 भाग), आचार सहिता, सेवा और सघर्ष आदि।

अग्रेजी —

माडर्न इण्डिया एण्ड हिन्दूइज्म, टु वे ट्रैफिक, आर्य समाज, हिन्दू विदाउट हिन्दूइज्म।

श्री वाब्ले की कीर्ति का अमर स्तम्भ दयानन्द कॉलेज अजमेर है। इस कॉलेज के आप सस्थापक—प्राचार्य थे तथा इसकी स्थापना एव निर्माण मे पडित जियालाल जी को अनन्य सहयोग दिया था। जब आपने कार्यभार ग्रहण किया था तब यह मात्र इण्टर कालेज था, इन्होने अपनी लगन तथा कुशल प्रशासन से इसे 13 विभागो मे स्नातकोत्तर उन्नति की चरम सीमा पर पहुचाया। तथा कई विशाल भवनो का निर्माण करवाया। आपके उस समय इसका अनुशासन एव उत्तम परीक्षा परिणाम सर्वत्र प्रशसनीय था। आपने कर्मवीर प जियालाल जी की स्मृति मे जियालाल टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, जियालाल कन्या सैक स्कूल आदि भी स्थापित करवाये।

गोवर्धन पुरस्कार प्राप्त करने पर हम 'आर्य पुनर्गठन' परिवार की ओर से श्री दत्तात्रेय जी वाब्ले का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए बधाई देते है तथा सर्वशक्तिमान ईश्वर से उनके शतायु होने की कामना करते हैं।

—रासासिंह

अजमेर के विश्वविद्यालय का नाम.... .

(पृष्ट 2 का शेष)

का कार्यालय सब अजमेर में ही हैं। अजमेर में ही सुप्रसिद्ध लघु विश्वविद्यालय का रूप लिए दयानद कॉलिज तथा भारत की सबसे पुरानी डी. ए वी स्कूल तथा अन्य 15 शिक्षण सस्थायें भी अजमेर मे ही हैं। ऋषि दयानन्द के जीवन काल मे स्थापित आर्य समाज, अजमेर प्रान्त का सबसे पुराना आर्य समाज भी यही है। बाल विवाह निषेध कानून (शारदा एक्ट) के प्रणेता प्रसिद्ध इतिहासकार हरविलासजी शारदा दयानद कॉलिज अजमेर के सस्थापक एव 1939 के हैदराबाद के सत्याग्रह मे स्पेशल ट्रेन भेजने वाले महान् आर्य नेता पडित कर्मवीर जियालाल, देशभक्त कु चादकरण शारदा, रामविलासजी शारदा, रायबहादुर मिट्ठनलालजी भार्गव, प्रसिद्ध समाज सेवी डॉ अम्बालालजी शर्मा जैसे आर्य पुरुषो की कर्मस्थली अजमेर ही रहा है। अजमेर के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता पडित ज्वालाप्रसाद शर्मा, अर्जुनलाल सेठी, विजयसिंह पथिक आदि का भी आर्य समाज तथा डी ए वी स्कूल आदि से बहुत सम्बध रहा है।

भू पू प्रधानमंत्री द्वारा समर्थन -

अजमेर मे दयानद विश्वविद्यालय के विचार का समर्थन भारत के तत्कालीन प्रधानमत्री स्व श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी किया था तथा 16 मार्च 1965 को देहली मे एक सार्वजनिक सभा मे स्व शास्त्रीजी ने अजमेर मे दयानद विश्वविद्यालय की स्थापना करने के विषय पर सहानुभूति पूर्वक विचार करने की घोषणा की थी। शास्त्रीजी का यह भाषण आकाशवाणी से भी प्रसारित किया गया था एव समाचार पत्रो में भी प्रकाशित हुआ था।

देशव्यापी समर्थन —

अजमेर मे दयानद विश्वविद्यालय की स्थापना के समर्थन मे तत्कालीन प्रयासों को देशव्यापी समर्थन प्राप्त हुआ था जिसके समर्थको मे भू पू रक्षामत्री वाई बी चौहान जैसे केन्द्रीय मत्री, अनेक राज्यो के मत्री, राज्यपाल, उपकुलपति, हाईकोट के जज तथा ससद मे सत्ता तथा विपक्ष के प्रमुख सासद सम्मिलित हैं जिनमे भारत के भू पू न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन, आध्र प्रदेश के भू पू. राज्यपाल श्री भीमसेन सच्चर, उडीसा के तत्कालीन राज्यपाल श्री ए एन खोसला, बिहार के भू पू राज्यपाल माधव श्री, पजाब के भू पू शिक्षा मत्री श्री अमरनाथ विद्यालकार, पजाब के विश्वविद्यालय के भू पू उपकुलपति श्री सूरजभान, पजाब हाईकोर्ट के जज श्री टेकचन्द, पजाब के पूर्व शिक्षा मत्री श्रीयशपाल केन्द्रीय मत्री श्री रामनिवास मिर्धा, भू पू राज्यपाल श्रीनरहरि गाडगिल उ प्र के भू पू मत्री श्री जगतप्रसाद रावत, आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अजमेर की जनता का समर्थन

जब अजमेर मे दयानन्द विश्वविद्यालय के प्रयास चल रहे थे तो उन प्रयासो का समर्थन अजमेर की जनता के विभिन्न वर्गों से भी मिला था, दयानद विश्वविद्यालय की माग को लेकर एक शिष्टमडल जिसमे अजमेर ब्यावर किशनगढ आदि अजमेर खड के सासद, विधान सभा सदस्य, नगर पालिका, राजनैतिक दल के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, 28 मार्च 1965 को राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल डॉ सम्पूर्णानन्दजी के अजमेर आने पर, दयानद विश्वविद्यालय की स्थापना के सम्बध मे ज्ञापन दिया था। उस ज्ञापन पर हस्ताक्षर करने वालो में अजमेर के तत्कालीन सासद मुकुटबिहारी लाल भार्गव, मसूदा के राव नारायणसिंह मसूदा (तत्कालीन उपाध्यक्ष राज. विधानसभा), तत्कालीन उपमत्री प्रभा मिश्रा, नगरपरिषद अजमेर के तत्कालीन अध्यक्ष देवदत्तजी शर्मा, नगर सुधार न्यास के तत्कालीन अध्यक्ष कृष्णगोपाल गर्ग, जिला प्रमुख विश्वेश्वरनाथ भार्गव, मा शि बोर्ड के तत्कालीन अध्यक्ष लक्ष्मी लाल जी जोशी, राज प्रदेश कांग्रेस कमेटी के सदस्य पुरुषोतमदास कुदाल आदि सम्मिलित थे। जिनसे स्पष्ट है कि अजमेर के जन प्रतिनिधियो का भी समर्थन इस विचार का पोषक है।

अत राजस्थान सरकार से विनम्र अनुरोध है कि उपरोक्त सभी तथ्यो एव परिस्थितियो को दृष्टिगत रखते हुए इस विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानद सरस्वती के नाम पर दयानद विश्वविद्यालय रखा जाये।

——

आर्य समाज की कार्यविधि, संगठन, पुनर्गठन: एक समाज शास्त्रीय अध्ययन

—डॉ कृष्णपाल सिंह दयानन्द वैदिक शोध पीठ, अजमेर

अध्ययन की समस्या एवं उद्देश्य

आधुनिक समय मे आर्यसमाज के सगठन, चुनाव, कार्यप्रणाली, पुनर्गठन तथा सैद्धान्तिक प्रचार व प्रसार आदि के सबध मे अध्ययन करने से यह अनुभव हुआ है कि इसके कार्यविधि सगठन एव पुनर्गठन की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योकि आर्य समाज प्रारम्भ मे एक क्रांतिकारी, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक, राष्ट्रीय जन जागरण के रूप मे जन समुदाय के सम्मुख उभरकर आया है। इस का प्रारम्भिक स्वरूप विशिष्ट प्रभाव से युक्त होने के कारण जनमानस का एक रूप मे प्रतिनिधि सा हो गया था। किन्तु वर्तमान समय मे वह उत्कृष्ट स्वरूप शिथिल सा हो गया है।

इसके साथ ही वैदिक सिद्धान्तो के प्रचार प्रसार तथा व्यवहारिक जीवन मे अपनाने की जो परम्परा सदस्यो मे विद्यमान थी वह भी अब ओझल सी होती जा रही है। आज देश जहा प्रान्तवाद, जातिवाद, धार्मिक मतवाद तथा विघठनात्मक प्रवृत्तियो से कुण्ठित होता जा रहा है वहा मानव समाज भी जातिगत, वर्गगत आदि अनेक प्रकार के भेदभाव, आडम्बर, कुरीतियों से ग्रसित होता जा रहा है जिनका विस्तारभय मे वर्णन करना कठिन है। इसी तरह विभिन्न दलगत राजनीतिक दाँवपेंच से देश विघटन के कगार पर खड़ा है। साम्प्रदायिकता देश की अखण्डता को डसने के लिये, विकराल व्याल के समान मुह फैलाये दिन-दूनी रात चौगुनी होती जा रही है।

इस प्रकार देश की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक आदि अनेक राष्ट्रीय समस्याओ के सन्दर्भ मे आर्य समाज की आज उतनी ही आवश्यकता नही है जितनी स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय क्षितिज मे थी अपितु उससे भी कही अधिक राष्ट्रीय समस्याओ को सुलझाने मे अथवा समुचित समाधान खोजने मे आर्य समाज की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। अत आर्य समाज अपने पूर्ववत् उज्ज्वल स्वरूप, राष्ट्रीय एकता के सूत्र को स्थापित करने के लिये इसके सगठन, प्रचार शैली कार्यावधि, नेतृत्व, सदस्यता, सामाजिक उत्थान तथा पुनर्गठन इत्यादि अनेक सन्दर्भों मे सिहावलोकन करने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

अध्ययन की प्रक्रिया

उपर्युक्त वर्णित विषय-वस्तु को दृष्टि में रखते हुए यह विचार किया गया कि आर्य जगत् के विद्वानो, सन्यासियो, पदाधिकारियो, सभासदो, समाजहितैषियो, अनुरागियो तथा अन्य सभी सबधित व्यक्तियों से विस्तृत वैज्ञानिक अनुसन्धान द्वारा तथ्यात्मक जानकारी सकलित की जावे। इसी दृष्टि से शोधपीठ के द्वारा एतद्विषयक अन्वेषण प्रारम्भ किया गया। इस अध्ययन के द्वारा आर्य समाज के सबधित अनेक प्रकार की समस्याओ तथा पक्षो के विषय में तथ्यों का एकत्रीकरण किया गया है। यह अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि आर्यसमाज के उप नियमो मे सशोधन तथा चुनाव प्रक्रिया सबधी दृष्टिकोण आदि को किस प्रकार से पुनर्गठित किया जावे जिससे आर्य समाज की छवि और अधिक निखर कर सामने आ सके तथा इस दिशा मे प्रभावोत्पादक कार्य प्रणाली को अपनाया जा सके।

इस प्रकार अनेकस आधार बिन्दुओ के परिपेक्ष्य मे यह कार्य प्रारम्भ किया गया है। जिसकी प्रेरणा विशेष रूप से श्री दत्तात्रेय जी आर्य ने दी है। इसके साथ ही साथ समय-2 पर अमूल्य सुझावो के द्वारा मार्गदर्शन भी किया है। इस महत्वपूर्ण अध्ययन को प्रारम्भ करने के लिये एक प्रश्नावली की सरचना की गई। इस प्रश्नावली के निर्माण सबधी कठिन कार्य मे डॉ. बजरग लालजी टॉक, प्रवक्ता, समाज शास्त्र प्रो बुद्धिप्रकाश जी आर्य, प्रवक्ता, समाजशास्त्र तथा डॉ देवशर्मा जी वेदालंकार सस्कृत विभाग अध्यक्ष दयानन्द कालेज, अजमेर ने समय-समय पर अमूल्य सुझावों के द्वारा सराहनीय सहयोग प्रदान किया है।

यह प्रश्नावली सम्पूर्ण देश-विदेशस्थ तथा अन्य विभिन्न क्षेत्रो मे स्थित आर्य पुरुषो के पास प्रेषित की गई। जिनमे से हमें 103 प्रश्नावलियाँ उत्तरसहित प्राप्त हुई हैं। अध्ययन के द्वारा कतिपय प्रश्नावलिया अपूर्ण पाई गई जिन्हे इस गवेषणात्मक अध्ययन में सम्मिलित नही किया गया है। इस प्रकार यह अध्ययन 100- प्रश्नावलियों के उत्तरदाताओ के आधार पर किया गया है। इनमें अधिकांश उत्तरदाता अधिक अवस्था वाले प्रौढ़ व्यक्ति हैं जिससे यह अनुमान स्वत ही लगाया जा सकता है कि जो भी तथ्य प्राप्त होगे वे महत्वपूर्ण एव अनुभवी व्यक्तियो के होगे। इस अन्वेषण मे जहा प्रौढ़ व्यक्तियो का सहयोग रहा है वहा युवकों तथा महिलाओ का प्रतिनिधित्व भी उल्लेखनीय है। इस अध्ययन मे उत्तरदाताओ का भौगोलिक आयु सरचना आदि अनेक वर्गों मे विभक्त किया गया है। जिनका प्रतिनिधित्व निम्न प्रकार रहा है—

आयु सरचना के आधार पर 25 वर्ष तक का 4% 25 वर्ष से 50 वर्ष तक की आयु का 40 % तथा 50 वर्ष से अधिक अवस्था का 54 %। शैक्षणिक स्तर के आधार पर माध्यमिक शिक्षा स्तर तक के व्यक्ति 3%, स्नातक स्तर तक के 43% तथा विशिष्ट उच्च शिक्षा अर्थात् एम ए, पी एच डी, इन्जीनियर एम बी बी एस इत्यादि का 43 % प्रतिनिधित्व रहा है। व्यावसायिक संरचना के आधार पर कृषि एव व्यापारी वर्ग का 28 %, शिक्षण एव अध्ययनाध्यापन वर्ग का 25 %, सेवारत (सर्विस) वर्ग का 18 % अन्य 4 % व्यक्तियो का प्रतिनिधित्व रहा है। धार्मिक पृष्ठभूमि के आधार पर वैदिक धर्मानुयायी 83% सनातन वैदिक धर्मानुयायी 15% तथा 1% अन्य मत सम्प्रदाय के व्यक्तियो ने इस अध्ययन मे अपना सराहनीय सहयोग प्रदान किया है।

आर्य समाज का स्वरूप, कार्यप्रणाली एवं प्रभाव

आर्य समाज के स्वरूप के सम्बन्ध में दृष्टिकोण—

वर्तमान समय में अनेक मत-सम्प्रदाय विश्व में विद्यमान हैं साथ ही अनेक दार्शनिक विचारधारायें प्रचलित हैं। भारत में भी अनेक, मत सम्प्रदाय प्रचलित हैं जिनकी कार्य पद्धति के द्वारा ही उनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आर्य समाज को लोग किस रूप में स्वीकार करते हैं, यह जानने के लिये अथवा आर्य समाज के स्वरूप के विषय मे लोगों के दृष्टिकोण ज्ञापनार्थ प्रस्तुत प्रश्न रखा गया जिसके फलस्वरूप उत्तरदाताओ से निम्न तथ्य उभरकर सामने आये हैं —

83 प्रतिशत से भी अधिक उत्तर दाताओं ने आर्य समाज के स्वरूप के सबध में यह विचार व्यक्त किया है कि यह सस्था प्राचीन वैदिक धर्म और सस्कृति, सभ्यता का पोषक, प्रचारक तथा महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित है। 39 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इसे समाज सुधारक के रूप मे माना है जबकि एक तिहाई 33 प्रतिशत ने इसे क्रांतिकारी राष्ट्रव्यापी आन्दोलन के रूप मे स्वीकार किया है, विशेषकर स्वाधीनता आन्दोलन, जनजागरण, शिक्षा प्रसार, जातीय समस्या उन्मूलन, तथा महिलाओ की स्थिति सुधारक आन्दोलन बताया है। 10 प्रतिशत उत्तरदाता इस मत के भी हैं जो यह मानते हैं कि आर्य समाज हिन्दू समाज का एक सुधारवादी आन्दोलन है, जो कि हिन्दू समाज में व्याप्त अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, बालविवाह, सतीप्रथा, आदि कुरीतियों का निराकरण, वेदो के यथार्थ स्वरूप तथा यथार्थ वेदार्थ का प्रचार करना, इसका लक्ष्य रहा है। इसका अभिप्राय यह है कि हिन्दू समाज मे जो बुराईयां, कुरीतिया व्याप्त हैं उन्हें आर्य समाज स्वीकार नहीं करता है, अपितु उनका विनाश करके स्वस्थ सुसगठित मानव समाज की स्थापना करना चाहता है। इसी दृष्टि से शोधपीठ के निदेशक श्री दत्तात्रेय आर्य ने 'The Arya Samaj Hindu without Hinduism' नामक ग्रन्थ की सृजना की है।

इसी अध्ययन मे एक नवीन तथ्य उभरकर सामने यह भी आया है कि कए भी उत्तरदाता ऐसा नहीं है जिसने इसे नवीन सम्प्रदाय या मत स्वीकार किया हो, अत: आर्यसमाज-मुस्लिम ईसाई आदि के समान कोई नया पन्थ नहीं है यह तथ्य से सुस्पष्ट हो जाता है।

(क्रमश)

धर्म निरपेक्षता और संविधान

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य—

भारतीय संविधान में सेक्यूलर (धर्म-निरपेक्ष) शब्द प्रारम्भ से नहीं था। किन्तु इसकी भावना का बोलन ये अवश्य अवश्य था कि भारत के किसी नागरिक के साथ धर्म जाति सम्प्रदाय या लिंग के अनुसार कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा। और प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार प्राप्त होंगे।

बाद में संविधान में संशोधन करके सेक्यूलर शब्द भी उसके आधार-भूत उद्देश्यों में जोड़ दिया गया।

जैसा मैं अपने पूर्व लेखों में स्पष्ट कर चुका हूं कि राजनीतिक कारणों से धर्म निरपेक्षता का यह आदर्श विकृत होकर सर्व धर्म सापेक्ष बन गया है। जिसके दुष्परिणामों की की विवेचना इन लेखों में की जा चुकी है। सेक्यूलर का अर्थ पंथ-निरपेक्ष किया जाए या धर्म निरपेक्ष, ये केवल एक शाब्दिक विवाद रह गया है। धर्म का वास्तविक अर्थ रिलीजन, धर्म या पंथ न होने पर भी देश के संविधान एवं कानूनी परिपेक्ष्य में धर्म अब इन्हीं अर्थों में रूढ़ हो गया है। जैसे सिख का शाब्दिक अर्थ भले ही शिष्य हो और मुसलमान का अर्थ 'ईमान में दृढ़' व्यक्ति हो। किन्तु व्यवहार में ये दोनों शब्द अब एक धर्म या सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए ही प्रयोग होते हैं। इसलिए यहां हम धर्म निरपेक्ष इसी प्रचलित अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं।

संविधान के मौलिक अधिकारों में चार ऐसे प्रावधान हैं जिनका आधार धार्मिक कहा जा सकता है। अर्थात् धारा 25, 26, 28 और 30 इनमें भी मौलिक प्रावधान धारा 25 में है जिसमें कहा गया है, "भारत के प्रत्येक नागरिक को अपने धर्म पर विश्वास रखने, धर्म का पालन करने और उसका प्रचार करने की पूरी स्वतन्त्रता होगी"। धारा 26 में धार्मिक समुदायों को अपना धार्मिक संस्थाओं का प्रबन्ध व व्यवस्था करने की स्वतन्त्रता दी गई है। धारा 28 के अनुसार सरकारी अथवा सरकार द्वारा आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण-संस्थाओं में किसी विद्यार्थी को उसके अभिभावकों की इच्छा के विपरीत किसी धर्म की शिक्षा देने का निषेध किया गया है।

धारा -30 का दुरुपयोग

धारा 30 का उपयोग आज केवल अल्पसंख्यकों की अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं रहा है। इस धारा में अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की तुलना में विशेष अधिकार दिए गए हैं। अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाएं सरकारी अनुदान प्राप्त करने के बावजूद अपने धर्म की शिक्षा इनमें दे सकती हैं। उल्लेखनीय है कि, धारा 30 की उप-धारा-3 में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों की शिक्षण-संस्थाओं को बहुसंख्यकों की संस्थाओं की तरह ही सरकारी अनुदान प्राप्त होगा। और उन्हें 90 से 100 प्रतिशत तक सरकारी अनुदान प्राप्त हो रहा है।

ये संस्थाएं अपने अनुयायियों के बच्चों को तो अपनी धार्मिक शिक्षा देने में स्वतन्त्र हैं ही, इसके साथ ही ये अन्य धर्मानुयायियों के बच्चों को भी अपने धर्म की शिक्षा देने में स्वतन्त्र हैं। केरल के शिक्षा अधिनियम और सेंट जेवियर कालेज, अहमदाबाद के सबंध में दिए गए न्यायालयों के निर्णयों में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।

हिन्दुओं के प्रति अन्याय

जन साधारण में यह मान्यता है कि धारा 25 एवं संविधान के कुछ अन्य प्रावधानों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई है। लेकिन इस संदर्भ में एक विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर बहुसंख्यक, अल्पसंख्यकों की तरह अपनी शिक्षण संस्थाओं में अपने धर्म की शिक्षा क्यों नहीं दे सकते? क्या इसका अर्थ समझा जाए कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की अपेक्षा अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। यदि है तो क्या यह बहुसंख्यक हिन्दुओं के प्रति अत्याचार नहीं है।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जिस आशंका से बहुसंख्यक हिन्दुओं को अपनी शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा देने से वंचित रखा गया है, वह निराधार है। क्योंकि बहुसंख्यक हिन्दू अपनी भिन्न-भिन्न मान्यताओं वाले अनेक समुदाय होने के कारण दुरुपयोग नहीं कर सकते हैं।

इसके साथ ही यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि इन में भी केवल आर्य-समाज की शिक्षण संस्थाएं ही ऐसी हैं जिन्हें वह अधिकार प्राप्त नहीं है जो गैर हिन्दू शिक्षण संस्थाओं को प्राप्त है। अतएव धारा 30 का व्यावहारिक परिणाम यह हुआ है कि मात्र हिन्दू समझे जाने के कारण आर्यसमाज जैसे संगठन को भी धार्मिक स्वतन्त्रता के इस अधिकार से वंचित रखा गया है। जो उन्हें संविधान द्वारा प्राप्त है। अतएव आर्य समाज की शिक्षण-संस्थाओं द्वारा धारा 30 के अन्तर्गत समान अधिकार की मांग एक प्रकार से हमारे संविधान की धर्म-निरपेक्षता की परीक्षा है।

हिन्दू वंचित क्यों ?

उल्लेखनीय है कि देहली उच्च न्यायालय ने अपने आर्यसमाज संबंधी निर्णय में कहा है 'हिन्दू या उनके किसी सम्प्रदाय द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 के अन्तर्गत दिए गए विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते।' इसको हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं, कोई हिन्दू संगठन या संस्था को यह अधिकार नहीं है कि वह अपनी इच्छा की शिक्षण-संस्थाएं स्थापित करके उसके लिए सरकारी अनुदान व मान्यता प्राप्त कर सके। इसके साथ ही वह अल्पसंख्यकों के समान अपनी शिक्षण-संस्थाओं में अपने धर्मानुयायियों तक को भी स्वधर्म की शिक्षा नहीं दे सकता। इस सबके उपरांत भी यदि वह अपनी संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा बच्चों को देना चाहे तो उसकी मान्यता व अनुदान सरकार द्वारा बन्द कर दिए जाएंगे। ऐसी स्थिति में वह चाहकर भी अपनी संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दे सकता। इस संदर्भ में यह भी दृष्टव्य है कि देश में जो पब्लिक स्कूल नामक संस्थाएं हैं वे गैर सरकारी होने पर भी केवल उच्च वर्ग के तथा धनी व्यक्तियों के लिए हैं। जिसमें होने वाला व्यय प्रति छात्र हजार रुपये मासिक तक होता है। ये संस्थाएं गरीब तो दूर मध्यम वर्ग की पहुंच से भी परे हैं। किन्तु अन्य ईसाई शिक्षण संस्थाएं इन पब्लिक स्कूलों का मुकाबला आसानी से कर सकती हैं। क्योंकि उनमें भी उच्च वर्ग के हिन्दू बच्चों द्वारा फीस की पर्याप्त आय होती है। उच्च वर्ग के ये अभिभावक अपने बच्चों के अच्छे भविष्य के लिए ये व्यय बर्दास्त करते हैं। व्यय के अतिरिक्त वे उस सांस्कृतिक और धार्मिक वातावरण को सहन या पसन्द करते हैं जो इन संस्थाओं में उनके बच्चों को मिलता है। यद्यपि संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों की इन संस्थाओं को सरकारी अनुदान प्राप्त करने का अधिकार है फिर भी उनमें से अनेक उसे स्वेच्छा से लेना अस्वीकार करती हैं। क्योंकि अनुदान से कहीं अधिक आय उन्हें वैसे ही प्राप्त होती है और साथ ही वे अनुदान से सम्बन्धित प्रत्येक बन्धन से मुक्त होकर इन संस्थाओं को अपने धर्म प्रचार का प्रभावकारी माध्यम बना सकती हैं।

बहुसंख्यकों का अधिकार

न्यायमूर्ति श्री खन्ना ने अपने निर्णय के अनुभाग 73 में कहा है कि यद्यपि धारा 29 के शीर्षक में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी वे अधिकार अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों को प्राप्त हैं। अनुभाग 74 में वे इस बात का समर्थन करते हैं कि प्रबंधकों को इन धाराओं में स्थापित संस्थाओं को अपनी मान्यता के अनुसार चलाने का अधिकार है। आगे वे कहते हैं कि धारा 25 से 30 तक की सब धाराओं का उद्देश्य धार्मिक विश्वासों और उनके प्रचार के लिए समान मौलिक अधिकार देना है।

न्यायमूर्ति खन्ना के उपर्युक्त विवेचना के उपरान्त यह प्रश्न पैदा होता है कि बहुसंख्यक हिन्दुओं को इस प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता का लाभ कैसे मिल सकता है। जैसा तथ्यों से स्पष्ट है कि धारा 30 का क्षेत्र अब केवल अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता का रक्षा अथवा उसमें हस्तक्षेप न होने देने तक सीमित नहीं है। उन्हें एक विशेष अधिकार यह भी दिया गया है, जिसके द्वारा वे सरकारी व्यय पर बहुसंख्यकों के बच्चों में भी अपने धर्म का प्रचार-प्रसार कर सकते हैं। गोवा उच्च न्यायालय ने सन् 1980 में दिये अपने निर्णय में कहा है कि इस प्रकार की असमानता अल्पसंख्यकों

आचार्य वाल्ले का नागरिक (पृष्ठ 1 का शेष)

करते हुए अपने द्वारा लिखित पुस्तकों के आधार पर वर्णमा शब्दकोश प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का संयोजन आर्य समाज के मंत्री रासासिंह ने किया।

दयानन्द कालेज में अभिनन्दन —

अजमेर 6 मई। गोवर्धन पुरस्कार करने के उपलक्ष्य में आचार्य वाल्ले का दय नद कालेज, अजमेर में श्री के आर वाल्ले की अध्यक्षता में अभिनन्दन किया गया। उन्हें हिन्दी व संस्कृत में मानपत्र भेंट किए गए। अन्त में श्री वाल्ले ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में कहा कि समाज में एकता तभी सम्भव है जब उसमें व्याप्त [illegible] व कुरीतियां समाप्त हो जाएं। और मेरा यह निश्चित विश्वास है कि इन बुराइयों को केवल आर्य समाज ही समाप्त कर सकता है। लेकिन आज आर्य समाज स्वयं ही सुधार की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। अतएव यदि हम देश, समाज में एकता लाना चाहते हैं तो हमें आर्य समाज का पुनर्गठन करना चाहिए। कार्यक्रम संचालन डा ए के गुप्ता ने किया।

किशनगढ़ में अभिनन्दन—

किशनगढ 10 मई। आर्यसमाज किशनगढ के आचार्य दत्तात्रेय वाल्ले का अभिनन्दन समारोह श्रीयुत मेजर दौलतसिंह (भू पू वरिष्ठ आयुक्त राजस्थान सरकार) की अध्यक्षता एवं डा फैयाज अली (सुप्रसिद्ध चित्रकार) के मुख्य आतिथ्य में सम्पन्न हुआ।

समारोह में आर्य समाज के अध्यक्ष श्री सकोटिया रोटरी क्लब के अध्यक्ष श्री [illegible], सायन्स क्लब के अध्यक्ष श्री ओमप्रकाश जैन, मुस्लिम समाज के सदर श्री गुजराती भाई, सिक्ख समुदाय की ओर से सरदार सतोषसिंह प्रेस क्लब की ओर से श्री ताराचन्द जैन, प्रा मेडिकल [illegible] के सचिव भगवान स्वरूप, अग्रवाल समाज के उपाध्यक्ष श्री ओमप्रकाश गोयल, कुमावत समाज के श्री बाबूराम, जैन स्कूल के श्री अग्रवाल, मालाकार संघ के सचिव [illegible], [illegible] एसोसियेशन के सचिव [illegible] चौधरी, क्रय-विक्रय सहकारी समिति के अध्यक्ष श्री रामस्वरूप चौधरी, युवक कांग्रेस के अध्यक्ष श्री [illegible], कांग्रेस के जिला मन्त्री श्री रमेश [illegible] के अध्यक्ष श्री [illegible] सोनगरा, नगर कांग्रेस के अध्यक्ष श्री सत्यनारायण मोदानी, महिला समाज की श्रीमती उमा आर्य एवं श्रीमती गोविन्द अग्रवाल, दयानन्द कालेज के भू पू छात्र श्री बसन्तसिंह सूरजबसल, सत्सग समिति के श्री कृष्णभूषण भट्ट एवं सभी आर्य सभासदों ने भी श्री वाल्ले का माला अर्पण कर हार्दिक स्वागत किया।

अपने आभार भाषण में श्री दत्तात्रेय वाल्ले ने अपनी रचित पुस्तकों के आधार पर बताया कि आर्यसमाज क्या है, और क्या चाहता है? उन्होंने अपने बचपन के क्रांतिकारी किशनगढ़ के संस्मरण सुनाकर सभा को रोमांचित कर दिया। कार्यक्रम का संयोजन आर्य समाज के मंत्री डा वीर रत्न आर्य ने किया। ***

धर्म निरपेक्षता (पृष्ठ 5 का शेष)

को बहुमत के साथ समानता देने के लिए आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकों के अधिकारों पर कुछ नियन्त्रण लगाना और उन्हें सीमित करना आवश्यक है ताकि अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित रहें। परन्तु वस्तुतः हिन्दू धार्मिक दृष्टि से बहुसंख्यक हैं ही नहीं। अतएव केवल उनके तथाकथित राजनैतिक बहुमत के आधार पर वे धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार के एकाधिकार का उपयोग कर ही नहीं सकते। पुन यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या बहुसंख्यकों के प्रति यह भेदभाव और उन पर लगाया गया यह नियन्त्रण उचित और आवश्यक भी है या नहीं। जैसा स्पष्ट है कि धारा 30 द्वारा अल्पसंख्यकों को यह तथाकथित समानता देने के स्थान में बहुमत को ही इस मौलिक अधिकार से वंचित कर दिया गया है। अत बहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों के बराबर भी अधिकार नहीं रहा। इस प्रकार समानता के स्थान में स्पष्ट रूप से असमानता स्थापित की गई।

वास्तविक समस्या —

अतएव आज की वास्तविक समस्या अल्पसंख्यकों को समान धार्मिक अधिकार देने के विपरीत बहुसंख्यकों को कम से कम अल्पसंख्यकों के समान अधिकार देने की [illegible] से देखा जाय तो अनेक धर्मों, सम्प्रदायों व मतावादी वाले हमारे देश में गैर हिन्दुओं को कोई विशेष अधिकार देने की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि तथाकथित हिन्दू धर्म वास्तविक अर्थ में कोई धर्म है ही नहीं और यदि है तो वह संगठित धर्म नहीं है। अतएव यह पूर्णतया स्पष्ट है कि कभी ही उसके अनुयायियों की संख्या कितनी ही क्यों न हो वह अल्पसंख्यकों के अधिकारों की प्राप्ति में बिल्कुल बाधक नहीं है। इसके विपरीत यह भी उल्लेखनीय है कि तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यक, धार्मिक दृष्टि से इतने संगठित हैं कि अनेक जातियों, सम्प्रदायों में विभक्त बहुसंख्यक हिन्दू उनका मुकाबला नहीं कर सकते हैं। इसका उदाहरण [illegible] में हुए साम्प्रदायिक दंगे हैं। इसके साथ यह भी दृष्टव्य है कि तथाकथित हिन्दू धर्मानुयायी अपनी उदारता या निर्बलता के कारण गैर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने में विश्वास नहीं रखते। उनकी इस आत्मघाती मान्यता के कारण कि सभी धर्म समान हैं, आर्यसमाज का शुद्धि आन्दोलन जैसा महत्वपूर्ण आन्दोलन भी असफल हो गया है।

जनगणना के आंकड़े इस बात के प्रत्यक्ष गवाह हैं कि हिन्दू धर्म के अनुयायियों की संख्या तथाकथित अल्पसंख्यकों की तुलना में [illegible] कम होती जा रही है। [illegible] हिन्दुओं का [illegible] नहीं देखी [illegible] रहा है। [illegible] विपरीत गैर हिन्दुओं का हिन्दू धर्म में प्रवेश केवल नगण्य एवं अपवाद मात्र है।

हिन्दू सब धर्मों के प्रति समानता व आस्था का व्यवहार करते हैं। अजमेर की प्रसिद्ध दरगाह आने वाले तीर्थयात्रियों में अधिकांश सम्पन्न [illegible] होते हैं। इसके विपरीत अजमेर के निकट ही हिन्दुओं का प्रसिद्ध और [illegible] बड़ा तीर्थ पुष्कर है उसमें सैलानियों एवं व्यापारियों के अतिरिक्त [illegible] ही कोई गैर हिन्दू तीर्थयात्रा की दृष्टि से जाता है। वास्तव में देखा जाए तो हिन्दुओं का तथाकथित राजनैतिक वर्चस्व भी केवल प्रचार मात्र [illegible] क्योंकि अल्पसंख्यकों के ये धार्मिक संगठन या राजनैतिक दल केन्द्र में तो दूर अधिकांश राज्यों तक में सत्ता में नहीं आ सके हैं।

यह सब विवेचन केवल यह सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है कि जिस भय और आशंका के कारण धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपनी स्वतन्त्र शिक्षण संस्थाओं का यह विशेष अधिकार दिया गया है वह सर्वथा निराधार है। इतना ही नहीं उपयुक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि यदि आज किसी की धार्मिक स्वतन्त्रता को खतरा है अथवा संरक्षण देने की आवश्यकता है तो वह तथाकथित बहुमत का हिन्दू धर्म है। △

स्वत्वाधिकार आर्य समाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एवं संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स, बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर में मुद्रित एवं आर्य समाज भवन अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र
"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 शनिवार 30 मई 1987
अंक 7 प स.-43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

ज्येष्ठ शु० 3 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आर्य-विचारकों द्वारा--

आर्य समाज की वर्तमान स्थिति पर चिंता व्यक्त

सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध जी ने सभा द्वारा आर्य समाज की वर्तमान स्थिति के सम्बध मे सुझाव देने के लिये नियुक्त समिति द्वारा प्रस्तुत की गई सिफारिशो पर पुन व्यापक विचार करने का आदेश समिति के सयोजक श्री दत्तात्रेय जी आर्य को दिया था।

समिति के सयोजक श्री दत्तात्रेय जी ने देश के प्रमुख आर्य विचारको-विद्वानो को इन सुझावो पर व्यापक रूप से विचार विमर्श करने हेतु निमन्त्रित किया। निमन्त्रित आर्य विद्वानो का इस सदर्भ मे 20, 21 एव 22 अप्रैल 1987 को आर्य समाज, मदिर मार्ग, नई दिल्ली मे आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध सन्यासी डा० स्वामी सत्य-प्रकाश जी की अध्यक्षता मे सम्मेलन हुआ। आर्य विचारको द्वारा तीन दिन तक विचार विमर्श करने के पश्चात् सर्व सम्मति से प्रत्येक बिंदुओ पर मान्य सिफारिशो के आधार पर अतिम रिपोर्ट तैयार की गयी। 22 अप्रैल को साय 5 बजे समिति के सयोजक श्री दत्तात्रेय (वाब्ले) आर्य के नेतृत्व मे आर्य विचारको के शिष्ट-मडल ने अतिम रिपोट सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्दबोध जी को प्रस्तुत की। शिष्टमडल मे—सर्व श्री डा आनन्द प्रकाश, उपमत्री सार्वदेशिक सभा, के देवरत्न आर्य अतरग सदस्य सार्वदेशिक सभा, दौलतराम चड्ढा अतरग सदस्य सार्वदेशिक सभा, मगलसेन चोपडा, अतरग सदस्य सार्वदेशिक सभा सम्मिलित थे।

आर्य जगत् की जानकारी हेतु हम शिष्टमडल द्वारा सार्वदेशिक सभा प्रधान को दिया ज्ञापन, स्वामी सत्यप्रकाश का आर्यों को चेतावनी पूर्ण उदबोधन तथा समिति की अतिम रिपोट को अविकल रूप से प्रकाशित कर रहे है।

—सपादक

शिष्टमंडल द्वारा स्वामी आनन्दबोध जी को दिया गया ज्ञापन

विषय —आर्य समाज के सबध मे सभा द्वारा नियुक्त उपसमिति की सिफारिशें।

माननीय स्वामी जी,

सार्वदेशिक सभा द्वारा सन् 1982 मे आर्य समाज की वर्तमान स्थिति तथा भावी कार्यक्रम के सबध मे आचार्य दत्तात्रेय (वाब्ले) आर्य के सयोजकत्व मे सर्व श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती, प्रो, शेरसिंह जी प्रधान, हरियाणा आर्य प्रतिनिधि सभा श्री वीरेन्द्रजी, प्रधान, आर्य प्रतिनिधि सभा पजाब तथा डा भवानीलाल जी अध्यक्ष दयानन्द शोधपीठ पजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ की जो उप समिति नियुक्ति की गई थी, उसकी अन्तरिम रिपोर्ट सन् 1983 मे सभा को प्रस्तुत की गई। जिस पर आपके आदेशानुसार उप नियमो मे सम्भावित संशोधन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे सन् 1983 और पुन सन् 1986 मे आर्य समाजो, प्रतिनिधि सभाओ और प्रमुख आर्य विद्वान पुरुषो की सम्मतियाँ प्राप्त की गई, जिनसे स्पष्ट है कि उप समिति की अधिकांश सिफारिशो को बहुमत का स्वागत और समर्थन प्राप्त हुआ है।

आपके द्वारा इस रिपोर्ट पर प्राप्त सम्मतियो के बारे मे और अधिक व्यापक रूप से विचार करने की आवश्यकता बताई गई और तदनुसार आपके आदेश पर सयोजक महोदय ने देश भर के लगभग 20-25 आर्य प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन निमन्त्रित किया।

इसका प्रथम अधिवेशन डा स्वामी सत्यप्रकाश जी की अध्यक्षता मे 20 अप्रैल 1987 को आर्य समाज मन्दिर मार्ग देहली मे सम्पन्न हुआ। सर्व प्रथम अध्यक्ष पद से स्वामीजी ने आर्य समाज के सैद्धान्तिक पहलुओ तथा गौरवपूर्ण-कार्यों और इतिहास की पृष्ठ भूमि मे उसकी वर्तमान स्थिति तथा समस्याओं पर अपना लिखित एव मूलत तात्विक विवेचन प्रस्तुत किया। जो इस आवेदन के साथ सलग्न है। सयोजक महोदय ने उपसमिति की नियुक्ति और उसकी रिपोर्ट पर 3 वर्षो मे की गई कार्यवाही से उपस्थित सज्जनो को अवगत कराया। तत्पश्चात् उपस्थित आर्य विचारको ने अपने-अपने विचार व्यक्त करते हुए आर्य समाज की वर्तमान स्थिति पर चिन्ता करते हुए और उसके सामने उपस्थित समस्याओ का वर्णन करते हुए अनेक सुझाव दिये। श्री मोहनलाल जी मोहित (मौरिशस) ने भी उपस्थित होकर अपने विचार व्यक्त किए।

अन्त मे सर्व सम्मति से निश्चित किया गया कि कल अर्थात् 21 अप्रैल को प्रात 10 बजे पुन सम्मेलन की बैठक की जाय जिसमे आज के सुझावो सहित उपसमिति के प्रत्येक बिंदु पर विचार करने के बाद उसे सार्वदेशिक सभा द्वारा शीघ्र कार्य करने के लिए प्रस्तुत किया जाय।

तदनुसार आज दि 21-4-87 को स्वामी सत्यप्रकाश जी की अध्यक्षता मे पुन अन्तरिम रिपोर्ट के प्रत्येक बिन्दु पर विचार करने के पश्चात् कुछ सशोधनो के बाद उप-समिति की रिपोर्ट जिस रूप मे स्वीकार की गई व साथ सलग्न है।

सयोजक के अतिरिक्त सम्मेलन मे सार्वदेशिक सभा की अतरग सभा के जो सदस्य उपस्थित थे, उन सबके हस्ताक्षरो से यह सशोधित रिपोर्ट अब आपकी सेवा मे प्रस्तुत है। आशा है कि कई वर्षों से विचाराधीन इस अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पर सार्वदेशिक सभा अपनी विशेष बैठक यथाशीघ्र बुलाकर इन सुझावो को कार्यान्वित करेगी और उनमे से जिनके लिए आवश्यक हो उन पर आर्यसमाज के उपनियमो तथा सार्वदेशिक सभा के सविधान मे जरूरी सशोधन करने के लिए तुरत कार्यवाही करेगी।

हम है आपके आर्य बन्धु
शि म के सदस्यो के हस्ताक्षर

△ △

सम्पादकीय

एक नजर इधर—

आर्य समाज का पुनर्गठन क्यों ?

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 7 अप्रैल 1875 ई चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को बम्बई नगरी मे आर्य समाज' की स्थापना की थी । 1975 ई भारत की राजधानी दिल्ली मे आर्य समाज की स्थापना शताब्दी मनाई गई थी । उस अवसर पर आर्य समाज की विराट प्रचण्ड शक्ति का दिग्दर्शन हुआ था । जो जयघोष आकाश मे गजायमान हो रहे थे उनमे से एक था "आर्य समाज ने क्या किया, सौ साल मे कमाल किया ।' सचमुच स्वामी श्रद्धानन्द, प लेखराम, गुरुदत्तजी, लाला लाजपतराय, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी, महाशय कृष्ण, आनन्द स्वामी जी के समय आर्यसमाज की क्रान्तिकारी विचारधारा का बहुत तेजी से विस्तार हुआ था और यह सही अर्थों मे एक सार्वभौमिक सगठन बन गया । देश-विदेश मे पाच हजार के लगभग आर्य समाजें स्थापित हो चुकी है, हजारो की सख्या मे स्कूल कालेज,पाठशालाए, गुरुकुल स्थापित हो चुके । भारत के पुनर्जागरण एव राष्ट्रीयता तथा स्वाधीनता सग्राम मे आर्य समाज का अभूतपूर्व योगदान रहा । सचमुच आर्य समाज का गौरवपूर्ण इतिहास रहा है ।

मोर अपने पखो को देखकर आनन्द मे निमग्न होकर झूम उठता है परन्तु जब अपने पैरो को देखता है तो आखो से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है । ठीक यही स्थिति आज स्थापना के 112 वर्ष बाद आर्य समाज की है । हम आज आत्मालोचन की आवश्यकता है । यदि यह कहा जाय कि आज आर्यसमाज म अनार्यों का बहुमत हो गया है चुनावी दल-दल मे आर्यसमाज का सगठन ऊपर से नीचे तक फूटपरस्ती, गुटबाजी, कुर्सीपरस्ती का शिकार होकर अपने मूलमन्तव्य 'ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है" तथा 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' से बहुत पीछे हट गया है । वेदो के आचार को भुला बैठा है । आर्य समाज म युवको का नही के बराबर प्रवेश हो रहा है । बूढे लोग सत्सगो मे आ जाते है, सत्सगो मे उपस्थिति भी नही के

(शेष पृष्ठ चार पर)

सम्मेलन के अध्यक्ष स्वामी सत्यप्रकाशजी का आर्यों के नाम चेतावनी पूर्ण उद्बोधन

आर्य समाज की वर्तमान स्थिति व भविष्य

स्वामी सत्यप्रकाश जी

1 1975 म आर्य समाज की स्थापना हुये एक सौ वर्ष हो गये । अब इसका प्रवेश दूसरी सदी मे चल रहा है ।

2 आर्य समाज के साथ अपने देश मे प्रार्थना समाज ब्रह्म समाज, राम-कृष्ण मिशन आदि अनेक सस्थाओ ने जन्म लिया । इसमे कई सस्थायें शिथिल हो गई कुछ आगे बढी और कुछ नई सस्थाए उत्पन्न हुई । आर्य समाज के विरोध मे सनातन धर्म सस्थाए, राम-राज्य परिषद, हिन्दू महासभा, विश्व हिन्दू परिषद, राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ आदि सस्थाए उत्पन्न हुई । कुछ ने आर्य समाज का प्रत्यक्ष विरोध किया और कुछ के साथ हमारा स्नेह सम्बन्ध भी रहा । इस स्नेह का हमारी गतिविधि पर उचित व अनुचित तथा प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभाव पडा ।

3 सभी विश्वव्यापी आदोलन पिछले सौ ड्ढ सौ वर्षो म जन्मे, बढे तथा विकृत हुए तथा कुछ समाप्त भी हो गए और कुछ की रूप-रेखाए पूर्णतया परिवर्तित हो गई ।

4 सभी महान् आन्दोलनो का पिछले इतिहास का विवरण रहा है ।

5 आज की इस विचार गोष्ठी का उद्देश्य भी आर्य समाज का मूल रूप व वर्तमान रूप तथा भविष्य इन तीनो पर विचार करना है । प्रसन्नता की बात है कि सार्वदेशिक सभा के तत्वावधान मे तथा श्री वाब्ले जी के सयोजन मे और मेरी अध्यक्षता मे आप यह गोष्ठी कर रहे हैं ।

6 आपको पूर्ण स्वतत्रता है कि इस गोष्ठी मे गम्भीरता से समस्त आग्रहो को छोड कर आप चिंतन करें । कभी-कभी मैं भी अपने कुछ विचार दूगा तथा वाब्ले जी भी देंगे । पर आप निःशक और उदारता से इन पर विचार करें ।

7 महर्षि दयानन्द ने बडे विस्तार से अपने सिद्धान्तो को हमारे समक्ष रखा । यह हमारी आधार शिला है । कृपया आप सोचें कि कही हम इन मौलिक सिद्धातो से समझौता करने को तो तैयार नही हो गये । विशेषतया अपने पडौस मे हिन्दुओ के साथ । मेरा ऐसा ख्याल है कि बहुत सी बातो म हमने उनके समक्ष अपना सिद्धात पक्ष (मूर्ति पूजा व अवतारवाद) स्पष्ट रखना बद कर दिया है । इसका ही यह प्रभाव हुआ कि स्वतत्रता के बाद हिदुओ में अनेक गुरु, अनेक बाबा व नये देवी देवता उत्पन्न हो गये । तथा अनेक अन्ध विश्वास बढे । क्या यह सब हमारी ढिलाई की वजह से तो नही हुआ जिससे देश आगे नही गया तथा पीछे गया और नैतिकता की दृष्टि से भी राष्ट्र का पतन हुआ ।

8 आर्य समाज न केवल भारतीय हिंदुओ के लिए था इसका दृष्टिकोण मानव मात्र के लिये था । क्या हम इस पर आप विचार करने की इच्छा रखेंगे कि अन्य भारतीय कुछ सप्रदाय भारत भर से बाहर भी विदेशियो मे प्रचलित हुए, लेकिन आर्य समाज हिन्दी भाषी हिन्दुओं के बीच मे क्यो केन्द्रित रह गया ।

9 आर्य समाज के दस सिद्धात तथा वेद के मन्तव्य सबको स्वीकार्य हैं, क्या हमने साथ ही साथ यह भी सोचा कि इनको मानना ही केवल वैदिक धर्म नहीं है । अपनी मध्यकालीन परम्पराओ से छुटकारा पाना भी उतना ही आवश्यक है । उदाहरणतया मेरी अपनी आस्था है कि—जो मूर्ति पूजा करता है, उसको यज्ञ करने का कोई अधिकार नही है । यज्ञ के बन्द होने से मूर्तिपूजा प्रारम्भ हुई । और अब भी मूर्ति पूजक परमात्मा और प्राकृतिक शक्तियो के स्थान मे ऐतिहासिक व्यक्तियो, काल्पनिक मिथ्या तथा चमत्कार मे आस्था रखते हैं । जहा चमत्कार है वहाँ आस्तिकता लुप्त हो जाती है । मेरा अभिप्राय है कि प्रत्येक हिन्दू को बताना होगा कि वैदिक सिद्धान्ती बनने के लिए आपको कौनसी आस्थाए छोडनी होगी ।

10 क्या ऐसा तो नही है कि भारतीय राजनीतिक परिस्थितियो के कारण हमने मुसलमानो व ईसाइयो के प्रति कटुता उत्पन्न कर दी है । तथा यह कटुता हमारे रास्ते मे विदेशो मे काम करने के लिए बाधक हो रही है । जो प्यार हमने अपने पडौसी हिन्दू को यहा दिया है, वही प्यार हमें विदेशो मे वहा के बौद्धो, ईसाईयो तथा मुसलमानों को देना होगा । मैं कोई भी बात आपसे आग्रह पूर्वक नही कर रहा हू । आप स्वतन्त्रता पूर्वक विचार करें ।

11 हमने कार्य सचालन के लिए आर्य सभाए प्रतिनिधि सभाए, सार्वदेशिक सभा व अन्य प्रकार के सगठन बनाए है । आपको सोचना होगा कि क्या ये सगठन आज विघटन का काम तो नही कर रहे है । महर्षि दयानद ने इस युग की स्थितियो को समझते हुए हमे जनतान्त्रिक सगठन प्रणाली दी थी । क्या हमारे सगठन की वर्तमान स्थिति किसी दूसरी दिशा मे चिन्तन करने के लिए तो बाध्य नही कर रही है । क्या आर्य समाज की जनता आज उतनी ही अनैतिक तो नही हो गई, जितनी देश की समस्त जनता । अब क्या परस्पर की कलह महर्षि दयानन्द की कल्पना का अत्यत विकृत रूप तो नहीं है ।

12 मैं यह मानता हूं कि हिन्दू भारतीय समाज का न्यूनतम स्तर (जीरो लेवल) है । जो भी कोई आस्था वाले इस देश से अपनी आस्थाओ से गिरेगा वह हिंदू कहलाने लगेगा । चाहे जैन हो, चाहे नास्तिक या अन्य सम्प्रदाय वाले और आर्य समाज भी अपनी आस्थाओ से गिरकर हिन्दू बन जावेगा । मुझे कुछ-कुछ ऐसा आभास दिखता है । ⊙

आर्य समाज की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य के सम्बंध में सार्वदेशिक सभा को प्रस्तुत रपट

आचार्य श्री दत्तात्रेय जी के संयोजकत्व मे सार्वदेशिक सभा द्वारा आर्य-समाज के भावी कार्यक्रम तथा पुनर्गठन के सबध मे नियुक्त उप-समिति की ओर से सार्वदेशिक सभा को 1983 मे एक अतरिम रिपोर्ट पेश की गई थी। 7 अप्रैल 1983 को दीवान हाल आर्य समाज दिल्ली मे इस उपसमिति की बैठक हुई। जिसमे अतरिम रिपोर्ट पर पुनर्विचार किया गया। उसमे श्री दत्तात्रेय आर्य के अतिरिक्त स्वामी विद्यानन्द जी तथा प्रो शेरसिंह जी भी उपस्थित थे। बाकी दो सदस्यो अर्थात् श्री वीरेन्द्र जी और डॉ भवानी लाल जी भारतीय ने अपनी लिखित सम्मति प्रत्येक बिन्दु पर भेज दी। विचार-विनिमय के बाद अतरिम रिपोर्ट को कुछ सशोधनो के साथ स्वीकार किया गया। जिसे श्री दत्तात्रेय जी आर्य ने सार्वदेशिक सभा की अतरग मे औपचारिक रूप से प्रस्तुत किया। सभा ने विचार-विनिमय के बाद निश्चय किया कि उपनियमो मे सशोधन सबधी प्रक्रिया के अन्तर्गत इन्हे प्रसारित कर दिया जाए।

तत्पश्चात् जनवरी 1987 मे सार्वदेशिक सभा के प्रधानजी ने प्राप्त सम्मतियो पर और अधिक व्यापक विचार करने का आदेश दिया। तदनुसार डॉ स्वामी सत्यप्रकाश जी की अध्यक्षता मे 20 व 21 अप्रैल को आर्य समाज मदिर मार्ग में आमत्रित आर्य पुरुषो द्वारा विचार-विमर्श किया गया। इस गोष्ठी मे प्रो शेरसिंह प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, हरियाणा, श्री मोहन लाल मोहित, प्रधान आर्य सभा मौरिशस, श्री दौलतराम चड्ढा, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, महाराष्ट्र, श्री मगल सेन चोपड़ा, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा गुजरात, श्री चन्द्र किरण शर्मा कोषाध्यक्ष आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, श्री विद्यारत्न जी अधिष्ठाता-रक्षा विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, डॉ आनन्द प्रकाश जी, उपमत्री सार्वदेशिक सभा दिल्ली, कैप्टन देवरत्न आर्य, महामत्री आर्य समाज सान्ताक्रुज, बम्बई, श्री बैराती लाल जी भाटिया, मत्री-आर्य समाज हनुमान रोड, नई दिल्ली, प्रो रत्न सिंह जी निर्देशक नैतिक शिक्षा, डी ए वी मैनेजिंग कमेटी, दिल्ली, श्री रामनाथ सहगल, मत्री आर्य प्रादेशिक सभा दिल्ली, डॉ प्रशात वेदालकार, रीडर, हसराज कॉलिज दिल्ली, श्री विशम्भर प्रसाद शर्मा, मध्य प्रदेश, श्री भगाराम जी वानप्रस्थी हैदराबाद ने उपस्थित होकर विचार किया। गोष्ठी का सयोजन व सचालन आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य ने किया।

अपने प्रारम्भिक प्राक्कथन मे स्वामी सत्यप्रकाश जी ने आर्य समाज के मूल-मतव्यो एव इसकी गौरवमयी परम्पराओ की पृष्ठभूमि मे वर्तमान स्थिति तथा समस्याओ पर प्रकाश डाला। और भविष्य मे ऐसे कार्यक्रमो पर अधिक बल देने की आवश्यकता बताई। जिनसे आर्य समाज का मौलिक स्वरूप बना रहे और जनसामान्य के हित मे इसकी शिक्षाओ का अधिक से अधिक प्रचार इस दृष्टि से किया जा सके ताकि अनैतिकता व अधविश्वास की समाप्ति हो। आर्य समाज के सस्थागत रूप के साथ ही इसके आन्दोलनात्मक पक्ष पर भी ध्यान देने की आवश्यकता उन्होने बताई ताकि यह धार्मिक जडता-ग्रसित न हो जाए। और पूरे समाज को उद्वेलित के करने लिए पुन एक प्रेरक शक्ति के रूप मे खडा हो सके।

पूर्व प्रस्तुत अतरिम रिपोर्ट को आधार मानकर विचार विनिमय किया गया और आवश्यक सशोधन एव परिवर्धन के उपरात जो सर्वसम्मत सस्तुतियाँ तय हुई उन्हे अब प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रस्तुत रपट को दो भागो मे विभक्त किया गया है। प्रथम भाग के अतर्गत उन सस्तुतियो को सम्मिलित किया गया है जिन्हे अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है और जिन पर सार्वदेशिक सभा द्वारा तुरन्त कार्यवाही की अपेक्षा की जाती है। द्वितीय भाग के अतर्गत जो सस्तुतिया हैं, वे आवश्यक और उपयोगी हैं। जिन पर सार्वदेशिक सभा द्वारा उचित कार्यवाही की जानी चाहिए।

दूसरे भाग मे जो सुझाव रखे गये उनके सबध मे समिति ने सुझाव दिए कि इनको तथा अन्य प्रस्तावो को कार्यान्वित करने के लिए सार्वदेशिक सभा एक या अधिक समितिया बनाकर उनकी सिफारिशो को ध्यान में रख कर यथाशीघ्र निर्णय अथवा आवश्यक व्यवस्था करे। इन सुझावो को और अधिक स्पष्ट और निश्चित रूप देने का कार्य भी इन्ही उपसमितियो द्वारा किया जावे।

प्रथम भाग—

1 आर्य समाज को अपना पृथक् धार्मिक अस्तित्व सुरक्षित रखने का हर सभव प्रयास करना उपयुक्त होगा और इस दृष्टि से आर्य समाज के सदस्यता सबधी वर्तमान उपनियम 3 में रेखाकित सशोधन जोडकर उसे निम्न रूप मे लिखना होगा अर्थात्—

मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्य समाज के उद्देश्यो को जैसा कि नियमो मे वर्णित किए गए हैं तथा मन्तव्यो एव सिद्धातो को जो वेदो के आधार पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थो मे लिखे गये हैं, मानता और उनके अनुकूल आचरण करना स्वीकार करता हू। <u>मैं घोषणा करता हू कि ईश्वर के प्रतीक के रूप मे किसी मूर्ति या जड वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नही करता और न ही श्राद्ध और तीर्थ जैसे निषिद्ध और जन्म-विवाह और मृत्यु के अवसरो पर कोई अवैदिक काय करता हू। मैं जन्मगत जातपात तथा छुआछूत का विचार और व्यवहार दोनो मे विरोध करता हू। मैं अनैतिकता एव अधविश्वास पर आधारित किसी भी प्रचलित मान्यता को स्वीकार नही करता।</u>

निम्नलिखित नये उपनियम वर्तमान नियम 4 के बाद जोडे जाए।

(क) आर्य समाज का कोई सदस्य या अधिकारी अपने नाम के आगे कोई भी जातिसूचक उपनाम नहीं लिखेगा और सामान्यतया आर्य उपनाम का ही उपयोग करेगा।

(ख) आर्य समाज मे सदस्यो की दो श्रेणियाँ होती हैं— साधारण सभासद व आर्य सभासद।

साधारण सभासदो को उपर्युक्त सिद्धात सबधी नियमो के अतर्गत प्रवेश दिया जाए।

आर्य सभासद बन जाने के उपरात वे समाज द्वारा सचालित कार्यक्रमो मे से किसी एक या अधिक म नियमित रूप से कार्यरत रहने पर "सक्रिय सदस्य' समझे जायेंगे। ऐसे कार्यक्रमो के कुछ उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं —

1 वैदिक सिद्धातो का प्रचार प्रसार—जिनमे सन्यासी, उपदेशक, लेखक, प्रकाशक आदि सम्मिलित हैं। 2 गौ आदि पशु रक्षा 3 शुद्धि 4 सामाजिक सेवा 5 जातपाँत, छूआछूत का निराकरण 6 शिक्षा कार्य 7 महिला सुधार 8 ग्राम प्रचार आदि।

(ग) आर्य समाज के पदाधिकारी सक्रिय सदस्यो मे से ही निर्वाचित हो सकेंगे

(घ) किसी राजनैतिक दल का पदाधिकारी तथा उसका सांसद या विधान-सभा आदि मे निर्वाचित व्यक्ति आर्य समाज, आर्य प्रतिनिधि सभा या सार्वदेशिक सभा का पदाधिकारी नही हो सकेगा। ऐसे व्यक्तियो पर कार्यकारिणी आदि की सदस्यता के लिए कोई प्रतिबध नही होगा। उपर्युक्त नियमो का व्यावहारिक रूप से पालन होता है या नही, यह निश्चित करने के लिए कोई अधिकृत माध्यम आवश्यक है, अन्यथा इन उपनियमो का कोई उपयोग नही है। इस दृष्टि से सशोधित नियमो का उल्लघन होने पर सतर्कता समिति (जिसका प्रावधान वाछनीय है) को निश्चित प्रक्रिया द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार होगा, जिसमे पदमुक्ति और सदस्यता से भी पृथक् किया जाना सम्मिलित है।

2 सार्वदेशिक सभा की अतरग का गठन इस आधार पर होना चाहिए ताकि उसमे पदाधिकारियो एव कुछ विशिष्ट व्यक्तियो के अतिरिक्त ऐसे महानुभावो को सम्मिलित किया जा सके जो अपनी क्षमता और योग्यता के कारण सार्वदेशिक सभा के किसी विभाग अथवा विशेष प्रकार के कार्य को सभालने मे सक्षम

—→

हो। इस प्रकार के व्यक्ति सार्वदेशिक सभा के विभिन्न कार्यों मे क्रमबद्धता, स्थायित्व एव प्रवाह ला सकते है।

3. (23) प्रातीय आर्य प्रतिनिधि सभाओ के सविधानो मे एक रूपता का प्रावधान किया जाए। इसी प्रकार नीचे के जिला स्तर, विकास खण्ड स्तर पर व्यवस्था का प्रावधान प्रातीय सभाओ के सविधान मे रखा जाए।

4 (25) साप्ताहिक सत्सगो म उपस्थिति तथा सभासदो के शताश चन्द सम्बधी नियमो को व्यावहारिक पालन के लिए निश्चित प्रक्रिया एव व्यवस्था का प्रावधान हो तथा पदाधिकारी बनने के लिये साप्ताहिक अधिवेशनो मे 50% उपस्थिति अनिवार्य हो। पदाधिकारियो एव अतरग सदस्यो की अतरग बैठको मे 50% उपस्थिति अनिवार्य समझी जाए और यह न होने पर उस व्यक्ति को आगामी निर्वाचन मे पद ग्रहण के अयोग्य समझा जाए।

5 (30) दलगत राजनीति से आर्य समाज को पृथक रखने तथा उसके व्यापक धार्मिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए उपनियमो मे आवश्यक प्रतिबधो का समावेश किया जाए। जैसे समाज भवनो मे राजनैतिक सभाओ सम्मेलनो तथा उत्सवो मे दलगत राजनीति सम्बधी व्याख्यानो तथा राजनैतिक निर्वाचनो मे आर्य समाज की ओर से किसी राजनैतिक पार्टी के समर्थन या विरोध का निषेध किया जाए।

6 (37) आर्य समाज के आतरिक विवादो का सार्वदेशिक सभा एव प्रतिनिधि सभाओ की न्याय सभाए निपटाया करें ताकि अतरग का समय सगठनात्मक एव रचनात्मक कार्य मे लगे।

7 (38) आर्य समाज मदिरो मे दैनिक सत्सगो की व्यवस्था की जाए जिनमे सध्या हवन, वेद पाठ, भजन आदि का नियमित प्रबध हो।

8 जनगणना म अपने को 'आर्य' लिखाने का प्रावधान उपनियम द्वारा किया जाए। इसी प्रकार आर्यो के सस्कार विशेषकर यज्ञोपवीत व विवाह सस्कार, व्यवस्था एव विधि-विधान की दृष्टि म यथासम्भव आर्य समाज भवन मे ही किये जाए।

दूसरा भाग—

1 आर्य समाज की शिक्षण सस्थाओ की प्रबध-समितियो मे बहुमत तथा कम से कम मुख्याध्यापको और आचार्यो की आर्य समाजी होने की व्यवस्था की जाए।

2 पुरोहित प्रणाली-प्रशिक्षण, वेतन तथा नियन्त्रण की व्यवस्था की जाए। आर्य समाज के माध्यम से शुद्ध हुए व्यक्ति को आर्य उपनाम देकर आर्य समाज का सहायक सदस्य और बाद मे पूर्ण सदस्य बनाया जाए।

3 (5) जन सामान्य म स्वाध्याय परम्परा को प्रोत्साहित करना और आर्य समाजो मे पुस्तकालयो की अनिवार्य स्थापना का आदोलन चलाना।

4 (12) केंद्रीय पुस्तकालय, शोध केन्द्र की स्थापना की जाए।

5 (13) प्रचार शैली मे सुधार जैसे व्यक्तिगत सम्पर्क, प्रचारार्थ यात्रा, निशुल्क साहित्य वितरण आदि।

6 (14) प्रशिक्षण केन्द्र जिनमे उपदेशक तथा कार्यकर्ता पूरे समय के लिए तैयार किए जाए, जिनका सचालन एक केंद्रीय समिति द्वारा किया जाए।

7 (15) आर्य शिक्षण सस्थाओ का केंद्रीय सगठन बने तथा विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमो [जिससे आर्य समाज का सबध है] मे सुधार किया जाए और महर्षि दयानन्द के दर्शन से सबधित पुस्तको को स्थान दिलाया जाए।

8 (19) विभिन्न स्तरो पर आर्य विद्वानो की गोष्ठिया आयोजित की जाए।

9 (20) वेद के आधार पर सत्य विद्याओ का अधिकृत विश्लेषण और विवेचन।

10 (22) रामायण, महाभारत आदि लोकप्रियग्रन्थो के वैदिक सिद्धात सबधी सस्करण प्रकाशित किये जाए।

11 (26) शिक्षण सस्थाओ की वर्तमान स्थिति पर विचार तथा उनमे धर्मशिक्षा के समान पाठ्यक्रम की व्यवस्था।

12 (27) गुरुकुलो का केंद्रीय सगठन बनाया जाए।

13 (28) आर्य समाज समर्थक समाचार पत्रो का प्रकाशन किया जाए।

14 (29) स्वामीजी की जीवनी तथा आर्य समाज के इतिहास का प्रचार।

15 (31) राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के विभिन्न क्षेत्रो मे कार्यरत आर्यो का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना।

16 (32) ग्रामीण क्षेत्रो के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित प्रचारको की व्यवस्था करना।

17 (33) श्रमिक वर्ग मे आर्य समाज के सघन प्रचार की व्यवस्था करना।

18 (34) ग्रामीण क्षेत्र मे भजन-सगीत तथा प्रचार-यात्राओ द्वारा आर्यसमाज के प्रचार का अभियान चलाना।

19 (35) आर्य समाज के उत्सवो पर वैदिक सिद्धातो पर उपदेश और अवैदिक सिद्धातो का खण्डन।

20 (36) युवक-युवतियो का सगठन (आर्य वीर दल, आर्य कुमार सभा, आर्य वीरागना दल आदि)

21 (37) आर्य समाजो तथा आर्य प्रतिनिधि सभाओं मे दल-बदी पर रोक (नियमित रूप से निर्वाचन, अधिकारियो के पद ग्रहण की अवधि सीमित तथा अनावश्यक हस्तक्षेप समाप्त करना)

22 (38) आर्य समाज की आन्तरिक कमजोरियो का विश्लेषण व समाधान का उपाय।

23 (40) व्यावहारिक प्रतिज्ञाएँ और उनका पालन।

24 (41) नियमित रचनात्मक कार्यक्रम यज्ञ, सध्या, स्वाध्याय, आय का 5 प्रतिशत भाग दान, मदिरो की सुव्यवस्था, पुरोहित की नियुक्ति आदि।

25 आर्य शिक्षण सस्थाओ के अध्यापको तथा विद्यार्थियो को प्रोत्साहित करने तथा उन्हे आर्य समाज के निकट लाने की दृष्टि से सम्मान एव प्रतियोगिता कार्यक्रम का आयोजन करना।

26 सन्यास तथा वानप्रस्थ की दीक्षा केवल अधिकृत माध्यम द्वारा ही, निश्चत योग्यता प्राप्त व्यक्तियो को ही दी जाए।

27 आर्य परिवार सघ और उसमे रोटी-बेटी के व्यवहार की व्यवस्था।

28 पदाधिकारियो तथा उनके परिवार जनो से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देंगे।

29 आकाशवाणी व दूरदर्शन द्वारा वेद प्रचार।

30 आर्य सभासदो के परिवारो मे नियमित रूप से वैदिक सिद्धातो के प्रशिक्षण की व्यवस्था करना। विशेष कर नवागन्तुक परिवारो की।

31 किसी आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रान्तीय भौगोलिक क्षेत्र मे स्थापित आर्य समाजें उस प्रान्त की प्रतिनिधि सभा से सबधित हों।

32 शतकुण्डी यज्ञो आदि अवैदिक कार्यों पर प्रतिबन्ध।

33, समाजो व उसकी सस्थाओ की सपत्ति के अधिकार तथा प्रबध के लिये अखिल भारतीय कानून या एक्ट।

आर्य समाज का पुनर्गठन क्यो ?

(दूसरे पृष्ठ का शेष)

बराबर रहती है। शताश, दशाश, 25% उपस्थिति अधिकाश आर्यों के विवाह आदि सम्बन्ध जन्मगत जाति आधार पर होते हैं। इतना ही नही पौराणिको (सनातनियो) के सामाजिक कुरीतियों तथा अंध विश्वासो का भी आर्य परिवारों मे बोलबाला है। जो आर्य समाज एक प्रचण्ड आग की भट्टी था, वह अब सर्वथा निष्क्रिय तथा गतिहीन हो गया है।

अत पुराने मकान के जीर्णोद्धार एव रोगी शरीर के कायाकल्प की तरह ही आर्य समाज के भी पुनर्गठन की आवश्यकता है। आर्य समाज के नियम उपनियमो, सिद्धातो, मतव्यो को अपने मन वचन, कर्म मे धारण करने वाले आर्य समाजियो को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है। आर्य समाज की पृथक् पहचान की आवश्यकता है। आर्य समाजियो के गुणात्मक स्तर को आगे ऊँचा उठाने की आवश्यकता है। भले ही हमारी सख्या कम हो परन्तु यदि हम सुसगठित होकर सशक्त होगे तो हम राष्ट्रीय जीवन धारा म प्रबल वर्चस्व स्थापित कर सकेंगे। उसी स्थिति मे आर्य समाज अपनी सार्वभौमिकता, प्रखरता सैद्धातिकता, सत्य निष्ठा, कर्त्तव्य परायणता का परिचय दे सकेगा। अन्यथा नमक की खान मे जैसे सब कुछ नमक ही हो जाता है उसी प्रकार हम भी पौराणिक समाज की दुलपन तथा समझौतावादी परम्परा के कारण अपने अस्तित्व को ही गवा बैठेंगे।

बडे गौर से सुन रहा था जमाना,
हमी सो गये दासता कहते कहते।

अत आज इस बात की प्रबल आवश्यकता है कि आर्य समाज को सक्रिय, प्राणवन प्रखर सगठन बनाने हेतु उसका पुनर्गठन किया जाय। ईश्वर हमे सद्बुद्धि और सद्शक्ति प्रदान करे कि हम महर्षि दयानन्द सरस्वती के सही अर्थो मे वास्तविक अनुयायी बन सकें।

—रामसिंह

आर्य समाज की कार्यविधि, सगठन, पुनर्गठन एक समाज शास्त्रीय अध्ययन

(गताक से आगे)

सत्संग में उपस्थिति के प्रति दृष्टिकोण

सकलन कर्ता—डा कृष्णपालसिंह दयानद शोधपीठ अजमेर

प्रारम्भ से ही आय समाज मे सत्सग की प्रमु ता रही है और स्व सिद्धान्तो वैदिक मान्यताओ के प्रचार का मुख्य साधन रहा है। वतमान समय मे भी सत्सग सगठन के मुख्य केन्द्र के रूप मे विद्यमान है और इसके माध्यम से ही वैदिक धम की जानकारी जनसमुदाय को दी जाती है। अत उपयक्त चर्चित विषय के सबध मे जो तथ्य सामने आये हैं वह इस प्रकार है —

यह तथ्य महत्वपूण है कि आध से अधिक उत्तरदाता आय समाज के सत्सग मे नियमित रूप से जाते हैं अथवा उन्ह इस बारे मे सत्सग के कायक्रमो से सन्तोष है। दूसरी और 15 प्रतिशत व्यक्ति वे भी हैं जो सत्सग में रुचि रखते हैं लेकिन समयाभाव के कारण सत्सग मे नियमित रूप से नही जा पाते हैं। एक प्रतिशत इस कारण से सत्सग मे नही जा पाते हैं या तो आयसमाज भवन उनके नगर म नही है अथवा उनके निवास से बहुत दूरी पर है।

कुछ उत्तरदाताओ की यह भी शिकायत है कि आय समाज के सत्सग के कायक्रम कम रुचिकर होते हैं। इसी कारण लगभग 7 प्रतिशत की अभिरुचि होने पर भी सत्सग मे उपस्थित नही होते हैं। 4 प्रतिशत के अनुसार उनकी आय समाज और उसक सत्सग मे आस्था नही है यद्यपि वे भी यह अनुभव करते हैं कि आय समाज एक राष्ट्रहित चिन्तक सुधारक सस्था है तथापि किन्ही कारणो से वे सत्सग मे अथवा उसके कायक्रमो मे सहयोग प्रदान नही करते हैं।

स्पष्ट है कि लगभग एक तिहाई उत्तरदाता सत्सग मे नियमित रूप से नही जाते है जिसके कारण विचारणीय हैं। वास्तव मे आय समाज के सत्सगो एव कायक्रमो को अधिक उपयोगी तथा लोकप्रिय बनाने की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है। यह भी एक तथ्य है कि सत्सग मे अधिकाश रूप से वे ही व्यक्ति जाते हैं जो समाज के सदस्य हैं।

सदस्य बनने के सम्बन्ध में मन्तव्य

आय समाज देश भक्ति की भावना से ओत प्रोत देश हितकारक, समाज सुधारक इत्यादि रूप मे प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि पयन्त इसी विचार सारणी मे प्रवाहित हो रहा है। इसी कारण से समाज के कायक्रमो सत्सगो के प्रति जनता की अभिरुचि बनी हुई है दूसरे समाज के दस नियम भी सावभौमिक रूप मे होने से व्यक्ति समाज के सदस्य बनने की अभिलाषा रखते रहे हैं। वतमान समय मे हमने उत्तरदाताओ से समाज क सदस्य बनने के विषय मे जानकारी जाननी चाही तो निम्नलिखित दृष्टिकोण प्राप्त हुआ है।

65 प्रतिशत ने आय समाज के सदस्य बनने की इच्छा अभिव्यक्त की है। जबकि 32 प्रतिशत उत्तरदाताओ ने अपनी स्पष्ट राय नही प्रदान की है। इसके कारणो पर आय समाज के उत्तराधिकारी नेतृत्व वग को विशेषरूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। 3 प्रतिशत ने सदस्य न बनने के सम्बन्ध मे अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया है। अत तथ्यो के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज के सिद्धा तो एव कायविधि के प्रति आस्था होने से दो तिहाई उत्तरदाताओ ने सदस्य बनने के पक्ष मे अपनी राय दी है। दूसरे जिन्होने स्पष्ट राय नही दी है उनके कारणो पर गम्भीर विवेचन तथा अनुसधान की आवश्यता है।

सदस्यता त्यागने के कारण

ऊपर वर्णित तथ्यो मे यह तथ्य स्पष्ट विदित हो रहा है कि 32 प्रतिशत उत्तरदाताओ न सदस्य बनने अथवा न बनने मे कोई स्पष्ट राय नही दी है। इस कारण से यह जानना भी आवश्यक हो गया कि क्या इन व्यक्तियो ने अथवा अन्य व्यक्तियो न समाज की सदस्यता त्याग दी है यदि त्याग दी है तो उसके क्या कारण हो सकते हैं? इस विषय म हमे उत्तरदाताओ से जो तथ्य प्राप्त हुए हैं वे निम्न प्रकार हैं —

19 प्रतिशत उत्तरदाताओ न यह सम्मति अभिव्यक्त की है कि उनकी अन्य धम मे आस्था हो गई है इस कारण से सदस्यता त्याग दी है अथवा सदस्य न बनने की सम्मति दी है। 8 प्रतिशत व्यक्तियो ने सदस्यता त्यागने का यह कारण बतलाया है कि उनका अन्य आय समाजियो से मतभेद है। 4 प्रतिशत का यह मानना है कि आयसमाज मे सौहार्दपूण वातावरण का अभाव है। इस कारण सदस्यता त्याग दी है। जबकि 60 प्रतिशत व्यक्तियो ने अपनी कोई स्पष्ट राय नही दी है। इसका कारण यह भी हो सकता है या तो वे व्यक्ति समाज के सदस्य है अथव बनने के इच्छुक है।

(शेष आगामी अंक मे)

भोर फूटेगी

— लाखनसिह भदौरिया सौमित्र —

भोर फूटेगी अधरी रात रह सकती नही है।
उठ रहा ऐसा धुआ घर मे कि दम ही दम घट रहा है।
यह अधेरा है कि उपवन मालियो से लुट रहा है।
आ रही आंधी उमो की स्तब्धता छाया हुई है
लग रहा है शा त कण कण से बवण्डर उठ रहा है।
पीर के मुख पर हथली रख चुपाना चाहते हो-
क्रान्ति की आवाज ऐसे शा त रह सकती नही है।
भोर फटेगी अधरी रात रह सकती नही है॥

धैय की काफी परीक्षा हो चुकी है हो रहा है
मौन का यह अथ मत समझो बगावत सो रही है
बेबसी चुप साध अंतिम सास अब लेती नही है-
अश्रु की हर बूद विप्लव बीज पल पल बो रही है।
आंसुओ के देश मे देखो मशालें जल उठी हैं।
आख की मेहमान बन बरसात रह सकती नही है।
भोर फूटेगी अधरी रात रह सकती नही है॥

साझ से आख मिचौनी खेलकर जी भर चुकी है
षोडशी बन युग निशा अठखेलिया सब कर चुकी है।
चाँद के सग कर दिये हैं तम पिता ने हाथ पीले
अब विदाई का सभी श्रृगार रजनी कर चुकी है।
लो उषा ने माग मे सिन्दूर कब का भर लिया है-
तारको की यह अटल बारात रह सकती नही है।
भोर फूटेगी अधरी रात रह सकती नही है॥

सूय का रथ आ रहा है जगमगाता नव-किरण से
शान्ति के नूपुर ध्वनित हैं क्रान्ति के उठते चरण से,
भोर आत्म-विभोर हो मिलने चला है अलि-कण से
लो प्रभाती के सुनो स्वर पछियो के जागरण से
अशुमाली की तुम्हे अभ्यथना करनी पडेगी-
मुट्ठियो मे बन्द स्वर्णिम प्रात रह सकती नही है।
भोर फूटेगी अधरी रात रह सकती नही है।

पता—भोजपुरा मैनपुरी (उ प्र

— अगला अक —

- धम और राजनीति
  —प क्षितीश वेदालकार
- सनातन धम का स्वरूप
  —डा महाश्वेता चतुर्वेदी
- डा कृष्णपाल सिह के लेख की अतिम किश्त
  व
  कविवर लाखनसिह भदौरिया की कविता।

आर्यसमाज मसूदा का निर्वाचन

प्रधान —दुर्लभसिह

मत्री —जवाहरलाल देवल

कोषाध्यक्ष —उदयसिह चान्दावत

पुस्तकालयाध्यक्ष देवमुनि आय

3–श्री रामचन्द्र शर्मा-
कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्व
विद्यालय [illegible]
हरिद्वार [30५0]

बाल सदन हेतु अपने जीवन भर की कमाई 30 हजार रुपये का चक सदन के प्रधान दत्तात्रेय आर्य को देते हुए दानदाता मालचन्द ।

अनुकरणीय दान

अजमेर 17 मई । स्थानीय भग वानगंज निवासी श्री मालचन्द देवाणा ने अपने परिवार अर्थो द्वारा की जा रही उपेक्षा से प्रेरित होकर अपने जीवन भर की सारी कमाई 30 000 रुपये दयानन्द बाल सदन हेतु सदन के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य को दान कर दी है ।

सदन प्रधान श्री दत्तात्रेय जी ने देवाणाजी के दान को अनुकर णीय बताते हुए कहा कि इससे पूर्व भी हमें कई व्यक्तियों ने लाखों रुपये दान के रूप में दिये हैं । परन्तु स्व डा सूयदेवजी शर्मा व देवाणा जी के दान को मैं विशेष महत्व देता हूं क्योंकि इन दोनों महानुभावों ने अपने जीवन की सारी पवित्र कमाई दान दे दी । एव अपने भविष्य के गुजारे के लिए एक पैसा भी अपने पास नहीं रखा । आचार्य जी ने श्री देवाणा को आश्वासन दिया कि सदन आपको जीवनपयत कोई कष्ट नहीं होने देगा ।

वैदिक गणित : सर्वश्रेष्ठ गणित

वैदिक गणित की किताब उन चद किताबों मे है जो छपती तो भारत म है पर बिकती विदेशो मे है। इग्लड और अमेरिका के तमाम अनेक शिक्षा सस्थानो मे वदिक गणित पढाया जा रहा है। लदन स्कूल आफ इकोनोमिक्स मे यह किताब कोस मे है । अमेरिका आस्ट लिया और हालड मे भी कोस मे इसे पढाया जाता है । लदन के ही मेरी वाड सेंटर मे फिल हाल एक कोस चलाया जा रहा है जिसमे बताया गया है कि 10+2 प्रणाली के समकक्ष वहा की कक्षाओ का गणित वदिक गणित प्रणाली द्वारा पढाया जा सकता है इस पूर्ण तया भारतीय प्राचीन वैदिक गणित पर इग्लड और अमेरिका मे बाकायदा रिसच हो रही है । अब तक चार किताब भी प्रकाशित हो चुका है। डा नरेंद्र पुरी के अनुसार वदिक गणित की लोकप्रियता का एक कारण बेशक इसकी व्यावहारिक उपयोगिता है । ग्यारह महीने केवल दो घटे रोज वदिक गणित का अभ्यास करने से इटरमीडियेट गणित पाठयक्रम के बराबर योग्यता हासिल की जा सकती है । गणित की ऐसी तमाम प्रतियोगिताओ मे जहा कैल्कुलेटर का प्रयोग वर्जित है । वैदिक गणित प्रणाली का ज्ञान वरदान है । कई तरह की गणनाओं में तो वैदिक गणित कैल्कुलेटर को भी पछाड़ सकता है ऐसा डा पुरी का दावा है।

—जनसत्ता के सौजन्य से

सस्थागत प्रशासनिक कार्यों मे हिन्दी को प्रमुखता दें

दिल्ली डी ए वी कालेज प्रबधकर्ती समिति ने अपने सभी सस्था प्रमुखो को सस्था के प्रशासनिक कार्यों मे हिन्दी का प्रयोग करने का निदश दिया है ।

समिति के सगठन सचिव श्री दरबारीलाल ने दि 13 4 87 व 27 4 87 को सस्था प्रमुखो को भेज गये अपने परिपत्रो मे उक्त निदश दिया है ।

श्री दरबारीलाल ने सस्था प्रमुखो से यह भी अनुरोध किया है कि वे छात्रो को अभिवादन के लिये नमस्ते शब्द का प्रयोग करने की प्रेरणा दें तथा नेकटाई को उनकी वेशभूषा से पृथक कर दें ।

हिन्दू नाम से जोडना दयानन्द का अपमान है

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

महर्षि दयानन्द को मात्र हिन्दुओ के साथ जोडकर रखना या उन तक ही सीमित करना ऋषि के प्रति अन्याय है। आजकल आयजगत के कुछ मान्य विद्वान नेता भी स्वामी जी को मात्र एक हिन्दू सुधारक सिद्ध करने पर तुले हुए हैं । इन व्यक्तियो में दो प्रकार के व्यक्ति हैं । प्रथम जो अपने निहित स्वार्थों के वशीभूत हो ऐसा कहते या लिखते हैं । द्वितीय-जो वतमान परिस्थितियों मे ऐसे किए जाने मे ही देश समाज का हित समझते हैं ।

हमारी दृष्टि में प्रथम प्रकार के व्यक्ति तो निर्विवाद रूप से महर्षि द्रोही हैं । हां, द्वितीय प्रकार के व्यक्ति भ्रमवश ऐसा कह रहे हैं । और उनका कोई निजी स्वार्थ इसमें नहीं है । परन्तु महर्षिवर के प्रति अपराध तो वह भी कर ही रहे हैं भले ही अन-जाने में कर रहे हों ।

इस सबध में माननीय आचार्य वेदव्रतजी अवस्थी के शब्द मननीय हैं । उनके शब्द ये हैं —'"ऋषि दयानन्द ने हिन्दू नामक किसी वर्ग के लिए कुछ नहीं मानव-मात्र के उत्थान का बीड़ा उठाया था । आर्य समाज को मात्र हिन्दू नाम से जोड़ना महर्षि दयानन्द का अपमान है" ।

*आर्यमित्र 3 मई, 1981

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

प्रो० दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश धम और हिन्दू समाज को आय समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार मूल्य रु 1 00
3 आचार सहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आय समाज हिन्दू विथाउट हिन्दूइज्म (अग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आय समाज हिन्दू धम का सम्प्रदाय नही मूल्य—50 रु

अन्य प्रकाशन—

1 आय समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु अजिल्द 16 00
—ले लाला लाजपतराय
2 धम शिक्षा (भाग 1 से 11 तक)—पूरे सट का मूल्य रु 32 00
3 दयानन्द कथा सग्रह—मूल्य रु 3 00
4 परिचय निर्देशिका (समस्त देश विदेश की आय शिक्षण सस्थाओं का परिचय)—मूल्य रु 12 00

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला –15 भाग

[प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ट्रैक्ट]

1 ईश्वर एक नाम अनेक
2 आदश म ता पिता
3 शिक्षा और चरित्र निर्माण
4 गृहस्थाश्रम का महत्व
5 स यासी कौन और कैसे हो ?
6 राज्य व्यवस्था
7 ईश्वर और वेद
8 जगत् की उत्पत्ति
9 स्वर्ग और नरक कहाँ है ?
10 चौके चूल्हे मे धम नही है
11 हिन्दू धम की निबलता
12 बौद्ध और जैन मत
13 वेद और ईसाई मत
14 इस्लाम और वदिक धर्म
15 सत्य का ग्रथ तथा प्रकाश

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत् के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित हैं एव ग्र थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो दत्तात्रेयजी आय ने किया है । ग्र थमाला के पूरे सैट का मूल्य 8/ रुपये है ।

दयानन्द शोधपीठ

दयानन्द (स्नातकोत्तर) कॉलेज अजमेर में स्थित दयानन्द शोधपीठ के लिए एक प्रोफेसर की वेतन लगभग 3000/- प्र मा अथवा 1500 2500 मे आवश्यकता है । योग्यताए निम्न प्रकार होनी चाहिये

1 मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय से एम ए या एच डी हिन्दी सस्कृत अथवा दशनशास्त्र मे द्वितीय श्रेणी
2 दस वष का स्नातकोत्तर कक्षाओ को पढाने का अनुभव
3 अनुसधान काय का अनभव अथवा योग्यता
ख्याति एव मान्यता प्राप्त विद्वान को अन्य योग्यताओ से छूट ।

आवेदन-मन्त्री आयसमाज शिक्षा सभा अजमेर को करें ।

कार्यालय अधीक्षक
दयानन्द कॉलेज अजमेर

स्वत्वाधिकार आय समाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एव सपादक रासासिंह हेतु रतनलाल गग द्वारा श्री आय प्रिन्टर्स बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आय समाज भवन अजमेर से प्रकाशित ।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 162

सृष्टि सम्वत् · 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य .
समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 सोमवार15 जून, 1987
अंक 8 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

आषाढ कृ० 4 सवन 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

चौ० साहब का निधन राष्ट्र व समाज को अपूरणीय क्षति

(पढिये पृष्ठ 4 पर– "जातिवाद विरोधी चौ० चरणसिंह")
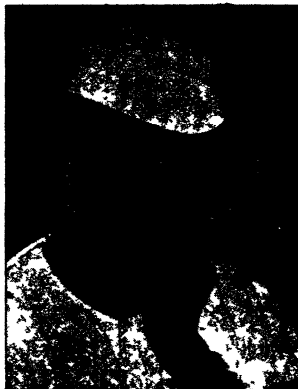
अजमेर के प्रख्यात शिक्षाविद् एव आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने भू. पू प्रधानमंत्री चौधरी चरणसिंह के निधन को राष्ट्र व समाज की महान क्षति बताया है।

चौधरी साहब के परिवार के नाम प्रेषित अपने शोक संदेश में आचार्य जी ने लिखा है, "चौधरी साहब महान देश भक्त, मूर्धन्य स्वतन्त्रता सेनानी, कट्टर आर्य समाजी, जातपात विरोधी, किसानों के मसीहा एव ईमानदार व्यक्ति थे। भारतीय राजनीति मे उन्होने अपने श्रेष्ठ व्यक्तित्व एव चरित्र के बल पर विशेष छाप छोडी है। उनके निधन से जो सामाजिक व राजनैतिक शून्यता पैदा हुई है उसकी पूर्ति होना कभी सभव नही है। शोक की इस घडी मे, मैं आपके साथ सहानुभूति प्रकट करता हूँ और परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हू कि वह चौधरी साहब की दिवगत आत्मा को सदगति प्रदान कर एव आप परिजनो को धैर्य प्रदान करे।"

इसी आशय का एक शोक प्रस्ताव आर्य समाज अजमेर ने भी चौधरी साहब के परिवार को प्रेषित कियाहै।

आर्य समाज अजमेर ने अपने शोक प्रस्ताव में कहा है कि चौधरी साहब महान आर्यनेता, किसानो व दलितो के मसीहा, ईमानदार व्यक्ति थे। ऋषि-भक्ति आप मे कूट-कट-कर भरी हुई थी। आपके निजी कमरे मे केवल ऋषि दयानन्द का चित्र था। जातिवाद व भ्रष्टाचार के आप कटटर विरोधी थे।

आपके निधन से राष्ट्र व आर्य समाज की महान् क्षति हुई। ऋषिवर के महान् सेनानी को हमारी कोटिश श्रद्धाजलियाँ सादर समर्पित हैं।

—वीरेन्द्र कुमार आर्य

गत एक माह से दिल्ली और मेरठ साम्प्रदायिक दगो की आग मे झुलस रहे हैं। इन दगो मे अब तक कई सौ व्यक्तियो की जानें जा चुकी हैं और करोडो रुपये की सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी हैं। देश मे साम्प्रदायिक दंगे पहली बार नही हुए हैं, बल्कि इस सदर्भ मे दुर्भाग्यपूर्ण उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पराधीन भारत के मुकाबले स्वतन्त्र भारत मे दगो के प्रतिशत मे वृद्धि हो गई है। गत दो वर्षों (1985-86) में ही लगभग 436 लोगो की जानें साम्प्रदायिक दगों मे गई हैं।

परतत्र भारत मे हम साम्प्रदायिक दगो के लिए अग्रेजों को दोषी समझते थे। और अपनी इस धारणा के समर्थन मे तर्क देते थे कि वे अपने कूटनीतिक महामन्त्र 'फूट डालो और राज करो' के अन्तगत हिन्दू व मुसलमानो मे दंगे कराते हैं। यद्यपि हमारी यह धारणा गलत नही थी एव सत्यता पर आधारित थी। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद हुए साम्प्रदायिक दगो ने यह सिद्ध कर दिया है कि इसके अतिरिक्त भी ऐसे कारण हैं जो कि हिन्दू व मुसलमानो के मध्य दगे भडकाने म प्रेरक का काम करत हैं।

साम्प्रदायिक दगो का सबसे बडा कारण मैं मुसलमानो की चरम सीमा तक पहुँची असहिष्णुता को मानता हू।

(शेष पृष्ठ 6 पर)

खुशवन्तसिंह का दुष्प्रचार

श्री खुशवन्तसिंह उल फजूल व सारविहीन लिखने मे अपना कोई सानी नही रखते हैं। अभी गत सप्ताह उन्होने अपने स्तंभ 'ना काहू से दोस्ती, ना काहू से बैर' मे दगो के विषय में जो निराधार बातें लिखी हैं निःसदेह उनसे पत्रकारिता की गरिमा को भारी ठेस पहुची है। आपने लिखा है—"यह अब कोई रहस्य नही रह गया कि दिल्ली और मेरठ दोनो जगह जो मौतें हुई हैं उनमे ज्यादातर मुसलमान थे और शिकार हुए अधिकतर लोग पुलिस व पी ए सी द्वारा चलाई गई गोलियो से मरे।'

देश के साधारण से साधारण आदमी को भी यह ज्ञात हो चुका है कि पी ए सी ने मलियाना गाँव मे गोली आत्मरक्षार्थ चलाई। परन्तु 'सरदार जी' फिर भी अपनी ही हाँके जा रहे हैं।

प्रभु से प्रार्थना है कि पत्रकारिता जैसे पवित्र मिशन को श्री खुशवत सिंह जी जैसे महानुभावो से बचाए।

—वीरेन्द्र आर्य

प्रधान संपादक : रासासिंह संपादक :वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन कार्या : 21010

सम्पादकीय

नई शिक्षा नीति में—

संस्कृत पर कुठाराघात असह्य

भारत सरकार द्वारा उद्घोषित नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत संस्कृत को सर्वथा उपेक्षित कर दिया गया है। पहले तृतीय भाषा के अन्तर्गत इसका थोडा बहुत अध्ययन होता था परन्तु अब दक्षिण भारतीय भाषा को त्रिभाषा सूत्र में स्थान देने पर 'संस्कृत' नई पीढी के लिये सर्वथा अनजानी हो जायेगी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आह्वान पर देश की समस्त आर्य समाजो ने 10 मई को संस्कृत दिवस मनाकर तथा नई शिक्षा नीति के अन्तर्गत संस्कृत की उपेक्षा का विरोधकर भारत सरकार से अनुरोध किया है कि संस्कृत का अध्ययन अध्यापन पूर्ववत् तथा ठोस रूप मे जारी रखा जाय। उच्च प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर संस्कृत का ज्ञान कराना अत्यावश्यक है।

संस्कृत देववाणी है। यह हमारे प्राचीन धर्म, आचार, नीति, इतिहास साहित्य और संस्कृति की वाहिका भाषा है। संस्कृत है तो भारत है, संस्कृत है तो भारतीय संस्कृति है, संस्कृत है तो भारतीयता है, संस्कृत है तो धर्म है, संस्कृत है तो आर्यत्व है।

संस्कृत के बल पर ही भारत प्राचीनकाल मे विश्वगुरु कहलाता था। संस्कृत विद्या और ज्ञान का अनुपम भण्डार है। वेद उपनिषद्, गीता, रामायण महाभारत सब संस्कृत मे है। समस्त प्राचीन वाङ्मय संस्कृत मे है। संस्कृत समस्त भारतीय भाषाओ की जननी है। उत्तरी भारत की आर्य परिवार की भाषाए तो संस्कृत की पुत्रिया है ही, दक्षिण की द्रविड भाषाओ मे 70 से 75 % तक संस्कृत के शब्द हैं। राष्ट्रीय एकता की प्रबल पोषक संस्कृत ही है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रत्येक आर्य सभासद के लिये संस्कृत का ज्ञान आवश्यक बताया था। आर्य समाज ने अपने स्थापना काल से ही अपनी पाठशाला और विद्यालयो मे संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की ओर ध्यान दिया। गुरुकुलीय शिक्षा का तो संस्कृत अनिवार्य अंग है।

अत संस्कृत की उपेक्षा भारतीय संस्कृति और धर्म पर कुठाराघात है जो सर्वथा असह्य है।

भारत सरकार द्वारा समय रहते पुनर्विचार कर संस्कृत को उसका उपयुक्त स्थान देना चाहिये। —रासासिंह

पत्र बोलते हैं—

नाम न हों, काम चाहिए

आपने पत्र का नाम अत्यन्त उपयोगी रखा है पर कार्य क्या हो सकेगा? इस विघटित समाज को ठीक करना कठिन है।

—सुरेशचन्द्र वेदालंकार
आर्य समाज मार्ग गोरखपुर (उ० प्र०)

राजर्षि का पत्र—

आर्य जगत् को जगाने वाला

यह पत्र महत्वपूर्ण है। आर्यजगत् को जगाने वाला है। परमावश्यक है। मैं इसकी उत्तरोत्तर उन्नति चाहता हूँ।

—रणञ्जयसिंह,
भूपति-भवन अमेठी (उ प्र)

शुभ—विवाह

डा ए वी उच्च माध्यमिक विद्यालय, अजमेर के प्रधानाचार्य व आर्य समाज अजमेर के मंत्री श्री रासासिंह जी की सुपुत्री **सौ पुष्पा का चि धर्मेन्द्र** से एवं दयानन्द बाल सदन की **सौ मंगली का चि ब्रह्मानन्द शर्मा** से क्रमश 3 जून व 10 जून को शुभ विवाह सम्पन्न हुआ।

आर्य पुनर्गठन' परिवार की ओर से नवदम्पत्तियो को हार्दिक शुभकामनाए।

उपसमिति की रिपोर्ट सराहनीय है

मैं आर्य समाज अजमेर के मुख पत्र 'आर्य पुनर्गठन' का नियमित अध्ययन करता हूँ, पत्र के 30 मई के अंक मे श्री दत्तात्रेय जी आर्य द्वारा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा को प्रस्तुत संस्तुतियो के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ। नि सन्देह श्री आर्य जी की संस्तुतियाँ सामयिक, उपयोगी व स्वागत योग्य हैं, किन्तु, क्या ये कार्य रूप मे परिणित हो सकेंगी? स्वामी सत्य प्रकाश जी का लेख अत्यधिक सारगर्भित एवम् मार्मिक है।

आशा है कि यह पत्र भविष्य मे और अधिक शिक्षा प्रद विचारधारा मानव समाज के समक्ष रखने मे सफल होगा।

—नवीन कुमार शर्मा
रामगंज, अजमेर।

सार्वदेशिक सभा को लिखें

मान्य आचार्य जी,

13, 14 जून को होने जा रही सार्वदेशिक सभा की अंतरंग के एजेण्डे मे उप समिति की रिपोर्ट का कोई उल्लेख नहीं है। कृपया सार्वदेशिक सभा को लिखें।

—दौलतराम चड्ढा
प्रधान, महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा
बाजेगाव, नादेड (महाराष्ट्र)

महर्षि की मूर्ति लगाइए!

आपने अभी आर्यसमाज के भविष्य के बारे मे कुछ प्रस्ताव पास किए। इससे पहले भी प्रस्ताव पास हुए हैं। कोई परिणाम नहीं निकला।

यहाँ मैंने एक महर्षि की मूर्ति लगाई है तथा एक कीर्ति स्तम्भ भी स्थापित किया है। इस पर लिखा है—

1. आर्य्यावर्त एक महान् राष्ट्र है।
2. आर्य जाति एक महान् जाति है।
3. वेद एक महान् पुस्तक है।

मेरा आपको सुझाव है कि अजमेर मे आप भी एक ऐसी ही मूर्ति व कीर्ति स्तम्भ लगवावें।

—के बी. लाल
93, शिवाजी मार्ग, देहरादून (उ प्र)

आवश्यकता

आर्य समाज शिक्षा सभा, अजमेर द्वारा संचालित तथा विद्यालयो मे

(1) दयानन्द कालेज अजमेर हेतु व्याख्याता पद के लिए निर्धारित योग्यताए कम से कम उच्च द्वितीय श्रेणी मे स्नातकोत्तर, स्नातक तथा एम फिल पी एच डी को वरीयता (1) पशु चिकित्सा (2) गणित (3) भूगोल (4) हिन्दी (5) अंग्रेजी (6) जन्तु शास्त्र।

(2 विद्यालयो हेतु—(1) व्याख्याता (हिन्दी) एम ए बी एड (2) पी टी आई तृतीय श्रेणी हा सै सी पी एड (3) गणित अध्यापक द्वितीय ग्रेड—एम एस सी बी एड (4) अंग्रेजी अध्यापक द्वितीय ग्रेड एम ए बी एड (5) व्याख्याता एम एस सी एम एड (6) व्याख्याता एम काम एम एड (8) व्याख्याता (संस्कृत) एम ए एम एड (8) वरिष्ठ लिपिक—स्नातक हिन्दी एवं अंग्रेजी टंकण का जानकर (9) कनिष्ठ लिपिक—हायर सैकण्डरी अंग्रेजी / हिन्दी टंकण के साथ (10) तृतीय श्रेणी अध्यापक बी ए बी एड व हायर सैकण्डरी एस टी सी (11) चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी आयु 20 से 30 वर्ष योग्यता कम से कम पाचवी कक्षा तक। आवेदन मंत्री आर्य समाज शिक्षा सभा, अजमेर को निर्धारित आवेदन पर (पांच रुपये के पोस्टल आर्डर पर) दस दिवस की अवधि मे करें।

सहयोग दीजिए

दयानन्द वैदिक शोधपीठ, दयानन्द कालेज, अजमेर मे ऋषि के पत्र व्यवहार पर शोध कार्य चल रहा है। यदि किसी सज्जन के पास ऋषि के पत्र व्यवहार म सम्बन्धित कोई सामग्री हो, तो कृपया संचालक दयानन्द वैदिक शोधपीठ, दयानन्द कालेज अजमेर को भेजने का कष्ट करें।

—संचालक

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, द्वारा प्रदत्त "गोवर्धन पुरस्कार" के उपलक्ष में माननीय श्री दत्तात्रेय आर्य को समर्पित

अभिनन्दन–पत्र

अजमेर राजस्थान की गौरवमयी वसुन्धरा का हृदय है। अजमेर के वीर सम्राटों, विद्वानों, सन्तों व समाज सुधारकों की श्रृंखला में कर्मवीर प जियालाल जी एक ऐसी कड़ी थे जिन्होंने अत्यन्त मेधावी श्री दत्तात्रेय जी आर्य को अपना उत्तराधिकारी बनाया।

श्री दत्तात्रेय जी ने अपनी स्वय की कर्मनिष्ठता तथा प्रतिभा के बल पर इस नगरी को राजस्थान का सर्वोत्कृष्ट शिक्षा केन्द्र के स्तर पर प्रतिष्ठित किया। ऐसे परम यशस्वी एव शिक्षाविद् श्री दत्तात्रेयजी आर्य को उनके अगाध पाण्डित्य एव मौलिक साहित्य सृजन के परिणाम स्वरूप गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा "गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार" से पुरस्कृत किये जाने के उपलक्ष मे सश्रद्धा सार्वजनिक अभिनन्दन है।

वस्तुत श्री दत्तात्रेय आर्य जैसे कर्मठ एव विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न मनीषी को कोई पुरस्कार देना पुरस्कार का ही मान बढाना है।

सरस्वती के वरदपुत्र श्री दत्तात्रेय आर्य ने अपने व्यापक अध्ययन तथा अनुभव के आधार पर ऐसा उत्कृष्ट साहित्य सृजित किया है जिसमे युवा छात्रो से लेकर उदबुद्ध तत्व चिन्तको तक ऐसी उपादेय सामग्री सचित है जो देश, समाज के स्वास्थ निर्माण के लिए बलम है। आर्य समाज के स्वरूप निर्धारण में आपकी पारगामी प्रतिभा का श्री उन्मेष आपके अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त ग्रन्थ आर्य समाज हिन्दू विदाऊट "हिन्दूइज्म" मे द्रष्टव्य है। राष्ट्रीय चरित्र के जिन स्वस्थ प्रतिमानो का विश्लेषण आपने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "राष्ट्रीय चरित्र और एकता" मे किया है। वह भी युवा पीढी को नई स्फूर्ति एव दिशाबोध प्रदान करता रहेगा।

अजमेर नगर मे अत्यन्त सफलता पूर्वक सचालित लगभग पन्द्रह डी ए वी शिक्षण सस्थायें आपकी कुशल प्रशासन क्षमता तथा दूरदर्शी दृष्टि का परिचायक हैं। इन सस्थाओं के सभी अधिकारी तथा कर्मचारी वर्ग आपकी न्याय प्रियता तथा सहयोगी स्वभाव से नितान्त सतुष्ट हैं तथा वे इन सस्थाओ की प्रगति मे निरन्तर सन्नद्ध रहते हैं। लगभग 85 वर्ष की आयु मे भी आपका ओजस्वी व्यक्तित्व उत्साह तरगा से तरगित है जिसमे समाज तथा उसके युवा घटको को स्वस्थ रूप देने तथा उन्हे सुस्पष्ट माग पर लाने की साध विद्यमान है।

महत्वाकाक्षाओ तथा ज्ञान का यह ज्योतिपुज दीर्घकाल तक हम सबको दिशा बोध कराता रहे। शताधिक वर्षो तक आप ज्ञान निधि सरक्षण और सवर्धन करते रहे।

दयानन्द कालेज परिवार आपका अभिनन्दन करते हुए मगलकामना करता है।

'ओ३म् स्वस्ति' शुभाकाक्षी
प्राचार्य
दिनाक 5 मई, 1987 एव दयानन्द काल्ज परिवार

हिन्दी अपना हक चाह रही

— लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र' —

हिन्दी, हृततन्त्री की झकृति, हिन्दी जन-जन की वाणी है।
हिन्दी में, भारत बोल रहा, हिन्दी सस्कृति—कल्याणी है।
हिन्दी, की अपनी सरल राह, रखती है वैर-विरोध नही।
हिन्दी, जन जीवन मे जन्मी, कि किसके लिये सुबोध नही।

यह 'देव गिरा' की दुहिता है, यह उदित राष्ट्र की सविता है।
इसमे अतीत की गौरव-कथा, इसमे भविष्य की कविता है।
यह ओज प्रसाद मधुरता के रस प्लावित मधु की धारा है।
इसमे शिव, सत्य सुन्दरम् ने जीवन का रूप सँवारा है।

इसने हथकडियाँ तडकाईं, इसने युग बन्धन खोले हैं।
इसकी हुकारो के आगे, अग्रेजी आसन, डोले हैं।
इसने ही मुक्ति माल, गाकर, है राष्ट्र-पुरुष को पहनाई।
इसके स्वर मे गु जायमान, है शान्ति-क्रान्ति की शहनाई।

नवयुग के स्रष्टा दयानन्द, इसके स्वर मे ही बोले थे।
'सस्कृत' के होकर मार्तण्ड, हिन्दी मे प्राण उन्ड़ेले थे।
गीता रहस्य रचने वाले, गगाधर ने तिलक किया।
स्वातन्त्र्य-वधू वरने वाले, गाँधी ने इसको गोद लिया।

हिन्दी ही सुख में साथ, हँसी, हिन्दी दुख मे सग रोई है।
हिन्दी ने युग की क्रान्ति लिखी लोहू मे कलम डुबोई है।
हिन्दी की अवहेलना मित्र, हिन्दी का ही, अपमान नही।
यह खुला खुला है राष्ट्र द्रोह, भारत माँ का सम्मान नही।

हिन्दी अपना हक माँग रही माँगती किसी की मौत नही।
बोलियाँ बहिन बन रहे, बनें हिन्दी की कलहिन सौत नही।
यह है सस्कृति का प्रश्न, एकता की भी इसमे रक्षा है।
यह सत्य, न्याय की माँग राष्ट्र भक्तो की सरल परीक्षा है।

तुलसी के राम खडे तट पर, उस पार सिन्धु के आने दो।
रामायण, विनय पत्रिका के गीतों को गले लगाने दो।
मीरा के भजनों को स्वजनों, घर घर बाँसुरी बजाने दो।
सूर के पदो को मित्र, थिरकने अधर-अधर तक जाने दो।

नानक कबीर के राम एक उनको दो आज बनाओ ना।
हैं ओकार गु जार रहा वह अनहद नाद भुलाओ ना।
मोडो सतलज की धार, इधर देखो न कराँची जाने दो।
गगा-यमुना के साथ सिन्धु को भी आकर मिल जाने दो।

मीरा की पीडा व्याकुल हर उर तक पीर पहुँचने दो।
प्यासे अधरो तक हिन्दी की गगा का नीर पहुँचने दो।
ब्रज की मधुता मिसरी घोले, सूरा खोले जग की आँखें।
तुलसी का रस भव रोग हरे मानस का मधु जगति चाखे।

'भूषण' के छन्दो को पढकर फिर नई जवानी आने दो।
युग के भुजदण्ड फडकने दो फिर राष्ट्र रक्त गरमाने दो।
क्यो विष पान करें नाहक, 'रसखान हमारी वाणी मे,
केशव, रहीम मतिराम देव का गान हमारी वाणी मे।

भारत माता है, प्राणमयी, यह गीत सभी को गाने दो,
फिर हृदय हृदय से मिलने दो सब भेद, भ्रान्ति मिट जाने दो।
फिर मानस मन्थन होने दो, जीवन के मोती पाने दो।
सोन चाँदी की चकमक से, जीवन, हीरो तक जाने दो।

वेदो का अमृत दुहलाई ऋषिवर की अमृत वाणी है।
जन-जन पीने को आतुर है युग-युग से प्यासा प्राणी है।
अपने पुरखो का तप त्याग, फिर नई रश्मियाँ लाया है।
भारती भाल उदयाचल पर फिर नया सूर्य मुस्काया है।

इस उगते हुये बाल रवि की, फिर नई रश्मियाँ छाने दो।
जन मगल की गगा उमडी फिर सगर सुतो तक जाने दो।
बहती अमृत की धारा मे आओ सग-सग स्नान करें।
अन्तस का विष कल्मष, धोयें अमृतका हम हस पान करें।

मानवता जागे प्राणो मे, करुणा से भीगे प्राण मिलें।
फिर राम-भरत भेंटे भाई भाई बनकर इन्सान मिलें।
सब क्लेश मुक्त हो शान्त बनें सब मे जीवन, रस-धार बहे।
सारी धरती रससिक्त बन प्राणी-प्राणी मे प्यार बहे।

अभ्युदय लिये हो निःश्रेयस मानवता को परित्राण मिले।
भारती स्वरो मे जय गाये, जनजन को जीवन-प्राण मिले।

भोजपुरा मैनपुरी, (उ प्र)

जातिवाद विरोधी चौ० चरणसिंह

— आचार्य दत्तात्रेय (बाब्ले) आर्य —

चौधरी चरणसिंह के निधन पर देश के प्रमुख अग्रेजी तथा हिन्दी समाचार पत्रो ने अपने-अपने दृष्टि-कोण से कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। अनेक प्रमुख नेताओ ने भी उनको श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए अपने विचार व्यक्त किये हैं। चौधरी साहब जैसे राजनैतिक क्षेत्र के एक वरिष्ठ नेता के सम्बन्ध मे ऐसी प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक हैं। उनकी राजनैतिक विचारधारा तथा दलगत राजनीति के सम्बन्ध में इस-लिये मैं यहा कोई विवेचन नही करना चाहता। किन्तु इन सब मूल्याकनो मे जिस बात पर प्राय सब एक मत प्रतीत होते हैं, वह यह है कि चौधरी साहब एक ईमानदार, निष्ठावान तथा स्पष्टवादी राजनेता थे। जैसा 'टाइम्स आफ इडिया" आदि कुछ पत्रो ने लिखा है कि उनकी इन विशेषताओ का श्रेय आर्य समाज को है।

चौधरी साहब उन थोडे से गिने चुने प्रमुख राष्ट्रीय नेताओ मे से एक थे जिन्होने कभी ये स्वीकार करने मे सकोच नही किया कि उनका प्रार-भिक जीवन व चरित्र निर्माण आर्य समाज और ऋषि दयानन्द की ही देन है। समाचार पत्रो मे उनके निवास स्थान के उस कमरे का चित्र प्रकाशित हुआ है जिसमे उनका पार्थिव शरीर जनता के दर्शनार्थ रखा गया था। उस कमरे मे दो चित्र साथ-साथ रखे हुए दिखाई देते हैं प्रथम ऋषि दयानन्द का तथा दूसरा महात्मा गाधी का। इन दोनो ही की कुछ विशिष्ट शिक्षाओ के श्री चरणसिंह एक प्रतीक थ। देश के आर्थिक नव निर्माण और विशेषकर ग्रामीण किसानो की उन्नति के सबध मे उनका दृष्टिकोण स्पष्टतया गाधीवादी था। उनका सादा जीवन तथा रहन सहन भी एक गाधीवादी नता का स्मरण दिलाता था किन्तु ऋषि दयानन्द ही उनके वास्तविक प्रेरणास्रोत व मार्गदर्शक रहे हैं यह तथ्य भी निर्विवाद है। उनकी निर्भी-कता, स्पष्टवादिता सैद्धातिक दृढता तथा जन्मगत जातपात जैसी सामा-जिक कुरीतियो का विरोध इसका प्रमाण है। अपने इस सक्षिप्त लेख मे, मैं उनके केवल कुछ उदाहरण देकर उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करना चाहता हूँ।

जाट बनाम किसान जातिवाद के विरोधी चौधरी चरणसिंह जी के सबध मे उनके समालोचक अक्सर ये कहते हैं कि उन्होने राजनीति में जातिवाद और विशेषकर जाटवाद को प्रोत्साहन दिया किन्तु उनके जीवन, व्यवहार व विचार इन तीनो से इस आरोप का खडन होता है। उन्होने अपनी कन्याओ का विवाह जन्मगत जातपांत तोडकर, गैर जाटो में किया। मुझे स्मरण नही है कि वे कभी किसी जाट सस्था या सगठन से सबधित रहे हो और न ही किसी जाट सम्मेलन या सभा की उन्होने अध्यक्षता या सदस्यता स्वीकार की। ये सही है कि देश मे किसान वर्ग और विशेषकर उत्तर भारत मे किसानो मे एक बडी सख्या जाटो की है, किन्तु साथ मे ये भी सही है कि चरणसिंह उनके समर्थक या नेता इसलिये नही थे कि वे जाट थे बल्कि इसलिये थे कि वे किसान थे। यही कारण हैं कि उनके समर्थको मे जाटो के अतिरिक्त गूजर, अहीर आदि अन्य पिछडी जाति के किसानो की बहुत बडी सख्या थी। अनेक उच्च जाति के लोग भी जिन्हे गाधी जी की ग्रामीण अर्थ व्यवस्था और बडे उद्योगो के स्थान मे कुटीर उद्योगो के महत्व मे विश्वास था, चौधरी साहब को अपना नेता स्वी-कार करते थे। लोकदल आदि जिन दलो का नेतृत्व उन्होने किया उनमे प्राय सब जातियो के, यहा तक कि मुसलमान भी सदस्य व अधिकारी रहे हैं।

जाट राजपूत विवाद राजस्थान मे जाटो के साथ राजपूतो द्वारा दुर्व्यवहार किये जाने के अनेक उदा-हरण दिये जाते है उन्हे अपेक्षाकृत छोटी जाति का समझकर राजपूत राजा और ठिकानेदार सामाजिक दृष्टि से उनके साथ लगभग अछूतो जैसा व्यवहार करते थे। अपने विवाह मे जाट वर को घोडे पर नही बैठा सकते थे और न ही वधु को सोने के जेवर पहना सकते थे यहा तक कि वे अपने भोज मे देशी घी का प्रयोग नही कर सकते थे उन्हे तेल का ही उपयोग करने की छूट थी। जैसा चौधरी साहब ने एक बार कहा था, "जन्माभिमानी क्षत्रियो के इसी प्रकार के दुर्व्यवहार का परिणाम था कि पजाब मे लगभग 51 प्रति-शत जाट या तो मुसलमान हो गये या फिर सिक्ख बन गये। आधुनिक युग मे ऋषि दयानन्द ही एकमात्र ऐसे महापुरुष थे जिन्होने वेद और शास्त्रो के आधार पर जाटो को क्षत्रिय घोषित किया। इतना ही नही आर्य समाज के अनेक प्रसिद्ध सन्यासी, विद्वान, पडित आदि जन्म से जाट हैं। आज भी यदि किसी वर्ग विशेष के अधिकाश व्यक्ति आर्य समाज के अनुयायी हैं तो वे जाट ही हैं। चौ चरणसिंह जी इसलिए अन्त तक अपने आपको आर्य समाजी व ऋषि दयानन्द का अनुयायी घोषित करने मे गौरव अनुभव करते थे।

अन्तर्जातीय विवाह एक मात्र उपाय मेरी सम्मति मे उनकी सबसे बडी देन उनका जातिवाद के विरुद्ध वह क्रातिकारी अभियान था, जिसे स्व प नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेता भी स्वीकार करने मे झिझकते थे। चौधरी साहब ने प नेहरू से सन् 1945 मे ही यह माग की थी कि वे कम से कम सरकारी अधिकारियो तथा कर्म-चारियो के लिए अन्तर्जातीय विवाह अनिवार्य कर दें किन्तु नेहरू जी ने उनके सुझाव को यह कह कर अमान्य कर दिया कि विवाह एक व्यक्तिगत मामला है उसमे राज्य या कानून को हस्तक्षेप नही करना चाहिए। नेहरू जी की यह दलील सैद्धान्तिक दृष्टि से सही थी, किन्तु भारत की परि-स्थितियो मे उसका एक सामाजिक व राष्ट्रीय पहलू भी है। जन्मगत जातपात न केवल हमारे सामाजिक अपितु राष्ट्रीय जीवन का भी एक बडा अभिशाप रहा है, कुछ अपवादो को छोडकर कोई भारतीय और विशेषकर हिन्दू अपना विवाह केवल व्यक्तिगत गुण दोषो के आधार पर शायद ही करता हो। प्रायः सब जाति व धर्मों के लोग विवाह सबध अपनी जाति व धर्म की सीमा के अन्दर ही करते हैं यहा तक कि आर्य समाज की स्थापना के पूर्व व बाद मे हिन्दू कोड बिल के पारित होने के पहले अपनी जाति मे ही विवाह करना कानून की दृष्टि से आवश्यक था। यदि कोई उच्च वर्ण का हिन्दू किसी अन्य जाति की कन्या से विवाह कर लेता था तो उसे कानून भी स्वीकार नही करता था। ऐसे विवाहो से उत्पन्न सतानें अवैध समझी जाती थी उन्हे अपनी पैतृक सम्पत्ति मे कोई अधिकार या हिस्सा नही मिल सकता। ऐसी स्थिति मे चरणसिंह जी का सुझाव जातिवाद के उन्मूलन के लिये सर्वथा उपयुक्त और आवश्यक कदम समझना चाहिए था। कानून द्वारा अपनी ही जाति मे विवाह करने के लिये बाध्य किया जा सकता है तो अपनी ही जाति मे विवाह न करने का कानून अनुचित क्यो समझा जाये? वस्तुत जन्मगत जातपात के निराकरण का वर्तमान परिस्थिति मे यही एक कारगर उपाय है।

जातिवाद को प्रोत्साहन—यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वाधीनता के बाद चुनाव आदि राजनैतिक स्वार्थो के कारण हमारे अनेक प्रमुख नेता तक जातपात के इस राष्ट्र विरोधी भस्मासुर को प्रोत्साहन देने मे सकोच नही करते। अग्रेजी राज्य मे जिन सामाजिक व धार्मिक सुधारो को हम अपनी राजनैतिक मुक्ति के लिए आवश्यक समझते थे, जातिप्रथा का निराकरण उनमे सबसे अधिक महत्व का प्रश्न था। ऋषि दयानन्द ने सर्वप्रथम इसलिए गुण कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था को ही वेदोक्त सिद्ध करके जन्मगत जातपात के आधार को ही नष्ट करने का प्रयत्न किया। छुआछूत अथवा हरिजनो की समस्या भी इसी सर्वभक्षी जाति व्यवस्था के वृक्ष के विषैले फल मात्र हैं। ज" के स्थान से कर्म के आधार पर तथा-कथित अछूतो को ब्राह्मण आदि उच्च वर्णों मे सर्वथा आत्मसात करके इस समस्या का चिरस्थायी और कारगर उपाय किया जाना चाहिये था किन्तु स्वाधीनता के बाद इन वर्गों को उचित तात्कालिक के स्थान मे अब प्राय सदा के लिये स्वय उनके हित विरोधी, राजनैतिक व आर्थिक लाभ के प्रलोभन देकर इनने जन्म की दृष्टि से उन्हे हमेशा के लिये अछूत बना दिया है। आज स्थिति यह है कि हरिजनो के लिये ऊची जाति के लोग झूठे प्रमाण पत्र देकर अछूत बन रहे हैं।

(शेष पृष्ठ 6 पर)

धर्म और राजनीति का संतुलन

— क्षितीश वेदालंकार —

भारत को महान से और महान बनाने का स्वप्न देखने वाले और उसकी जय-यात्रा का महाकाव्य लिखने वाले महाभारतकार महर्षि व्यास ने अब से लगभग 5,000 वर्ष पूर्व सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी—

ऊर्ध्वं बाहुर्विरौम्येष न च
कश्चिदशृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च सधर्म
किं न सेव्यते ॥

"अरे लोगो ! मैं भुजा उठाकर यह उच्च स्वर से कह रहा हूं, परन्तु कोई मेरी बात सुनता नहीं । मनुष्य जीवन के जो चार पुरुषार्थ हैं-धर्म अर्थ, काम मोक्ष—इनमे सासारिक जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक अर्थ और काम की सिद्धि भी धर्म के माध्यम से ही हो सकती है । लोग धर्म का सेवन क्यो नही करते ?"

महर्षि व्यास का यह आक्रोश आज भी उतना ही सत्य है जितना उस समय रहा होगा । उन्हीं महर्षि व्यास ने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करने के लिए धर्म की भी एक सर्वमान्य परिभाषा कर दी है । वह इस प्रकार है -

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

"धर्म का सार क्या है, यह भी जान लो और उसको सुनकर अपने मन मे दृढता से धारण कर लो । वह सार यह है--अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध अन्य व्यक्तियो के साथ आचरण नही करना चाहिए ।" धर्म की यह ऐसी सार्वत्रिक परिभाषा है जिसके सही होने पर किसी को भी आपत्ति नही हो सकती । इस परिभाषा मे न कहीं साम्प्रदायिक अभिनिवेश है, न किसी कर्मकाण्ड को स्थान है और न ही किसी दार्शनिक मान्यता का पोषण है । इस कसौटी पर कसने पर हरेक मनुष्य अपनी अन्तरात्मा की आवाज के अनुसार स्वय ही धर्म और अधर्म का निर्णय कर सकता है । इस धर्म का निर्धारण करने मे किसी ग्रन्थ या गुरु या पैगम्बर की भी आवश्यकता नही है । इस कसौटी के आधार पर अनपढ और गवार व्यक्ति भी उचित और अनुचित का विवेक कर सकता है ।

यह धर्म समग्र जीवन का अग है और इससे जीवन का कोई क्षेत्र अछूता नही रह सकता । राजनीति भी क्योंकि जीवन का अग है इसलिए वह भी । किसी देश और किसी काल मे भी इस परिभाषा का अपलाप सभव नही जब तक मानव विद्यमान है तब तक उसके साथ यह कसौटी भी रहेगी ।

स्वतन्त्रता की सीमा

इससे यह भी स्पष्ट है कि धर्म अनुभूति-जन्य है, बुद्धि-जन्य नहीं । वह मान्यता-प्रधान नही प्रस्तुत आचार-प्रधान और नैतिकता-प्रधान है । अगर ससार के किसी मानव को किसी आचार पर आपत्ति है तो वह अपनी अन्तरात्मा की कसौटी पर कस कर देख लेगा कि मैं अमुक व्यक्ति के साथ जैसा व्यवहार कर रहा हूँ यदि वैसी परिस्थिति मे मैं स्वय होता तो क्या मैं भी अपने साथ वैसा ही व्यवहार किया जाना पसन्द करता ? अगर मनुष्य के पास उचित और अनुचित के उल्लेख की यह कसौटी न होती तो मनुष्य समाज कभी का विशृखलित हो चुका होता ।

इसी आचरण-प्रधान धर्म की व्याख्या योगदर्शन ने यम और नियम के रूप मे की है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये नियम है । यम समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए है और नियम व्यक्तिगत जीवन की सुचारु व्यवस्था करने के लिए है । जहाँ तक व्यक्तिगत जीवन सबधी नियमो का प्रश्न है, उनका पालन करने मे मनुष्य स्वतन्त्र है । क्योकि उनका पालन न करने से उसको केवल व्यक्तिगत हानि ही उठाना पडेगी । यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर अपने जीवन को उन्नत नहीं करना चाहता तो उसके लिए उसे बाधित नही किया जा सकता । परन्तु जहाँ तक सामाजिक नियमो का प्रश्न है—जिन्हे योगदर्शन मे यम कहा गया है उनमे किसी को स्वतन्त्रता नही है । इसीलिए समाज मे हिंसा करने वाला या असत्य आचरण करने वाला, या चोरी-ठगी अथवा डाका डाल कर परद्रव्य का अपहरण करने वाला व्यभिचारी तथा औरो का शोषण करके पूंजी का अपरिमित परिग्रह करने वाला व्यक्ति दण्डनीय है । यह दण्ड देना भी राज्य का काम है, व्यक्ति का नहीं । अगर कोई राज्य इस प्रकार के अपराधो के लिए दण्ड की व्यवस्था नही करता तो वह राज्य नहीं है । तब केवल अराजकता ही सम्भव है । इसलिए जब व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है तब उसका यही अर्थ होता है कि जहाँ वह व्यक्तिगत हितकारी नियमो मे स्वतन्त्र है वहाँ उसे सामाजिक हितकारी नियमो में परतन्त्र रहना पडेगा ।

व्यावहारिक राजनीति

यदि कभी ऐसी स्थिति आ जाए जब समाज और व्यक्ति के हितो मे परस्पर टकराव हो, तब क्या किया जाए ? उसके लिए भी नीति निर्माताओ ने बहुत सुन्दर व्यवस्था की है । वह इस प्रकार है --

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे स्वात्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥

जब व्यक्ति और समाज के हितो मे सघर्ष हो तो राज्य और समाज के व्यवस्थापको का यह कर्तव्य है कि किसी कुल के हितो की रक्षा के लिए वे एक व्यक्ति के हित को छोड दें । जब किसी कुल और ग्राम के हितो मे सघर्ष हो तो ग्राम के हित के लिए कुल के हित को त्याग दें । जब किसी ग्राम और जनपद के हितो मे परस्पर टकराव हो तो जनपद के हित के लिए ग्राम के हित को त्याग दें । परन्तु यदि मनुष्य की अन्तरात्मा के साथ सघर्ष हो तो सारी पृथ्वी को भी त्याग देना उचित है । इसमे प्रथम तीन बातें व्यावहारिक राजनीति का अग है और अतिम बात उसी धर्म की ओर सकेत करती है जिसको महर्षि व्यास ने तथा अन्य अनेक धर्मशास्त्रो ने तरह-तरह से प्रतिपादित किया है । इसी से यह बात भी निकलती है कि-

यद् भूतहितमत्यन्त तत् सत्यमिति मे मतम् ।

—अर्थात जिसमे अधिक से अधिक प्राणियो का अधिक से अधिक हित हो वही सत्य है, या वही धर्म है । यह परिभाषा हमको पश्चात दार्शनिको के उस मन्तव्य तक ले जाती है जिसमे उन्होने आचार शास्त्र (एथिक्स) की समाप्ति 'ग्रेटेस्ट फ़ोर आफ दि ग्रेटेस्ट नम्बर' पर जाकर की है । इसी बात को महात्मा बुद्ध बहुत पहले अपने उपदेश भिक्षुओं को देते हुए कह चुके हे--'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय —भिक्षुओ, तुम जब उपदेश करने जाओ तो हमेशा अधिकतम लोगो के सुख और हित का ध्यान रखो जिससे लोक-कल्याण हो सके । महात्मा बुद्ध का यह उपदेश भारतीय सस्कृति का वही शाश्वत उद्घोष है जिसमे 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग भवेत्' का वर्णन है । इसी से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली भारतीय सस्कृति की विशेषता चरितार्थ होती है ।

इस प्रकार धर्म राजनीति को सन्तुलित करता है और राजनीति धर्म को सन्तुलित करती है । दोनो एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं । यदि धर्म का यह रूप स्वीकार हो तो वह किसी भी अवस्था मे तिरस्करणीय नहीं बल्कि राजनीति के लिए भी वरणीय है, क्योकि इसके बिना राजनीति केवल निरकुश तानाशाही बन जाएगी ।

परन्तु यदि धर्म का यह सही रूप स्वीकार न हो और पश्चिम की विचारधारा के अनुसार धर्म को रिलीजन, मजहब सप्रदाय या किसी पथ का पर्यायवाची माना जाये, तो उस धर्म को राजनीति से सर्वथा दूर रखना होगा । क्योकि साम्प्रदायिक मान्यताओ पर आग्रह करने वाले कभी दूसरे मत वालो के प्रति उदार नहीं हो सकते । अनुचित आग्रह का अर्थ ही असहिष्णुता है । सप्रदायो की विशेषता यह है कि प्रत्येक सम्प्रदाय अन्य सप्रदायो से अपने सप्रदाय के श्रेष्ठतर होने का आग्रह करता है । किसी समय भैरवी-चक्र भी धर्म का अग माना जाता रहा है । वाममार्गियो ने तो पचमकार की उपासना के नाम से मद्य मांस मीन मुद्रा और मैथुन का खुल्लमखुल्ला प्रचार किया था हालाकि तान्त्रिक और दार्शनिक दृष्टि से ये पारिभाषिक शब्द है और इनका वही अर्थ नहीं है जो लोगो मे प्रचलित है । परन्तु व्यवहार मे उनके वही अर्थ चलते रहे जो धर्म की आड मे केवल अधर्म का ही अग थे ।

साम्प्रदायिक मान्यता को धर्म का रूप देने का यही दुष्परिणाम होगा । अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओ के अनुसार राजनीति को चलाने वाले तथा सियासत और मजहब को परस्पर जोडने वाले इस्लाम मतानुयायी न केवल अपने से भिन्न मतावलम्बियो को काफिर कहते है उनका धर्म ग्रन्थ काफिरो के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था भी करता है । दारुल-हरब और दारुल इस्लाम की फिलासफी के उपासक किसी गैर-इस्लामिक राज्य के प्रति निष्ठा न रखना अपना धर्म समझते है । सैमटिक मजहबो के साथ-साथ अन्य पथो और सप्रदायो मे भी यही प्रवृति उभर रही है । यही 'फडमेंटलिजम' है । अब अकाली भी खुमैनी के रास्ते पर चल रहे हैं ।

निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि धर्म का भारतीय परम्परा वाला अर्थ स्वीकार करने पर धर्म राजनीति के लिए भी वाछनीय है परन्तु पश्चात्य परम्परा वाला धर्म राजनीति से सर्वथा दूर रहना चाहिए । सोवियत सघ, वियतनाम चीन इडोनेशिया, मिस्त्र और तुर्की ने यही किया है । वे किसी भी साम्प्रदायिक धर्म को अपना राजनीति पर हावी नही होने देते । यदि भारत सरकार सही तौर से देश के 'सेक्युलर' (धर्म-निरपेक्ष नहीं पथ-निरपेक्ष) सविधान की रक्षा करना चाहती है तो उसे बहुजन समाज के हितो की उपेक्षा करके केवल क्षणिक राजनैतिक लाभ प्राप्त करने के लिए अल्प-सख्यको या विभिन्न सप्रदायो को महत्व देने से बाज आना होगा । तर्क-विरुद्ध बुद्धि-विरुद्ध और विज्ञान-विरुद्ध साम्प्रदायिक मान्यताओं को अधविश्वासो को और चमत्कारो के नाम पर जनता को लूटने वाले साधु सतो को नियत्रण मे रखना होगा । इसी का फलितार्थ यह भी है कि उन साम्प्रदायिक पार्टियो को राजनैतिक मान्यता देना बन्द करना होगा । चुनावो मे सप्रदाय और जाति के आधार पर उम्मीदवार खडे करने पर रोक लगानी होगी । धार्मिक स्थानो पर राजनीतिक गतिविधियो पर अकुश लगाना होगा । क्योंकि इसके बिना न राज्य टिक सकता है न राष्ट्र ।

रजिस्ट्रार महोदय,
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उ०प्र०)

(शेष पृष्ठ 1 का)

हाल ही के दगो के घटनाक्रम पर एक विहगम दृष्टि डालने से आपके सामने यह तथ्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाएगा। दगो से पूर्व दिए गए जिन्होने दगे कराने मे मुख्य भूमिका अदा की, मुस्लिम नेताओ के वक्तव्यो की एक बानगी तो देखिए —

1 मुस्लिम किसी कोर्ट के पाबन्द नही है, वे किसी कोर्ट मे सफाई देने नही आयेंगे लेकिन कुरान या परसनल लॉ के खिलाफ कोर्ट मे आने वालों का सफाया कर दिया जायेगा।

—इमाम ओबेदुल्लाह खां आजम गढ़

2 बाबरी मस्जिद तहरीक सीने पर गोली खाने का आन्दोलन है। हमारी यह मांग खालिस जमात के विरुद्ध है। अगर मुसलमानों के साथ न्याय न हुआ तो पजाब अपनी सीमाए तोड़ देगा।

—आजमा खा, विधायक उ प्र

3 अगर मुसलमान दिल्ली जा सकता है तो अयोध्या भी जा सकता है। —सैय्यद शहाबुद्दीन

4 मैं वतन को मा नहीं मानता। बाबरी मस्जिद मुसलमानो को न दी गई तो जल्दी ही मुसलमान बाबरी मस्जिद मे नमाज पढ़ गे।

—अध्यक्ष मुस्लिम मजलिस उ प्र

5 हम इस देश की न्याय व्यवस्था नहीं मानते। (राजीव गाधी से) अपनी पुलिस हटा लो। फिर देख ले, इसानों का यह समुद्र तुम्हारी किस्मत का फैसला कर देगा। —शाही इमाम

इस सदर्भ मे यह भी उल्लेखनीय है कि कुरान की कुछ आयतो के सम्बन्ध मे प्रस्तुत एक याचिका पर जुलाई 1986 मे दिये गए निर्णय मे दिल्ली के मेट्रोपोलिटन मजिस्ट्रेट श्री जे एस लोहाट ने कहा है कि पवित्र पुस्तक कुरान मजीद के प्रति आदर रखते हुए उन आयतो का सूक्ष्म अध्ययन यह प्रकट करता है वे हानिकारक हैं और नफरत की शिक्षा देती हैं तथा मुसलमानो तथा शेष अन्य समुदायो के बीच भेदभाव पैदा करती हैं।

उपर्युक्त निर्णय को दृष्टिगत रखते हुए यह सोचने पर बाध्य होना पडता है कि गांधी जी * द्वारा मुस्लिमो के अन्य धर्मावलम्बियो के प्रति आक्रामक रुख के बारे मे जो कहा गया है कही उसकी प्रेरणा स्रोत यही आयतें तो नही हैं ?

कहाँ तो 'वसुधैव कटुम्बकम् की भावना से ओत-प्रोत वेद की ऋचायें और कहाँ कुरान की ये तथाकथित आयतें ?

दगों का दूसरा प्रमुख कारण सरकार की तथाकथित धर्म निरपेक्षता' है। इस सदर्भ में दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि कोई भी कांग्रेसी प्रधानमत्री धर्मनिरपेक्षता के सही अर्थ को नही समझ पाया या फिर अपने निहित स्वार्थों के वशीभूत ही समझने के उपरांत भी उसे सही तरह से क्रियान्वित करने का प्रयास नहीं किया। और अल्पसख्यक वर्ग को अनुचित प्रश्रय देते रहे। आज जबकि राजीव गाधी दगो की जड खोजकर उसे नष्ट करने को कहते हैं तो उनके [illegible] पर हसी आती है।

हुजूरे आला ! सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को अनदेखा कर अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए 'मुस्लिम विधेयक' लाने वाला क्या ऐसा करने का साहस कर सकता है ?

राष्ट्र धर्म से ऊपर है। इस सत्य को जिस दिन भारतवर्ष का मुसलमान स्वीकार कर लेगा एव [illegible] हरब को दारुल इस्लाम [illegible]दलने जैसी अपनी भावनाओ को तिलाजलि दे देगा, उसी दिन से साम्प्रदायिक दगे होने [illegible] जायेंगे। परन्तु प्रश्न यह [illegible] कि क्या ऐसा कभी हो [illegible] मुसलमान स्वभावत आक्रामक होता है और हिन्दू डरपोक।

—साम्प्रदायिक दगे —

दो वर्ष में ४३६ हलाल

पिछले दो वर्षों (1985-86) में देश के सात राज्यों में हुए 23 साम्प्रदायिक दगो मे 436 से अधिक लोग मारे गए। 21 815 लोगो की गिरफ्तारी हुई और 1231,52 लाख रुपये की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचा।

इन राज्यो में गुजरात, आध्र प्रदेश महाराष्ट्र कर्नाटक, उत्तर प्रदेश मध्यप्रदेश, व बिहार हैं। सर्वाधिक सुर्खियों मे गुजरात रहा। जहाँ 1986 के दौरान 34 दिन हिंसा हुई। जनवरी, मार्च जुलाई, अगस्त व सितम्बर के महीनो मे चलने वाली इस हिंसा का केन्द्र अहमदाबाद, वेरावल, नादियाड व [illegible] रहा। इस दौरान 184 लोग मरे, 6335 गिरफ्तार हुए, /64 घायल तथा 236 12 लाख रुपये की हानि हुई। कर्नाटक के रामनगरम बगलौर व मैसूर, मध्यप्रदेश के सिहोर, उत्तरप्रदेश के मेरठ, नूरिया (जिला पीलीभीत) व इलाहाबाद, महाराष्ट्र के नासिक पवलव, अमरावती और बिहार के नवादा में दगे हुए।

1985 में दगो का प्रमुख केन्द्र रहा आध्र प्रदेश। राज्य के रगारेड्डी जिले का तदूर सुल्तानशाही और हैदराबाद के आस-पास के क्षेत्र [illegible] की गिरफ्त में आए। —पाञ्चजन्य से

जातिवाद विरोधी चौ चरणसिंह (शेष पृष्ठ 3 का)

जातिसूचक नामों का निषेध— चौधरी साहब का अन्तर्जातीय विवाह का उपर्युक्त सुझाव स्वीकार करना यदि कठिन था तो कम से कम इस प्रकार का कानूनी या सवैधानिक प्रावधान तो किया ही जा सकता था कि कोई सरकारी अधिकारी अपने नाम के आगे अपनी जाति का उल्लेख न करें। जब हम रामसिंह रैगर मजिस्ट्रेट या दयाराम जाट कलेक्टर अथवा जयदेव गुप्ता पुलिस अधीक्षक जैसे नाम पढते व सुनते हैं तो जातिवाद को प्रोत्साहन मिलता है चाहे जाति सूचक नाम के अधिकारी स्वय कितने ही निष्पक्ष हो उनकी जाति से सबधित व्यक्तियो के मन मे यह आशा और अपेक्षा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि यह अधिकारी उनका पक्ष लेगा। दूसरी तरफ अन्य जाति के लोगो मे उनके प्रति सही या गलत यह आशका भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि भिन्न जाति के होने के कारण उनसे न्याय की अपेक्षा नही कर सकते। मैंने स्वय चरणसिंह जी को जब वे प्रधान मत्री बने, तब नेहरू जी को दिये गये उनके सुझाव का स्मरण दिलाते हुये आग्रह किया था कि यदि अपने कार्यकाल मे वे हिन्दुओ की जाति प्रथा को सर्वथा गैर कानूनी घोषित नही कर सकते तो कम से कम सरकारी क्षेत्रों में जाति सूचक नामो के उपयोग का कानून द्वारा निषेध अवश्य कर दें यह उनके प्रधानमत्री काल की बहुत बडी उपलब्धि होगी। मेरी भावना से सहमति सूचक उनके कार्यालय का पत्रोत्तर भी मुझे प्राप्त हुआ किन्तु दुर्भाग्य से उनके प्रधानमत्रित्व काल की अल्पावधि तथा विवादग्रस्तता के कारण वे यह कार्य नही कर सके।

वस्तुतः मैंने स्व श्रीमती इंदिरा गाधी को भी इस प्रकार का सुझाव देकर निवेदन किया था कि वे केन्द्रीय राज्य के मत्रियो तथा समस्त सरकारी कर्मचारियो को यह आदेश दें कि वे अपने सरकारी पदो के साथ अपने जाति सूचक नामो का प्रयोग न करें। यह बात निर्विवाद है कि जब तक हिन्दू समाज जन्मगत जाति प्रथा के अभिशापो से सर्वथा मुक्त नही हो जाता तब तक हमारा देश एक राष्ट्र तो दूर स्वय हिन्दू समाज का भी उसका एक शक्तिशाली राष्ट्रीय आधार नहीं बन सकता। हमारे प्राय सभी धार्मिक व सामाजिक सुधार भी जातपात के इस नमक की खान में विलीन होकर नष्ट होते जा रहे हैं। अतएव स्व चौ चरणसिंह के प्रति सबसे बडी श्रद्धाञ्जलि मेरी सम्मति मे यही हो सकती है कि हम उनकी स्मृति मे एक ऐसा देशव्यापी जातपात उन्मूलक आन्दोलन प्रारभ करें कि जिसके परिणाम स्वरूप हमारे देश व समाज का यह एतिहासिक कलक सदा के लिए समाप्त हो जाये।

बी. एड. मे सीधा प्रवेश

राजस्थान विश्वविद्यालय से मान्यता प्राप्त जियालाल शिक्षक प्रशिक्षण सस्थान अजमेर में विवरणिका मे घोषित नियमों और निर्धारित योग्यता के आधार पर बिना प्री बी एड टेस्ट के प्रवेश के लिए आवेदन पत्र 11 जून 87 से उपलब्ध, किये जायेंगे।

—आचार्य
जियालाल शिक्षक प्रशिक्षण सस्थान,
अजमेर

हमें खेद है

स्थानाभाव के कारण हम पूर्व घोषित कुछ लेखों को इस अक मे स्थान नहीं दे पाए हैं। आशा है कि उक्त लेख आगामी अक मे आ सकेंगे।

—सपादक

स्वत्वाधिकार आर्य समाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एव सपादक रासासिह हेतु रतनलाल गर्ग द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स, बाबू मोहल्ला केसरगज अजमेर मे मुद्रित एव आर्य समाज भवन अजमेर से प्रकाशित।

सम्पादकीय

'अपूज्या यत्र पूज्यन्ते...'

मनुस्मृति में एक श्लोक आया है कि-

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानान्तु व्यतिक्रम ।
त्रीणितत्र वर्तन्ते, दुर्भिक्षं मरणं, भयं ॥

अर्थात जिस देश समाज और परिवार में आदर सम्मान और पूजा के अयोग्य व्यक्तियों का तो सम्मान किया जाता है और जो वास्तव में सम्मान और पूजा के पात्र होते हैं उनकी अवहेलना और तिरस्कार किया जाता है तो इसी विपरीत स्थिति में वहां तीन चीजें सदैव परिव्याप्त रहती हैं -(1) दुर्भिक्ष = घोर अकाल (भूखमरी) मौत और भय का वातावरण ।

यह श्लोक देश और समाज की वर्तमान परिस्थितियों में सर्वथा सटीक और सार्थक प्रतीत होता है। आज देश में हाहाकार मचा हुआ हुआ है। अधिकांश भागों में भयंकर अकाल और दुर्भिक्ष तथा सूखा पड़ा हुआ है। रोज कहीं दंगा फसाद कहीं झगड़ा कहीं दुर्घटनाएं मुठभेड़ें आदि के रूप में लोग मरते ही रहते हैं। चारों ओर भय का वातावरण व्याप्त है। आतंकवाद फैला हुआ है। जन-जन भयाक्रांत है। अराजकता की स्थिति है। रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। अधिकारों की बात सब करते हैं परन्तु कर्त्तव्यों का किसी को भी भान नहीं है। भौतिकवाद चरम सीमा पर है। अध्यात्मवाद को भुलाया जा रहा है।

इन सब परिस्थितियों का कारण है कि मानव मूल्यों का ह्रास। सच्चाई ईमानदारी नैतिकता धैर्य, सहिष्णुता, मानवता, आस्तिकता करुणा दया, परोपकार, देश भक्ति आदि मानवीय मूल्यों का पतन हो गया है। इन गुणों की पूजा के स्थान पर बुराइयों के जाल में मानव फंसता चला जा रहा है। वैयक्तिक पतन के साथ2 सामाजिक एवं राष्ट्रीय अधःपतन भी हो रहा है। भाई भतीजावाद स्वार्थवाद क्षेत्रीयवाद भाषावाद प्रान्तीयवाद, जातिवाद साम्प्रदायिकतापृथकतावाद आदि विषफल भी इन्हीं मानवीय मूल्यों के ह्रास के फलस्वरूप उत्पन्न हो रहे हैं।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने मानवीय, सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठापना करें। जो मान सम्मान और आदर (पूजा) के पात्र हैं। उन्हीं का सम्मान करें। जो बुरे हैं उन्हें बुरा कहें और बुराइयों पर डट कर चोट करें। तभी हम आर्य कहलाने के अधिकारी होंगे।

राजा सिंह

निर्वाचन

महाराष्ट्र आर्य प्रतिनिधि सभा
प्रधान-श्री दौलतराम चड्ढा
मन्त्री-श्री हरिश्चन्द्र गुरुजी
कार्याध्यक्ष-श्री दौलतराव शिरवलकर
पुस्तकालयाध्यक्ष-प्रा. विजय कुमार शिंदे

आर्य समाज सान्ताक्रुज

प्रधान-श्री ओंकारनाथ जी आर्य
उपप्रधान-श्री देवरत्न आर्य
महामन्त्री श्री विमलस्वरूप सूद
कोषाध्यक्ष श्री कस्तूरीलाल मदान

समाज की सम्पत्ति पर अनाधिकृत कब्जों की सूचना दें

देश की अनेक समाजों की सम्पत्तियों पर अनार्यों व असामाजिक तत्वों ने अनाधिकृत रूप से कब्जे किए हुए हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान के उपप्रधान व आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य उक्त अनाधिकृत कब्जों को हटाने हेतु अपने स्तर पर प्रयास करने के इच्छुक हैं अतएव हमारा सभी आर्य पुरुषों से इस सन्दर्भ में निवेदन है कि ऐसी किसी आर्य समाज की सम्पत्ति जिस पर किसी असामाजिक व्यक्ति संस्था विशेष ने अनाधिकृत रूप से अधिकार बना रखा हो, की सूचना आचार्य जी को भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक

संस्कृत भाषा....

(शेष पृष्ठ एक का)

का विषय ले लिया करते थे परन्तु इस प्रकार के त्रिभाषा सूत्र से तो संस्कृत का कहीं स्थान नहीं रहेगा। वास्तविकता यह है कि अकेली संस्कृत भाषा के पढ़ने से भारतवर्ष की समस्त भाषाओं का मर्म पकड़ा जा सकता है। भारतीय का ही क्यों, हम तो कहेंगे कि समस्त भारोपीय (इंडो यूरोपियन) भाषा परिवार संस्कृत समस्त भाषाविज्ञान का आधार बनी हुई है। संसार का शायद ही कोई विश्वविद्यालय होगा, जहां संस्कृत के शिक्षण की व्यवस्था न हो। कभी कभी ऐसा आभास होता है कि जिस तरह योग यामा बन कर पश्चिम में अधिक पांव फैलाता जा रहा है कहीं संस्कृत के सम्बन्ध में भी ऐसा न हो। संस्कृत मृत भाषा नहीं। मृत वे लोग हैं जो इसे अपनी तो कहते हैं पर इसे अपनाते नहीं। संस्कृत केवल भारत की थाती नहीं है। यह समस्त मानव जाति की चिर-निधि है। संसार की सब से प्राचीन भाषा संस्कृत में ही वह अद्भुत कोष सुरक्षित है जो मानव जाति के पूर्वज मनीषियों और ऋषि मुनियों ने हजारों सालों तक अपने चिन्तन-मनन और स्वाध्याय के परिणाम स्वरूप संचित किया था। आज भी सारे भारत की राष्ट्रीय एकता की जैसी सामर्थ्य इस भाषा में है वैसी किसी और भाषा में नहीं। कश्मीर से कन्याकुमारी तक भारत के प्रत्येक प्रदेश में आज भी संस्कृतज्ञों का सर्वथा अभाव नहीं। किसी भारतीय भाषा का कोई प्रतिष्ठित साहित्यकार ऐसा नहीं होगा जो अपनी भाषा के साथ साथ संस्कृत का भी ज्ञाता न हो। यदि अपने पूर्वजों की उस महान विरासत को हम सुरक्षित रखना चाहते हैं तो नई शिक्षा नीति में इसके लिए एक राष्ट्रीय नीति निर्धारित करनी होगी और संस्कृत के पठन पाठन को सही दिशा देनी होगी। अन्यथा अतीत के साथ वर्तमान को जोड़ने वाली उस महान कड़ी को तोड़कर हम अपने भविष्य पर ही कुठाराघात करेंगे

आर्य समाज की कार्यविधि, संगठन, पुनर्गठन : एक समाज शास्त्रीय अध्ययन

डा. कृष्णपालसिंह

[गतांक से आगे]

वर्तमान समय में यह अनुभव किया जा रहा है कि पहले जैसा आर्य समाज को जनता का सहयोग नहीं मिल रहा है अथवा सहानुभूति में ह्रास हुआ है। पिछले 30 वर्षों से आर्य समाज के प्रति जन साधारण में आस्था की कमी आती जा रही है। इस बात का अनुमान समाज के सत्संगों में उपस्थिति को देखने से ही हो जाता है। आस्था में जो न्यूनता आ रही है उसके कारणों के सम्बन्ध में हमें उत्तरदाताओं से यथोचित जानकारी प्राप्त हुई है।

50 प्रतिशत ने आपसी विवाद वैमनस्यता को संस्था में कमी का कारण माना है। वस्तुतः इस प्रकार वैमनस्यता, पदलोलुपता आदि प्राय समाजों में दृष्टिगोचर हो रही है यह प्रत्यक्ष अनुभव गम्य है। 40 प्रतिशत की यह मान्यता है कि आर्यसमाज ने स्वाध्याय तथा आध्यात्मिक भावना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है। 33 प्रतिशत के अनुसार आर्य समाज के सदस्यों ने राजनैतिक संगठनों को अधिक महत्व प्रदान किया है। 35 प्रतिशत के अनुसार आर्य समाज के अधिवेशनों में जनता को आकृष्ट करने हेतु रोचक प्रोग्राम की व्यवस्था नहीं है। इसी प्रकार 32 प्रतिशत ने संस्था में कमी आने का यह भी कारण बताया है कि समाज दैनिक जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन है। 3 प्रतिशत ने अपनी कोई स्पष्ट राय नहीं दी है।

अत इस सम्बन्ध में तथ्यात्मक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में आर्य समाज के अधिकारियों एवं उत्तरदायी व्यक्तियों को समाज में स्वाध्याय, आध्यात्मिक उत्थान के साधन की व्यवस्था आपसी विवाद, वैमनस्यता का निराकरण राजनैतिक संगठनों के प्रभाव से समाज को बचाना मनुष्य की दैनिक जीवन की समस्याओं के प्रति जागरूक होकर उनका नेतृत्व करके समाधानार्थ समसामयिक प्रयत्न करना आदि अभीष्ट है ऐसा करने से ही समाज के प्रति जनता की आस्था में वृद्धि हो सकेगी, साथ ही बुद्धिजीवियों को आकृष्ट करने के लिए समुचित प्रयत्न एवं व्यवस्था करना आवश्यक हैं।

प्रबुद्ध व्यक्तियों को समाज के प्रति आकृष्ट करनेसंबन्धी विभिन्न सुझाव

उपरिवर्णित तथ्यों एवं कारणों से यह स्पष्ट है कि आर्य समाज में प्रायः बुद्धिजीवियों की वर्ण–वर्ण न्यूनता होता जा रही है यह एक अविस्मरणीय तथ्य इस अध्ययन से प्रकट हुआ है। अत समाज में बुद्धिजीवियों को आकृष्ट करने सम्बन्धी सुझावों के विषय में उत्तरदाताओं से जो नवीनतम जानकारी प्राप्त हुई है। वह इस प्रकार है –

दो तिहाई (66) प्रतिशत ने आर्य समाज में चरित्रवान युवकों को प्रोत्साहित करने का सुझाव दिया है। जबकि 64 प्रतिशत ने बुद्धिजीवी, त्यागी, धर्मात्मा, संयमी–सन्यासियों तथा वानप्रस्थियों के द्वारा आर्य समाज का नेतृत्व करने के पक्ष में राय अभिव्यक्त की हैं। 59 प्रतिशत ने बुद्धिजीवियों का यथायोग्य सम्मान किये जाने का सुझाव दिया है।

55 प्रतिशत ने सदाचारी उपदेशकों तथा सदस्यों के निर्माण व प्रोत्साहन दिये जाने का सुझाव दिया दिया है। इसी प्रकार से समाज के साप्ताहिक अधिवेशनों सभाओं आदि को बौद्धिक स्तर का बनाना तथा सामाजिक राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूक होने के अनेक सुझाव दिये गये हैं।

अत निष्कर्ष रूप में तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए यह कह सकते हैं कि आर्य समाज में विद्वानों, बुद्धिजीवियों, को आकृष्ट करने से आर्य समाज का नेतृत्व, बुद्धिजीवी, सदाचारी, संयमी, त्यागी, दम्भादिदोष रहित राग-द्वेष ईर्ष्यादि विरहित, मिथ्याभिमान, आडम्बर आदि से रहित सत्योपदेष्टा, न्यायप्रिय लोभादि दोषों से रहित धर्मात्मा सन्यासियों तथा वानप्रस्थियों को सौंपने से समाजोत्कर्ष अवश्यम्भावी है। साथ ही चरित्रवान युवकों का समाज से पृथक न करना अपितु उन्हें समाज में आने के लिए प्रेरित करना, बुद्धिजीवियों का सम्मान, कथनी-करनी के अन्तरसे रहित उपदेशक सभासदों को प्रोत्साहन तथा सत्संग को बौद्धिक स्तर का बनाने के विषय में सचेष्ट होते हुए उपर्युक्त कथित सुझावों को क्रिया रूप (प्रयायात्मक) में अपनाने से और समाज के प्रति व्यक्तियों का आकृष्ट करने से समाजोन्नति की जा सकती है।

आर्य समाज में प्रारम्भ से ही बुद्धिजीवियों विद्वानों कर्मठ कार्यकर्त्ताओं का बाहुल्य रहने के कारण स्वतन्त्रता संग्राम राष्ट्रीय जागृति जनजागरण, शिक्षा वेदोत्थान छुआछूत उन्मूलन महिला कल्याण, वर्णाश्रम व्यवस्था की शास्त्रीय मर्यादा पर आधारित समाज की पुनर्स्थापना सामाजिक सुधार चरित्र निर्माण इत्यादि अनेक क्षेत्रों में जो योगदान रहा है, उसके सम्बन्ध में हमेउत्तरदाताओं से जो तथ्य प्राप्त हुए हैं वे निम्न प्रकार हैं।

यह उल्लेखनीय तथ्य है किअधिकाश उत्तरदाताओं ने आर्य समाज के विभिन्न क्षेत्रों में किये गये योगदान की पुष्टि की है। उनकी धारणाओं के आधार पर यह अवगत हुआ कि 75 प्रतिशत ने स्वाधीनता संग्राम आन्दोलन में इसका अत्यधिक योगदानमाना है। महिला कल्याण कार्यक्रम में योगदान के सम्बन्ध में 74 प्रतिशत अधिक मानते है। जबकि 18 प्रति कुछ कम का महत्वपूर्ण योगदानमानते है। शिक्षा प्रसार में 75 प्रतिशत के अनुसार अत्यधिक योगदान रहा है। सामाजिक सुधार जैसे महत्वपूर्ण कार्यों में भी आर्य समाज की भूमिका के संबंध में दो तिहाई उत्तरदाता इसके प्रशंसक रहे हैं।

इसी प्रकार वेदोत्थान 71 % चरित्र निर्माण 61 प्रतिशत राष्ट्रीय जागृति एवं जन जागरण क्षेत्र में 54 प्रति ने इसकी उल्लेखनीय भूमिका को स्वीकार किया है। अत स्पष्ट है कि आज भी आर्य समाज की छवि एक राष्ट्रीय हितचिंतक समाज सुधारक समाज सेवीसंस्था के रूप में तथा इसके विभिन्न क्षेत्रों में किये गये कार्यों के संबंध में एकराय से सब महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करते है।

यह एक पृथक विषय है कि वर्तमान में प्रारम्भिककार्यों जैसा उत्साह विद्यमान नहीं है इसी उत्साह को पुनर्स्थापित करने के लिये आर्यसमाज को पुनर्स्थापित करने के लिये आर्य समाज को पुनर्गठित किये जाने की आवश्यकता विद्वानों द्वारा अनुभव किया जा रहा हैं।

आर्य समाज के पुनर्गठन विषयक दृष्टि कोण

जैसा कि तथ्य सर्वविदित ही है कि महर्षि दयानन्द द्वारा आर्यसमाज की स्थापना सर्वप्रथम बम्बई में कीगई थी। उस समय उन्होने इस समाज के 28 नियमों की व्यवस्था की थी। बाद में स्वयं स्वामी 10 नियमों के रूप में अन्तिम स्वीकृति प्रदान की इस के साथ ही आर्य समाज के उपनियम संविधान आदि की रूप रेखा निर्धारित की गई थीं। वर्तमान समय में आर्य समाज में शिथिलता का अनुभव किया जा रहा है। इसके अनेक कारण हो सकते हैं किंतु कुछ विचारकों का यह भी मन्तव्य है या अनुभव कि आर्य समाज को पुनर्गठित किया जाना चाहिए। जिससे इसमें उत्पन्न हुई शिथिलता को दूर किया जा सके। इस संबंध में हमने उत्तरदाताओं के दृष्टिकोण जानने केलिये एक प्रश्नावली प्रेषित की। जिसके आधार पर यह एक महत्वपूर्ण तथ्य उभरकरसामने आया है कि 90 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने आर्य समाज के पुनर्गठन पर बल बल दया है। इसके साथकेवल 7 प्रति ने अपनी इसम बारे स्पष्ट राय नही दी हैं जबकि 3प्रति ने ही आर्यसमाज के पुनर्गठन की आवश्यकता को स्वीकार नहीं किया है। यद्यपि अधिकाश उत्तरदाताओं ने आर्य समाज के पक्ष को पुष्ट किया है। तथापि आर्य समाज के उपनियमों में संशोधन परिवर्तन के विषय में आगामी अनुसंधान एवं विचार विमर्श की उपेक्षा है साथ ही यह भी विचारणीय है कि आर्यसमाज का पुनर्गठन किस प्रकार से किया जाना चाहिए तथाउसका स्वरूप कैसा होगा ? उसकी पद्धति कैसी होगी इत्यादि अनेक पक्षों के संबंध में गंभीर विवेचन की आवश्यकता हैं।

आवश्यक सुझाव एवं निष्कर्ष

उपरिवर्णित विवरण से सुस्पष्ट ही है कि अधिकांश व्यक्ति यह अनुभव करते है कि आर्य समाज का पुनर्गठन किया जाना अपेक्षित है तथापि इस इस पुनर्गठन की प्रक्रिया क्या है। इससे संबंधित महत्वपूर्ण सुझावों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। इसी दृष्टि से उत्तरदाताओं ने पुनर्गठन संबंधी जो सुझाव दिये हैं। वे निम्न प्रकार है।

दो तिहाई से अधिक 71 प्रति ने आर्य समाज के केन्द्रीकरण करने का सुझाव दिया हैं। 41 प्रति ने आर्य समाजके उपनियमादि वैधानिक पुनर्गठन की आवश्यताकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। वर्तमान समय में जो नेतृत्ववर्ग हैं उसके प्रति अनास्था प्रकट करते हुए नेतृत्व परिवर्तन के पक्ष में 72 प्रतिशत ने अपनी राय अभिव्यक्त की है 56 प्रति ने आर्य समाज में व्याप्त विघटनकारी करणों एवं तत्वों पर नियन्त्रण करने के पक्ष में राय दी हैं। (क्रमश)

आर्य समाज और हिन्दू जन-समाज

डा. स्वामी सत्यप्रकाश

आर्य समाज का प्रादुर्भाव हिन्दू समाज के अन्तर्गत हुआ। महर्षि दयानन्द हिन्दू परिवार के बीच जन्मे और पले। हिन्दू समाज के गुण दोष दोनो उनके समक्ष आये। भारतवर्ष के मूल निवासी आर्य थे। यह वह समय था जब इस भूमि पर थोड़े से ही मानव प्राणी थे। उत्तर भारत के हिमालय प्रदेश के आस-पास कहीं, इस मानव के मध्य में वेदवाणी आविर्भूत हुई-ऋचाओ की यह मन्द वाणी जो आर्यों की प्रारम्भिक भाषा बनी, और मानव जाति के नेतृत्व के लिए वेद की ऋचाओ के माध्यम से एक आचार संहिता प्राप्त हुई जो आज तक मनुष्यमात्र की आचार संहिता है। इस आचार संहिता के शाश्वत वाक्य थे जिन्होंने आर्यों का जीवन-मार्ग प्रशस्त किया। जैसे—

(1) सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
तुम अकेले नही हो। साथ साथ चलो साथ-साथ बोलो साथ साथ विचारो।

(2) दुरितानि परा सुव यद् भद्रं तन्न आ सुव?
दुरित दुःख दुर्गुण दुराचरण—सब दूर फेंको। जो भी भद्र कल्याण कारक हो, उसे ग्रहण करो।

(3) स्वस्ति पन्थामनुचरेम—हम सब कल्याण के मार्ग पर चलें।

(4) सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु—समस्त दिशायें मेरी मित्र हों।

(5) भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम—दोनों कानो से अच्छा सुनो, भद्र यश के शब्द ही कानो मे पड़ें।

(6) ईशावास्यमिदं सर्वम्—यह समस्त जगत ईश्वर से ईश्वरीय आस्तिक भावों से ओत प्रोत है।

(7) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
कार्य करते हुए, सौ वर्ष जीने की इच्छा करें।

इस प्रकार की सैकड़ों वाणियों के वातावरण में मनुष्य ने अपने समाज का विकास किया। धरती को स्वर्ग बना दिया। मनुष्य ने मिलकर तपस्या की और प्रकृति का वरदान उसे उपलब्ध हुआ। प्रभु ने मनुष्य को सामूहिक आत्मबल दिया। इस स्वर्णिम युग में जिस मानव समुदाय का उद्भव हुआ, उसका नाम 'आर्य' था। ये आर्य समस्त धरती पर फैल गए। यह समस्त धरती (पृथिवी) उनकी माता थी और वे इसके पुत्र थे। वीर-भोग्या वसुन्धरा। पृथिवी पर सर्वलोक हिताय तपस्या और श्रम करने वाली सन्तानों को 'वीर' कहा गया है, यह धरती धनधान्य से पूरित हो गयी फलवती हुई शस्यश्यामला बनी हिरण्यगर्भा और वसुन्धरा बनी। वीर आर्यों को उत्पन्न करके माता पृथिवी सचमुच मे सौभाग्यवती बनी।

यह कहानी हजारों वर्ष पुरानी है हो सकता है कि लाखों वर्ष पुरानी हो। किन्तु पिछले चार पांच सहस्र वर्षों के इतिहास में आलस्य, प्रमाद, ईर्ष्या वैमनस्य के क्षुब्ध वातावरण ने धरती को स्वर्ग से नरक बना डाला और इस परिस्थिति के परिणाम स्वरूप अवतारवाद पैगम्बर वाद और नास्तिकतावाद उत्पन्न हुए जिन्होंने आर्य जाति को छिन्न भिन्न करके अनेक कुरीतियों और कुकर्मों का मन्दिर बना डाला।

महाभारत के गृह युद्ध के अनन्तर भारत के उत्तर पूर्वीय कोनों से बार बार इस देश पर हमले हुए। यूनानी आये, कुषाण आये, हूण आये। इनमे से कुछ विजेता भारत मे बस गए और भारतीय आर्यों ने उन्हें अपना बना लिया वे इस देश का अंग बन गये। देश के मुसलमानों ने आक्रमण किया तो ईरानी आर्य (जो पारसी कहे जाते थे) अपनी 'अग्नि' को लेकर भारत आ बसे। उन्होंने मुसलमानी धर्म स्वीकार नहीं किया था ये पारसी भी शान्तिपूर्वक भारत में बस गए। 900 ई के लगभग से जो मुसलमानी काफिले इस देश पर आक्रमण के रूप में आये, वे अपने साथ कुरान और हजरत मुहम्मद को रसूल के रूप मे लाये। इन्होंने नये धर्म और नयी सभ्यता को भारत पर लादना चाहा। इन्होंने इस देश के रहने वालो को काफिर बुतपरस्त और निन्द्य शब्दों से सम्बोधित किया—'हिन्दू' शब्द की इन्होंने मनव्युत्पत्ति की—काफिर, चोर, गुलाम और बुतपरस्त। मुसलमान भारत मे नये नारे लेकर आये थे। भारत छिन्न भिन्न हो गया था मूर्तिपूजा अवतारवाद जन्मना जाति पांत वाद ने इसे जीर्ण शीर्ण कर डाला था। मुसलमान विजेता के रूप मे आते रहे, उन्होंने भारत पर राज्य भी किया, और यहां के लोगों को मुसलमान भी बना डाला। 900 ई से 1900 ई तक लगभग एक तिहाई भारतीय मुसलमान हो गया। 1000 वर्षों मे 10 करोड़ के लगभग मुसलमान भारत की जनगणना में अंकित हुए। इनमे थोड़ी सी संख्या भारत के बाहर से आये हुए मुसलमानो की थी—शेष तो भारतीय हिन्दू ही थे जो मुसलमान बन गए। कुछ हिन्दुओं को मुस्लिम शासन में बलात् मुसलमान बनाया गया, कुछ प्रलोभनों से मुसलमान बने, और काफी संख्या मे ऐसे हिन्दू भी मुसलमान बने जो भारत में हिन्दुओं के अस्पृश्य और गर्हित व्यवहार से तंग थे। बंगाल असम उड़ीसा के बौद्ध हिन्दुओं के अत्याचारों से दुःखी होकर पूरे के पूरे ही मुस्लिम बन गए। ये बौद्ध हिन्दू समाज मे घृणित और कुत्सित व्यवसाय के लिए बाध्य किए जाते थे।

1860-1870 ई के लगभग महर्षि दयानन्द ने हिन्दुओं की इस भीषण स्थिति का परिचय प्राप्त किया और उन्होंने इन हिन्दुओं के बीच मे अपना कार्य प्रारम्भ किया। स्वामी दयानन्द ने यह देखा कि मुसलमान 1000 वर्ष से इस देश के लोगों को मुसलमान बना रहे हैं, और साथ ही साथ लगभग 200 वर्ष से इस देश के लोग ईसाई भी हो रहे हैं। अंग्रेजी साम्राज्य ने भारत मे ईसाईमत का प्रोत्साहन दे रखा है। स्वामी दयानन्द के समय भारतवासियों मे ईसाइयों की संख्या 0.1 प्रतिशत से अधिक तो न थी पर देश परतन्त्र था और अंग्रेजी शासन ईसाई धर्म को स्वभावतः प्रोत्साहन दे रहा था। जिन कारणों से भारतीय हिन्दू मुसलमान बनता था, लगभग उन्हीं कारणों से ईसाई भी बनने लगा। स्वामी दयानन्द ने भारतीय हिन्दुओं की इन सब समस्याओं पर विचार किया।

स्वामी दयानन्द जिस परिणाम पर पहुंचे वह यह था—

(1) भारत में रहने वाले हिन्दुओं की रक्षा करना—

(क) मुसलमानों से, (ख) ईसाइयों से, (ग) पश्चिमी सभ्यता के दुर्गुणों से।

(2) हिन्दुओं की यह रक्षा तभी सम्भव है, जब हिन्दू अपने समाज के निम्न पांच कलंकों से छूट जाय। ये कलंक हैं—

(क) मूर्तिपूजा और अवतारवाद

(ख) जन्मना जाति पांतिवाद

(ग) छुआछूत वाद या अस्पृश्यतावाद

(घ) सस्ती मुक्ति दिलाने वाले ठेकेदारों पण्डे, पुजारी महन्त मठाधीश आदि से विमुक्ति।

(ङ) अन्ध विश्वास और रूढ़ियां जैसे मृतक-श्राद्ध, फलितज्योतिष, भूत प्रेतवाद, हस्तरेखा और भविष्य, मन्दिर और तीर्थों से सम्बद्ध अन्धविश्वास आदि। (क्रमशः)

आर्य समाज का पुनर्गठन: कुछ सुझाव

—अम्बा प्रसाद शर्मा—

आज देश के कोने कोने मे साम्प्रदायिक दंगो के समाचार आ रहे है। अलग-2 प्रांतों मे अलग-2 जातियां संघर्षरत हैं उद्योगों मे विरोधी श्रमिक संघो मे आपस मे ठनी हुई है।

पंजाब, नागालैंड व त्रिपुरा की अपनी समस्याएं हैं। कई राज्यो म जल या सीमा सम्बन्धी विवाद चल रहा है।

यह विश्वास करना कि इन सब लोगो की मातृभूमि एक ही देश भारतवर्ष है। ऐसा नही लगता है कि इनके किसी भी क्रियाकलाप का सम्बन्ध भारतवर्ष अथवा उसके आम नागरिकों के कल्याण से है।

यह है आजके भारत की तस्वीर।

डेढ़ सौ वर्ष पूर्व:

हमारे देश के राष्ट्रीय मंच की लगभग यही दशा स्वामी दयानन्द के समय मे थी यद्यपि उस मंच के पात्र भिन्न थे। वे थे शिव विष्णु और राम के पुजारी जो निरंतर संघर्षरत थे। विभिन्न पंथों के अनुयायी भ्रष्ट पंडे पुजारियो की जमात जैन, इस्लाम, ईसाई धर्म के अनुयाइयों का पाखंड मास मदिरा और अंग्रेजो के गुलाम, विलासिताओं में डूबे हुए राजे रजवाड़े और नारी को नर्क मानने वाले तथाकथित 'पवित्र आत्मा' विद्वान एवं पंडित। समाज में चारो ओर अंधविश्वास पाखंड और विघटन का राज्य था। किसी के सामने राष्ट्रीय दृष्टिकोण नहीं था।

स्वामी दयानन्द का प्रयास

हम ऊपर कह चुके हैं कि देश की परिस्थिति स्वामी दयानन्द के समय में भी लगभग ऐसी ही थी। उन्होने उससे निकलने का क्या रास्ता सुझाया था? वह बाल ब्रह्मचारी। संन्यासी थे अतः उनकी कोई जाति नहीं थी अतः जातियता का लांछन उन पर लग नही सकता था। अपने वंश देश का मंत्री या अफसर बनने की संभावना उनके सामने नहीं थी।

सच्चे शिव का तलाश मे निकला वह संन्यासी मेवाड़ के शिव मन्दिर का आगार को ठोकर मार चुका था। स्त्री को वह मानव की जन्मदात्री और निर्मात्री होने का गौरव देता था। स्वामीजी ने अच्छे इंसान के निर्माण के लिये दस नियम बनाये जिन पर विश्व का कोई व्यक्ति धर्म या देश आपत्ति नहीं कर सकता। स्वामीजी का विचार था कि जैसा वेद ने कहा है हमे सच्चे और अच्छे इंसान बनकर सदा दूसरो के कल्याण की बात सोचनी चाहिए।

तभी हम सब इस पृथ्वी पर एक परिवार के सदस्यों की तरह शांति और समृद्धि में रह सकेंगे। इसीलिए सर सैयद अहमद खां जैसे इस्लाम के कट्टर अनुयाई भी उनके प्रशंसक थे।

पाल रिचर्ड अलकाट और रेमसे मेक डानल्ड आदि अनेक ईसाई विद्वानो ने स्वामीजी को भारत का निर्माता कहा है। वैदिक जीवन पद्धति द्वारा अच्छे इंसान बनाने के लिए स्वामीजी ने जो आन्दोलन चलाया वह था आर्य समाज। आर्य समाज के लोगो में मानव मूल्यो और सत्य ज्ञान के लिय गहरी पिपासा थी, सामाजिक कुरीतियो को दूर करने की ललक थी और विदेशी शासन से भारत को मुक्त कराने की आग थी। इन्ही लोगो ने स्वतंत्रता आंदोलन मे कूदकर कुर्बानी का चार चांद लगाया।

आर्यसमाज की निष्क्रियता

समय की गति के साथ आर्य समाज के लोग भी काम क्रोध, मद और लोभ से ग्रसित हो गये। वे समाज के पदो को आभूषण समझ कर उनसे चिपक गये। अपने वर्चस्व को स्थाई रखने हेतु नई सदस्यता बंद कर दी गई। समाज का मंच उनकी पर साथ बन कर बैठ गये। जन जागरण के कार्य को तिलांजलि दे दी गई। वे पश्चिमी जीवन शैली के गुलाम बन गये। गुटबंदी और राजनीति समाज मे घर कर गई।

फलत समाज निष्ठावान कार्यकर्ताओं के हाथ से निकलकर व्यापारी वर्ग के हाथो म चला गया। सस्ती वाहवाही लूटने के चक्कर मे उन्होने ऐसे लोगो से समझौता कर लिया जो अज्ञान अंधकार और अवैदिक विचारो से ग्रसित थे। जो स्वयं सो जाए वह दूसर को क्या जगायेगा?

समाधान

इस बात पर देश के सभी वैदिक विद्वान एक मत हैं कि यदि देश को वर्तमान दशा गति से निकालना है तो आर्य समाज का पुनर्गठन करना ही होगा। उन्होने विचार विमर्श के बाद सुझाव भी दिये हैं यथा- उसके संविधान में संशोधन प्रभावी प्रचार प्रसार, विवादो के लिए न्यायसभाएं पुस्तकालया तथा शोध केन्द्रो की स्थापना शिक्षण संस्थाओं के केन्द्रीय संगठन आदि।

पुनर्गठन तो आर्यों का करना है आर्य होंगे तो उनका पुनर्गठन होगा। अर्थात मूल कार्य तो पहले आर्य बनाने का है। आर्य कैसे बनें? हर आर्य समाजी गृहस्थ को यह दायित्व लेना चाहिये कि वह अपने बालकों के यथा विधि संस्कार कराय, उन्हें ब्रह्मचर्य का महत्व समझाय, वैदिक जीवन चर्या उन्हे सिखाये।

वह देखें कि वे व्यवहार मे विनम्रता सुशीलता, आज्ञापालन, छोटो के प्रति स्नेह निबलो के प्रति दयालुता का आभास दें। ईश्वरमेंआस्था रखें और संध्या हवन नित्य करें। वे घृणा और पाखण्ड से बचें। समाज के सत्संगो मे जावें और आर्य विचारा चित प्रवृतियो म भाग लें। उन्हें वैदिक साहित्य की सामान्य जानकारी अवश्य कराई जाय भले वे वाणिज्य विज्ञान कला कृषि कुछ भी क्यो न पढ़ें। उनका सचरित्रता की गारण्टी माता पिता लें।

इस प्रकार बालको के सुसंस्कारो और चरित्र निर्माण के लिए माता-पिता वर्षो तपस्या करें। यदि आर्यो ने आर्य समाज की पौध को परिवार की मिट्टी म पाल पोसकर तैयार कर लिया तो विश्व तो बने या न बने परन्तु देश के लाखों परिवार आदर्श आर्य बन जायेंगे और तब हमारे पास एक ऐसी शक्ति होगी जो भारतीय समाज को वांछित रूप दे सकेगी।

हम अपनी संतान मे तो आर्यत्व के संस्कार डालने म असफल रहें और आशा करें कि जुलूसो सभाओं, नारो और भाषणो म सड़क पर चलन लाग आकर सच्चे आर्यो की सेना खड़ी कर देंगे तो यह दुराशा मात्र ही सिद्ध होगा।

आर्यो के निर्माण का यह पावन कार्य परिवारो के साथ साथ आर्य समाज के गुरुकुलो मे भी गुरुओं की जिम्मेदारी पर होना चाहिए (वैसे यहां हो भी रहा है)। ... होना चाहिए ... कालेजो म जहां धन ... को शर्त बाढ़ आता है और ... कोय अनुदान बंद करने ... देती है।

अब ... बात ... अद्धा ... के सम्मुख ... करना चाहिए।

... आर्य ...

अपना दीप जलाओ

—लाखनसिंह भदौरिया "सौमित्र"—

काली चुनौती देता हमको बढ़ता हुआ अंधियारा,
पल पल दूर जा रहा हम से उगता हुआ सवेरा।

निशा नाचनी दसों दिशाओं उड़ी तिमिर की धुन
अपना दीप जलाना होगा झंझा के प्रतिकूल।

आत्मा की चिर दीप्त वर्तिका को थोड़ा उकसा दो,
मानो नहीं ज्योति जगना म, लौ बनकर मुस्का दो,

जगमग जगती के उपवन मे खिलें ज्योति के फूल,
माथे से फिर तिलक लगाये इस धरती की धूल।

अमा अमा माने भूतल से भाग सघन अंधेरा
अवनी का आलोक स्तम्भ बन, ज्ञान भारत मेरा

आज मशक्कति के परवाने आ आ सीना तान ने
दीप बुझाने नहीं उजालित पलों में दीप जलाने।

तब समझूं मा तुम जलन की कितनी आग लिय हो।
और समझने प्राणो मे कितना अनुराग लिये हो।

साहित्य-समीक्षा

पुस्तक का नाम : आंसू डूबी मुस्कानें (कविता संग्रह)
रचयिता : लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र'
प्रकाशक : रचयिता स्वयं
आकार : 20×30×16 पृष्ठ 88
मूल्य : दस रुपया
सम्पर्क सूत्र : सौमित्र, भोजपुरा, मैनपुरी [उ. प्र.]

'सौमित्र' के नाम व उनके काव्य से सपूर्ण आर्य जगत भली-भांति परिचित है। आप आशु कवि हैं। आपकी कविताएं अत्यन्त भावपूर्ण एवं मार्मिक होती हैं। कविवर प्राणाधार ने आपके विषय में सत्य ही कहा है—

लाखन मे कवि एक है, लाखनसिंह सौमित्र।
जाकी कविता महकती, ज्यों कनोजा इत्र॥

आंसू डूबी मुस्कानें सौमित्र जी के मुक्तकों व कविताओं का संग्रह है।

आधुनिक प्रगति के खोखलेपन पर कवि ने भरपूर प्रहार किया है—

प्रगति का सिलसिला सखे कितना आगे चला है।
भूमि, नभ सागर सभी को जीतने का हौसला है॥
फासले संसार के नजदीकियों मे बदल डाले।
तय न होता आदमी से आदमी का फासला है॥

कविवर का हृदय जन साधारण द्वारा की गई उपेक्षा से क्षुब्ध है। उसे दुख है कि लोग उसके परिश्रम का कोई मूल्य नही समझते।

कवि का दर्द देखिए—

सर्वदंशिता पीड़ाओं को कितने जन्म पड़ा लहराना।
तब प्रभाव के नीलकण्ठ से फूट रहा मद भरा तराना॥
कण्ठ कण्ठ पीड़ा का स्वर है अपना राग सुनाये कैसे।
इतना सरल नही होता है विष के घूट कण्ठ से गाना॥

आशा है कि जन-साधारण कवि के महत्व को समझेगा, उसके उत्कृष्ट के काव्य का समझ गा और उसे अत्यन्त प्रेम व आदर सहित अपनायेगा।

—वीरेन्द्र आर्य

श्रीगुरुकुल चित्तौड़गढ़ मे प्रवेश आरम्भ

संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से आर्ष पद्धति पर आधारित प्राचीन व्याकरण व वेद निरुक्त प्रक्रिया से मध्यमा शास्त्री व आचार्य कक्षा तक की पढ़ाई व परीक्षा का समावेश है विगत वर्षों मे यहां का परीक्षा परिणाम अति ही उत्तम रह रहा है पढ़ाई 1 जुलाई से आरम्भ होती है प्रवेश सबधी अन्य जानकारी के लिए मुख्याधिष्ठाता श्री गुरुकुल चित्तौड़गढ़ राजस्थान 312001 इस पते से पत्र व्यवहार या सम्पर्क करें।

स्वत्वाधिकार आर्य समाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एवं सम्पादक रासासिंह हेतु रतनलाल वर्मा द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स, बाबू मोहल्ला केसरगंज, अजमेर मे मुद्रित एवं आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

आर्य समाज, अजमेर का हिन्दी पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

वेदोऽखिलो धर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
समस्त जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष 3 बुधवार 15 जुलाई, 1987
अंक 10 प. स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

श्रावण कृ 5सवत 2044
वार्षिक म् 15 - एक प्रति 60 पैसे

पंजाब से आतंकवाद समाप्त करने का दायित्व सिखों पर

— दत्तात्रेय आर्य

अजमेर । आर्य समाज अजमेर के तत्वाधान मे हाल ही मे ही पंजाब व हरियाणा मे आतंकवादियो द्वारा की गई हत्याओ पर अपना क्षोभ व भारत सरकार की ढुलमुल नीति के प्रति अपना रोष व्यक्त करने हेतु एक सभा का आयोजन किया गया । सभा की अध्यक्षता आर्य समाज के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य ने की ।

सभा में सुप्रसिद्ध आर्य नेता कैप्टन देवरत्न आर्य ने अपने विचार रखे । आपने कहा कि आर्य समाज गत महिनो से पंजाब मे सेना नियुक्त करने की मांग से कर रहा है । परन्तु केन्द्रीय सरकार इस पर नकारात्मकता का रुख अपनाए हुए है । जिसके फलस्वरूप आतंकवादियो को खुलकर खेलने का अवसर मिल रहा है । श्री आर्य ने सुरक्षा पट्टी बनाने व पंजाब को सेना को सौंपने की मांग भारत सरकार से की ।

अध्यक्ष पद से बोलते हुए आचार्य दत्तात्रेय जी ने कहा कि मैं श्री खुशवंतसिंह की इस बात से पूर्णतया सहमत हूँ कि पंजाब से आतंकवाद समाप्त करने की जिम्मेदारी हिंदुओ की नही अपितु सिखो की है । क्योंकि आतंकवादी सिख धर्म से सम्बन्ध रखते है । अतएव स्वर्ण मंदिर के मुख्य ग्रंथियो को चाहिए कि वे आतंकवादियो को मनखैय्या घोषित कर आम सिखो से अलग-थलग करने का महत्वपूर्ण कार्य करें । इससे आतंकवाद को समाप्त करने मे बडी मदद मिलेगी । यदि भय, व्यक्तिगत स्वार्थो आदि के कारण मुख्य ग्रंथी ऐसा नही करते तो समस्त शान्ति व न्याय प्रिय सिखो को उन पर यह कार्यवाही करने का दबाव डालना चाहिए ।

आचार्य जी ने कहा कि मै मानता हूँ हिंसा का बदला हिंसा लेना मानवता व देशहित मे नही है । परन्तु प्रतिक्रिया तभी रुक सकती है जबकि क्रिया न हो । आपने केन्द्रीय व पंजाब मे आतंक पीडित लोगो के लिए एक ऐसे सुरक्षित क्षेत्र का निर्माण करे, जहा उनके लिए निवास व्यवसाय आदि जीवनोपयोगी सभी सुविधाओ की व्यवस्था हो । इसके साथ ही आपने उग्रवादियो के भय से पलायन वाले लोगो की सम्पत्ति की रक्षा का पूर्ण दायित्व सरकार तब तक ले, जब तक की स्थिति उनके वापस लौटने के अनुकूल नही हो जाती ।

सभा मे उक्त आशय एव प्रस्ताव भी पारित कर प्रधानमन्त्री गृहमंत्री को प्रेषित किया गया । सभा के कार्यवाही दो मिनट का मौन रखकर पंजाब व हरियाणा मे हुए हत्याकाण्ड मे मारे गए व्यक्तियो को श्रद्धांजलि देने के पश्चात सभा समाप्त हुई ।

संतराम बी. ए. पर डाक टिकट जारी किए जाए

आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान के वरिष्ठ उपप्रधान व आर्य समाज, अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेयजी आर्य ने भारत सरकार से श्री संतरामजी बी ए पर डाक टिकट जारी करने की अपील की है ।

आचार्यजी ने केन्द्रीय संचारमंत्री को लिखे पत्र मे श्री संतरामजी के सामाजिक व साहित्यकीय कार्यो का स्मरण कराते हुए, उन पर डाक टिकट जारी कर उन्हे सम्मान देने का अनुरोध किया है ।

हिन्दुओं ने अतीत की गलतियों से कोई सबक नहीं सीखा

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

नाथद्वारा के मंदिर मे हरिजनो के प्रवेश को लेकर जो दुर्भाग्यपूर्ण दुर्घटना घटी है, भविष्य मे हिन्दुओ को उसके भयंकर दुष्परिणाम भुगतने पडेंगे । भारतीय इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि अतीत में जब भी ऐसी दुर्घटनाऐ घटी हैं, उन सबकी परिणति हरिजनो द्वारा किए गए सामूहिक धर्मपरिवर्तन से हुई है ।

धर्म परिवर्तन का मतलब राष्ट्रान्तरण है । महामना मालवीय कट्टर पौराणिक थे, परन्तु इस धर्मपरिवर्तन के दूरगामी दुष्परिणामो को भांपकर उन्होंने भी छुआछूत की भावना को तिलांजलि देते हुए हरिजनो से कहा था 'हमारे हरिजनो विधर्मियो के बहकावे मे आकर धर्म परिवर्तन न करें । हम उनकी चरण-रज लेने को तैयार हैं ।

हिन्दुओ की अतीत की गलतियो का प्रतिफल तो पाकिस्तान के रूप हमारे सामने है । नाथ द्वारा की दुर्घटना सिद्ध करती है कि वे फिर एक और पाकिस्तान के निर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार कर रहे है ।

काश अतीत से कुछ सीख सकते ।
[illegible]
जो गिरकर सम्भल जाने ।

आर्यसमाज शाहपुरा

प्रधान—श्री बंशीलाल छीपा
मंत्री—श्री बंशीलाल सोनी
कोषाध्यक्ष—
श्री सत्यनारायण तोलम्बिया
पुस्तकालयाध्यक्ष—
श्री बादकरण मूंदडा

निवेदक :-दत्तात्रेयआर्य प्रधान संपादक : रासासिंह संपादक :वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन कार्या : 21010

कब तक खून बहता रहेगा……

दिनांक 6 एव 7 जुलाई 87 ई की रात्रियां नरमेध के काले इतिहास में दो पन्ने और जोड़ गई। चौबीस घंटे मे हरियाणा रोडवेज की तीन बसों को पंजाब के लालडू तथा हरियाणा के फतेहाबाद के पास आतकवादियो द्वारा रोककर निर्दोष 74 बस यात्रियों को स्टेनगनो की अधाधुन्ध गोलियो से भून दिया गया। रक्तरंजित इतिहास का पन्ना पुन खून से सन गया। सारा देश स्तब्ध रह गया, मृतक सब हिन्दू थे। सिक्ख समुदाय के व्यक्तियो को भगा दिया गया। उसकी प्रतिक्रिया देश के अन्य भागो मे भी होना स्वाभाविक था। कहीं कर्फ्यू लगे, कहीं बन्द आयोजित हुए, कहीं भर्त्सनाए हुई और कहीं शोक प्रस्तावों की औपचारिकताए हुई।

सवाल उठता है कि आखिर कब तक इस निर्ममता से देशद्रोही, पैशाचिकवृत्ति वाले हत्यारे आतकवादियो के हाथो हत्याए होती रहेगी? देश का जनधन लुटता रहेगा? बेकसरो को गोलियो से उडाया जाता रहेगा। बहुत हो चुका। हर बार सख्त मुस्तैदी कदम उठाने की बात कह दी जाती है और तुरन्त दुखद घटनाए फिर घटित हो जाती है। यह शासको के लिये सत्ताधारियो के लिये, सरकार के लिये घोर लज्जा का बात है। सुरक्षा एव गुप्तचर व्यवस्था सर्वथा निकम्मी साबित हुई है। पंजाब का हिन्दू आतंकित है। हजारो की सख्या मे लोग घर बार छोडकर दिल्ली, हरियाणा तथा अन्य राज्यो मे चले गये हैं। पंजाब मे भी रोज दो, चार छ जान और कभी ज्यादा भी आतकवादियो के हाथो मारे जाते हैं। मरने वाला हर व्यक्ति चाहे वह सिक्ख है या हिन्दू वह भारतीय है। राष्ट्र का नैतिक दायित्व है कि वह प्रत्येक नागरिक के जानमाल की रक्षा करे।

सरकार को अविलम्ब निम्न कदम उठाने चाहिये —

1 काश्मीर से कच्छ तक की सीमा पर सुरक्षा पट्टी बनाई जाय।
2 लोगो की जान माल की रक्षा करने तथा उनमे आत्मविश्वास पैदा करने हेतु विशेष क्षेत्रो को सेना के हवाले किया जाय।
3 रात्रिकालीन बस सेवाओ मे अनिवार्य रूप से सुरक्षा सैनिक हो।
4 पंजाब पुलिस के सदेहास्पद तत्वो की छटनी की जाय। पंजाब पुलिस मे अल्पसख्यको समुचित प्रतिनिधित्व दिया जाय।
5 गुप्तचर व्यवस्था सुदृढ की जाय।
6 आतकवादियो का कठोरता से दमन किया जाय।
7 आतकवादियो की धरपकड और पहचान के लिए अधिकाधिक जन सहयोग प्राप्त किया जाय।
8 पीडित व्यक्तियो को फौरन राहत दिलवाई जाय। जैसे हरियाणा सरकार ने तत्परता दिखाई है।

सिक्खों का कर्त्तव्य— पंजाब मे आतकवादियो का मुकाबला करने तथा अपने हिन्दू भाईयो की रक्षा करने हेतु सिक्खो को भी सक्रिय होकर आगे आना होगा। बसो से छांटन कर वे डट जावे। हिन्दू भाइयो की खातिर अपनी जान जोखिम में डालें। जिस प्रकार पंजाब से बाहर हिन्दुओं ने अपनी जान जोखिम में डालकर अपने सिक्ख भाईयों की रक्षा की है।

सिक्ख भाइयों को खुले दिल से आतकवादियो की निन्दा करनी होगी। आतकवादियो के विरुद्ध सत्याग्रह, धरना, अनशन आदि अहिंसात्मक कदम उठाने में पीछे नहीं रहें। आवश्यकता पडने पर आतकवादियों और उग्रवादियों से कड़ा लोहा लें।

हिन्दू सिक्ख भाई 2 है। भाई को भाई से कोई जुदा नहीं कर सकता। पर धैर्य की भी सीमा होती है।

—[illegible]

पूर्व आचार्य दत्तात्रेय वाब्ले—कीर्तिकौमुदी

— आचार्य [illegible] मिश्र —

महाराष्ट्रप्रदेशेऽस्य, विप्रवंशे सुशिक्षिते।
दत्तात्रेयाभिधोधीमान्, जात ख्यातश्चरित्रवान् ।१।

अल्पकालेन यो विद्या, जग्राह तु कुशाग्रधी।
सर्वानधीत्य सिद्धान्तान्, धर्मसम्बन्धिनो मुहु ।२।

सर्वकल्याणकृद् वेद राद्धान्ताना प्रदर्शकम्।
दयानन्दर्षि वर्मासौ आराध्य चाप्ययन्वत ।३।

समर्ज्य निखिला शिक्षामुत्तराख्यप्रदेशके।
राजस्थान प्रजामर्त्यै, क्रियाक्षेत्रमथाऽवृणोत् ।४।

दयानन्द यशो वृद्धयै तत्सिद्धान्तप्रचारणे।
पूर्वजै स्थापितो विद्यालयोऽनेन प्रवर्धित: ।५।

आर्यावर्तस्य या भूमिर्मनुजाश्च निरन्तरम।
उर्मीच्चरानमे प्राणान् होतु प्ररयति ध्रुवम् ।६।

महर्षे र्जीवनास्याभून, लीलासवृत्तिसत्तमा।
यत्र सा पावनी भूमिरजमेरस्थ विद्यते ।७।

दयानन्दाभिधयेन, तत्र वै स्नातकोत्तरम।
प्रादनमयत शिक्षायै महाविद्यालयस्तरम् ।८।

योऽय शिक्षाविदा श्रेष्ठ, प्रष्ठो धर्मधिया ध्रुवम्।
प्राचार्य पद शस्तमसौ वै समभूषयत् ।९।

दत्तात्रेयाभिधश्चार्य, आर्य गौरववर्धन।
विश्वविद्यालये काङ्गड़ाधाम् ससम्मान पुरस्कृत ।१०।

विविध - विषयवन्धानयो निबन्धान् व्यलेखीत,
बहुगरिमसमृद्धा ग्रन्थराशिम् प्रणिन्ये।
विनरति नितरा यश्चिन्तनीय प्रबन्धान,
स जयति भुवि दत्तात्रेय आर्य सुविज्ञ ।११।

सामाजिके शैक्षणिके सुधारे, धर्मप्रचारे च स्वतन्त्रताया।
आन्दोलने क्रांतिकृता वरिष्ठो, लब्ध प्रतिष्ठोऽस्ति गुणैर्गरिष्ठ ।१२।

दुर्व्रतोऽस्य तु प्रपीडितोऽपि, नाङ्गीकृता कीर्तिममुञ्चदेवम्।
प्राणान् परित्यक्तुमपीहित च 'महाजनाना तु परम्परैण' ।१३।

क्षेत्रेष्वनेकेषु प्रशस्तनिष्ठ—किन्त्वार्य सामाजकृतो वरिष्ठ।
विद्वद्गणे विश्रुत कीर्तिगाथ, जीमव्यात् शत शारदवर्षमायु ।१४।

पता — आनन्द मन्दिरम्, कूंचापाडो, बदायूं (उ प्र)

धर्म और राजनीति

— श्री ... —
पं० कृपाशंकर शर्मा जी द्विज

जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है,
बढ़ता अधर्म्म-अन्धर अधरा छाता है।

जो लोक और परलोक सिद्धि का साधक है,
अभ्युदय और निःश्रेयस का आराधक है,
जिसको संकीर्ण भावना कभी न भाती है,
जिसकी प्रभुता प्रति-क्षण पीयूष पिलाती है,

वह परमतत्व सर्वथा भुलाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

सद्धर्म सदा सुख शान्ति सुधा बरसाता है
नय न्याय-नीति का शुभ सन्मार्ग सुझाता है,
मानवता मे वर बन्धु भाव उमगाता है,
वसुधा का वृहत कुटुम्ब रूप दरसाता है

इस विधि-विधान में सार न पाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।।

अत्याचारो से भूमि कांपने लगती है
सोती सुनीति, दुर्नीति दानवी जगती है
तब स्वार्थ-असुर दुर्दम्य दर्प दिखलाता है
निजता-परता का क्षुद्र भाव भर जाता है

मानव मानवता पर विष वज्र गिराता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।।

मत पन्थ सम्प्रदायो को धर्म्म बनाते हैं
वे अज्ञ दीप को दिनकर कह भरमाते हैं
क्या कभी धर्म्म भावना ने युद्ध रचाये हैं
कब सत्य-अहिंसा ने नर रक्त बहाये हैं

विपदा वारिधि मे विश्व डुबोया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।।

भ्रष्टाचारो की अग्नि उग्र हो जाती है,
गुटबन्दी स्नेह सगठन का गढ ढाती है,
मँहगाई दिन-दिन दूनी बढ़ती जाती है
जनता सुख शान्ति न नेक कही भी पाती है,

सर्वत्र दुःख दुर्दृश्य दृष्टि मे आता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।

संग्राम-भूमि में तोप आग उगलती है
अगणित लोगो की देहे जीतो जलती हैं
होकर अनाथ लाखो जन घुट घुट रोते हैं
भूखो मर-मर कर प्राण करोडो खोते हैं

दुर्भिक्ष दुष्ट दानव, मानव दल खाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।।

शासन-सत्ता जब धर्म्मयुक्त जाती है,
बनकर विनीत अति सौम्य रूप सरसाती है
जनता भी नैतिकता को ही अपनाती है,
तब शान्तिक्रान्ति नित सुख-समृद्धि बरसाती है,

सद्भाव-स्नेह का दृढ गढ ढाया जाता है—
जब राजनीति से धर्म्म हटाया जाता है।।

—•—

आर्य समाज और हिन्दू जन-समाज

— स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती —

(गतांक से आगे)

यदि दूसरे शब्दो में यह कहें तो यहाँ है कि स्वामी दयानन्द "हिन्दुत्व" का विरोध करके हिन्दुओं की रक्षा करना चाहते थे। यदि हिन्दू यह समझता है कि ऊपर दिये गये ५ कलङ्क ही हिन्दू धर्म की विशेषता हैं तो इस प्रकार के 'हिन्दुत्व' का भविष्य अन्धकारमय है। वे हिन्दुओ के बीच एक ऐसे आर्य समाज का सघटन करना चाहते थे, जो हिन्दुत्व के दोषो से सर्वथा मुक्त हो, और जिस सघटन मे अभारतीय विदेशी सम्प्रदायवाद भी विलीन हो सकें और विशुद्ध मानव समाज बन सके।

अजमेर के मेरे विद्वान मित्र प्रो दत्तात्रय वाब्ले, ने एक पुस्तक लिखी है—Arya Samaj—Hindu without Hinduism (अर्थात हिन्दुत्व के साथ सम्बन्ध जितने कलङ्क हैं, उनसे मुक्त) महर्षि दयानन्द के स्वप्ना का आर्यसमाज हिन्दुत्वविहीन हिन्दू समाज है।

भारत के परिप्रेक्ष्य मे प्रो वाब्ले की बातें शतप्रतिशत ठीक हैं। आर्य समाज की स्थापना के समक्ष महर्षि का दृष्टिकोण भारत की परिधि मे सीमित न था, वे इसे विश्वव्यापी आन्दोलन बनाना चाहते थे। स्वामी दयानन्द आर्यसमाज के माध्यम के द्वारा ऐसे मानव समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमे किसी भी सम्प्रदाय की साम्प्रदायिकता न हो, न अन्धविश्वास हो, न नास्तिकता न रूढिवादिता जो केवल प्राकृतिक मानव धर्म द्वारा पोषित हो और जिसका एक मात्र आधार सत्य और मानव कल्याण हो।

आर्य समाज उस ईसाई धर्म का पोषक है जिसमे ईसा ईश्वर का इकलौता बेटा नही है, जो महान् धर्मोपदेष्टा था किन्तु चमत्कारों से विहीन और जिसको बीच मे डाल कर मनुष्य न नरक जाता है न स्वर्ग लोक को।

आर्य समाज उस मुस्लिम धर्म का पोषक है जिसमे ईमान की दृष्टि से मुहम्मद और कुरआन का कोई स्थान न हो और जो पक्षपात रहित सत्य धर्म पर निर्भर हो।

प्रो वाब्ले के शब्दो मे कहूँ तो

Arya Samaj—Hindu without Hinduism (भारत में)

Arya Samaj—Muslim without Islam
(अरब और मुसलमानी देशो मे)

Arya Samaj—Christian without Christianity
(यूरोप और अमरीका मे)

Arya Samaj—Buddhist without Buddhism (बौद्ध देशो मे)

भारत मे आर्य समाज हिन्दू हितो का पोषक है अरब मे आर्य समाज अरब हितो का पोषक रहेगा, अफ्रीका मे आर्य समाज अफ्रीकी हितो का (नीग्रो आदि का) पोषक रहेगा और यूरोप और अमरीका मे आर्य समाज वहा के लोगो के हितो का पूर्णत पोषक रहेगा।

इस भावना से आर्य समाज विश्व भर मे सेवा करने का व्रती है। आर्य समाज के कार्यकर्ता भी इस दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करें।

*

दयानन्द शोधपीठ को सहयोग दीजिए—

दयानन्द वैदिक शोधपीठ, दयानन्द कालेज, अजमेर में ऋषि के पत्र व्यवहार पर शोध कार्य चल रहा है। यदि किसी सज्जन के पास ऋषि के पत्र व्यवहार से सम्बन्धित कोई सामग्री हो तो, कृपया सचालक दयानन्द वैदिक शोधपीठ, दयानन्द कालेज अजमेर को भेजने का कष्ट करें।

—सचालक

प्रो. जी. वाईज के पत्र महर्षि के नाम

— डा. कृष्णपाल सिंह —

जहां महर्षि देश को सामाजिक धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टि से मजबूत देखना चाहते वहां वैज्ञानिक दृष्टि से देश की स्थिति दृढ़ हो इसके लिए भारतीय नवयुवकों को विदेश भेजकर आधुनिक कला-कौशल की शिक्षा प्राप्त करने के लिए योजना पर विचार किया और इस सम्बन्ध में जर्मन के कतिपय व्यक्तियों से उनका पत्र व्यवहार भी सम्पन्न हुआ। इसके उत्तर में प्रो. जी वाईज ने जो पत्र महर्षि दयानन्दजी को लिखे जिनमें अनेक विषयों का उल्लेख किया गया है।

पत्रों में महत्वपूर्ण विषय—

1. भारतीय दर्शन के प्रति अभिरुचि एवं योरोप में प्रचार—

जर्मन निवासी प्रो जी वाईज ने अपने प्रथम पत्र में भारतीय दर्शन के प्रति स्वाभिरुचि प्रकट की और सम्पूर्ण योरोप में इसके प्रचार की महती आवश्यकता समझते थे। जैसा कि उन्होंने अपने पत्र में कहा है कि —जब से मैंने आपकी जिन्दगी और आपकी बनाई हुई फिलसफी के हालात को पढ़ा और उस पर गौर किया तब से मेरे दिल में आपकी तरह कुछ निश्चय के लिए उबाल उठ रहे थे। मेरी आत्मा उन मजबूत रस्सियों से जकड़ी हुई आपकी तरफ खिंची जा रही है जो कि इन्सानी आंखों से नहीं दिखाई पड़ती लेकिन जो कि मेरे रोके से रुक भी नहीं सकती। — सत्यज्ञान की तलाश में मैं बतौर शिष्य के आपके पास जाना चाहता हूं।

— अपनी मिसाल से आत्मे वालों को अपना मौकिद बनाकर सच्चाई और अम्न और रूहानी प्रेम की एक नई सल्तनत कायम करेंगे जो कि नस्ले इन्सानी ने पहले कभी न देखी और न ही जिस तक पहुंचना भी मुमकिन से जाना हो।

मैं अपने अन्दर एक बा-अम्ल जलती हुई आग का शोला पाता हूं जो कि मुझे आपकी मिसाल से ज्यादा पवित्रता और ताकत देगा जिससे मैं हिन्दुस्तानी फिलासफी की रूहानी रोशनी को मगरिब में फैला सकूं। वहां आलम—अहादत और मिल्कियत के मुताल्लिक के बुरे असर को रोकने के लिए इल्मे वेदान्त की अशद जरूरत है। साथ ही अपनी मौजूदा नस्ल से (जो करीबन तमाम दुनिया में फैली हुई बड़ी-बड़ी मजलिसी बबाओं यानी बदजाती, नास्तिकपन और निहिलिज्म में गर्क हो रही है)।

अत नस्ल की तालीम व तरबियत के लिए भी उसकी जरूरत है, क्योंकि एक झूठी तहजीब का वार्निश दुनिया पर चढ़ रहा है, जिससे इन्सान की फितरत तक पहुंचने में सख्त हानि हो रही है, जिससे इन्सान की रूहानी फितरत गुम हो रही है, जिसके आप सच्चे पुत्र और हम आपके मुकाबले में शीरख्वार बच्चे हैं।

2 जर्मन में शिल्प शिक्षा—

प्रो जी वाईज ने अपने द्वितीय एवं तृतीय पत्र में उन विषयों का विवरण दिया है जिनका जर्मनी में सम्यक विकास हो गया है और उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था की जा सकती है। भारतीय नवयुवकों को निम्नलिखित शिल्पों से सम्बन्धित प्रशिक्षण दिया जा सकता है। जैसे—राजनीतिक अर्थशास्त्र शार्टहैण्ड बढ़ईगीरी (लकड़ी का काम) लोहे का काम रंग-साजी, घड़ी साजी इत्यादि।

द्वितीय पत्र में ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्र के विषय में विस्तार से चर्चा की है।

3. घड़ी-साजी तथा उसके लाभ—

प्रो जी वाईज ने महर्षि को तृतीय पत्र में घड़ी-साजी अर्थात् घड़ी बनाने के काम और उनके लाभ के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख किया है, इसके साथ ही भारत में निर्मित होने वाली घड़ियों के विषय में अपनी राय कई हेतुओं के साथ प्रकट करते हुए लिखा है कि—'हिन्दुस्तानी मण्डी में अपने मौजूदा मुकाबला कुनिन्दगान का इत्मीनान कर सकते हैं क्योंकि आपका चन्द मसलन, आपके मुल्क में मजदूरी सस्ती है। अगर आपके हमवतन इस असूल पर कि 'दयानतदारी बहतरीन पालीसी है', सख्ती कारबन्द रहेंगे तो यकीनन आखिर में वे खुशहाल और फतेह-उल-बाम होंगे और अपने मौजूदा मुकाबला कुनिन्दगान को बहुत जल्द मैदान से निकाल देंगे।'

4 जर्मन के प्रत्येक विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन—

प्रो जी वाईज ने चतुर्थ पत्र में संस्कृत भाषा के अध्ययन अध्यापन के विषय में उल्लेख किया है। प्रो जी वाईज के लेखानुसार—

'जर्मन में संस्कृत भाषा के अध्ययन अध्यापन में विशेष अभिरुचि उस समय तक विद्यमान थी। इसी कारण से उस समय जर्मनों के प्रत्येक विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन होता है।

संस्कृत अध्ययन के स्थानों के सम्बन्ध में जैसा कि पत्र में लिखा है 'मारबर्ग यूनिवर्सिटी के संस्कृत टीचर प्रोफेसर कर्डानिश ने मुझे लिखा है कि हर एक जर्मन यूनिवर्सिटी में संस्कृत पढ़ाई जाती है—

—अल्बर्ट वेबर (बर्लिन) पिस्कल (कील), जैकोबी (मिस्टर), हापर (ग्रफस वाल्ड), अस्ट कुहु (म्युनचन) गिल्ड मस्टंट और बाबफल (ओरिन) मोबिल-उल-जिक सिर्फ नाम मात्र संस्कृत का प्रोफेसर है, ल्युमीड (डौरपेट स्टेंब), ब्रस्लन पोट (हेली), विण्डश (हेनबर्ग), मोल्ड स्मिड (स्ट्रेसबर्ग), बेनफी (गोटेंजन), ओल्डेनबर्ग (हेडबर्ग), बानराथ (ब्रेमेन), स्पीगल (ओलामबन) म्यूलर (आमोना), फलिस और रोस्टाम में भी संस्कृत पढ़ाई जाती है।'

— आपको इससे मालूम होगा कि संस्कृत तमाम जर्मनी भर में हर एक यूनिवर्सिटी में पढ़ाई जाती है।

इसी पत्र में रंगसाजी के काम के विषय में उल्लेख करते हुए लिखा है कि रंगसाजी का काम मुनासिब और सिखाया जा सकता है और मुफीद साबित होगा बीलेफेल्ड में कई आला रंगसाज हैं। जिनमें से एक निहायत होशियार हैं, यानी उससे बात-चीत की थी। उसके ख्याल में जो शख्स इस हुनर का सीखना चाहता है, उसके लिए एक छोटे से कारखाने में इस काम को सीखना बेहतर होगा क्योंकि वहां स्टीम के बजाय हाथ से ज्यादा काम करना पड़ता है। इसके बाद शागिर्द को असली काम के साथ केमिस्ट्री का इल्म सीखना पड़ता है।

घड़ी साजी की चर्चा करते हुए वहां के घड़ीसाजों व अन्य कामों के विषय में लिखा है कि मेरे घड़ीसाज ने मुझे बताया है कि उसने यह काम जिस ग्राम तरीके से सीखा वह यह है कि उसने स्नाद के पास तीन साल तक शागिर्दी की थी और वहां इस हुनर के मुतल्लिक हर एक बात वगैरह भी सीखा था इसके बाद वह स्विटजरलैण्ड में घड़ीसाजी के एक बड़े कारखाने में दो साल तक काम करता रहा जो बाद में सकमना में घड़ीसाजी के एक स्कूल में तालीम पाई। उसके ख्याल में एक तालिबे इल्म के लिये यह हुनर सीखने का बहतरीन तरीका है।

इस विषय से बड़ा साजी विद्या सीखने की विशेषता तथा लाभ है। उसके विषय में अपनी राय का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'इस तरीके से वह बढ़िया के तमाम पुर्जों को बनाने का काम सीख लेते हैं, मसलन कांटे छरियां वगैरह बनाना, नक्काशी और काम मशीन का भी काफी मौका है। हम अपने शागिर्दों को वे यहां आ जायं और कुछ अर्से में जर्मन सीख लें, तो अच्छी तरह हासिल कर सकते हैं। —हम हर तरह से करामत और इन्तजाम के मुताल्लिक आपकी और उनकी ख्वाहिशात पूरी करने को तैयार हैं।

(शेष अगले अंक में पढ़िये।)

आर्यसमाज का भविष्य

— श्री सुरेशचन्द्रजी वेदालंकार, एम ए —

अवतरित हुई विश्व के इतिहास में आर्यसमाज की एक अपनी अद्भुत स्थान है। इस बात की व्याख्या करते हुए यदि मैं यह कहूं कि धार्मिक एव सामाजिक दृष्टि से रूढ़ियो एव अन्धविश्वासों में भ्रमित विश्व को किसी ने दृष्टि शक्ति प्रदान की तो वह निर्विवाद आर्यसमाज है, तो यह अत्युक्ति न होगी। यदि मैं यह कहूं ईसाई एव मुसलमानो द्वारा लूटे जाते हुए हिन्दुत्व के कोष की यदि किसी ने रक्षा की और उसे समृद्ध करने का प्रयास किया तो वह आर्यसमाज है, तो इसमें असत्य की जरा गन्ध नही। यदि मे यह कहू कि भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के मूलमन्त्र का दाता और स्वतन्त्रता सग्राम मे फिर चाहे वह हिंसात्मक हो या अहिंसात्मक सबसे आगे बढ़कर लड़ने वाला सैनिक आर्यसमाज है, तो यह एक ऐतिहासिक सत्य ही माना जायगा। परन्तु स्वराज्य प्राप्त होने के बाद आज हम अधिक शिथिल हो गये हैं। आज आर्यसमाज मे गति हीनता सी आ रही है इसी कारण आज नवीन वर्ग या नवयुवक इसमे नही आ रहे हैं। यदि गम्भीरता-पूर्वक हम आत्मनिरीक्षण और मनन करने को तत्पर होगे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि सफेद बाल और कुछ परम्परा की रक्षा करने वाले वृद्धो के बाद आने वाली पीढ़ी आर्य समाज का उत्सव करा सकती हैं, परन्तु आर्यसमाज की गतिशीलता एव प्रवाह को जारी नहीं रख सकती हैं। यह स्पष्ट एव अनुभवजन्य सत्य है। क्यो ? यह प्रश्न विचार-णीय है। और इस क्यो का उत्तर बाहर खोजने की अपेक्षा हमें अपने अन्तःकरण म खोजना होगा।

अपनी दशा का अनुमान हम आधुनिक समाज और देश में अपने महत्व को देखकर कर सकते हैं। हमारा क्या महत्व है इसके लिए आप सोचेंगे तो आपको पता चलेगा कि आर्यसमाज व्यक्ति को आधार बनाकर चलने वाली संस्था है। अर्थात् व्यक्तित्व के निर्माण द्वारा समाज का निर्माण इस रूप में आर्य-समाज करना चाहता है कि यदि सभी व्यक्ति अच्छे बन जायेंगे तो समाज अच्छा होगा और समाज अच्छा होगा तो राष्ट्र और मानवता को बल मिलेगा और इस प्रकार उसका 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का सिद्धांत विश्व लागू हो सकेगा। परन्तु आज आर्यसमाज से व्यक्तित्व का निर्माण करने का कार्य लगभग समाप्त हो गया है। परिणाम यह है कि राष्ट्र ने आर्यसमाज को भुला दिया है।

शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज ने बहुत कुछ योगदान दिया है। स्त्री शिक्षा, बालको की शिक्षा विद्यालयों का निर्माण आदि के द्वारा सरकारी स्तर पर उसने शिक्षा का प्रचार किया। परन्तु आज स्वतन्त्र भारत मे शिक्षा पर विचार करने वालो को हम कोई अपना दृष्टिकोण नही दे सकते हैं। हमारे पास अपना दृष्टि-कोण है भी तो नही। स्वामी श्रद्धा-नन्द ने गुरुकुलो का निर्माण कर इस युग मे एक मौलिक शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की थी और विश्व के शिक्षा विशेषज्ञ गुरुकुल मे समय समय पर आते थे और उस पर विचार करते थे। लेकिन आज स्थिति काफी बदली हुई है। हम शिक्षा मे स्वतन्त्र भावना को त्याग अपनी संस्थाओ का सरकारीकरण कर रहे हैं। आज आर्यसमाज के पास कोई भी ऐसा केन्द्र नही जहां आर्य समाज के वैदिक धर्म के मूल वेदो का उसी श्रद्धा और विश्वास के साथ अध्यापन होता हो। अत इस दिशा में हमे सोचना है कि भवि-ष्य मे हमारी शिक्षा संस्थायें कैसी हो ? हम कैसे आर्य विद्वान् उत्पन्न कर सकें।

दूसरी बात आर्यसमाज की प्रचार पद्धति की है। आर्य समाज के प्लेटफार्म से क्या कहा जा रहा है, यह समझना बड़ा कठिन कार्य है। एक व्यक्ति आता है वह अपने व्याख्यान में एक वेद मन्त्र पढ़ता है और उसकी व्याख्या में उस विषय से असंबन्धित परन्तु सामयिक बातों का उल्लेख कर देता है। श्रोताओं का स्तर देखकर उसे यह कार्य करना पड़ता है। यह तो कुछ ठीक भी है पर सबसे अधिक महत्ता जिन भजनोप-देशको को दी जाती है और जिन पर उत्सव की सफलता निर्भर होती है वे भजनोपदेश उस मञ्च से कितनी सत्य और असत्य घटनाओ द्वारा एक विचित्र प्रकार का मनोरंजन करते हैं जो कि हमी के बीच आर्यसमाज के सिद्धांतो को उड़ा देता है। मुझे तो अनुभव हो रहा है कि आज के वृद्ध एव आर्यसमाज के सिद्धांतो से परिचित उपदेशको के न रहने के बाद आर्यसमाज के प्लेटफार्म मनो-रंजन के साधनमात्र रह जायेंगे। यह भी एक सोचने की बात है।

तीसरी बात यह है कि आज आर्यसमाज का देश एव समाज की किसी भी समिति एव गठन म कोई पूछ नही है। क्योंकि आर्यसमाज को आधार बनाकर व्यक्ति आगे बढ़ते हैं और पुन वे उसे छोड़कर राजनीति को आधार बना लेते हैं। हमारे पास ऐसा आकर्षण नही है कि हम उन्हे अपनी ओर रख सकें। परि-णाम यह होता है कि उन्हे अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए हमारे पास आने की अपेक्षा हमे आर्यसमाज की महत्ता बढ़ाने के लिए उनके आश्रित होना पड़ता है। हम अपने व्यक्तियो की उपेक्षा एव उनकी अपेक्षा करते हैं। क्या इसके विपरीत भाव की आवृत्ति हो सकती है ?

आर्यसमाज को अपने को सुदृढ़ करने के लिए नव-युवको को प्रभा-वित करने के लिए कोई उपयुक्त कार्यक्रम सम्मुख रखना होगा। आर्यकुमार सभाओ की उपेक्षा का परिणाम आज हमें अनुभव हो रहा है। जब आर्य समाज के सत्सगो मे सफेद बालों वाले और वृद्ध सज्जन दिखाई देते हैं। अत मैं तो समझता हूं कि इन संस्थाओं को पोषण देना चाहिए।

आर्यसमाज के सिद्धांत बुद्धिवादी हैं, सत्य है और उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे सभी कालो और सभी समयो पर सत्य हैं। परन्तु सत्य भी अनुपयुक्त व्यक्तियो के हाथ अपना प्रभाव खो देता है। ऐसी दशा मे आज जब हम आर्यसमाज के भविष्य पर विचार कर रहे हैं तो हमे उपर्युक्त एव उससे सम्बन्धित अन्य बातो पर विचार करना चाहिए। अर्थात् हम एक वैदिक धर्म के ज्ञान का केन्द्र बनायें। प्रचार पद्धति मे परिवर्तन करें, अपने महत्व को स्थापित करने का प्रयत्न करें तथा आर्यवीर दल और आर्यकुमार सभाओं को बल दें। अन्यथा आर्य-समाज का भविष्य बहुत उज्ज्वल नही। युग बड़ी तेजी से बदल रहा है। यदि हम छूट गए तो बहुत पीछे रह जायेंगे। बस परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह हमें शक्ति और बल दें कि हम आगे बढ़ सकें।

पाठकों को सूचना—

गत एक माह से अजमेर शहर के प्राय. सभी प्रेस कर्मचारी हड़ताल पर हैं। फिर भी जैसे-तैसे, विलम्ब से ही सही, हम "आर्य पुनर्गठन" का प्रत्येक अक पाठको तक पहुचा रहे हैं।

आशा है कि आप हमारी विवशता को समझ लेंगे।

— व्यवस्थापक

रजिस्ट्री
पुस्तक का
हरेदार

46

पाप-नाशक नशा

— स्व. पं. चमूपतिजी —

यस्ते मदो वरेण्यस्तेनापवस्वान्धसा ।
देवावीरघशंसहा ॥४॥ (सामवेद, पावमान पर्व)

ऋषि —अमहीयु —पृथिवी की नहीं, द्यु लोक की उड़ान लेने वाला।

(ते) तेरा (य:) जो (वरेण्य:) ग्रहण करने लायक (मद) नशा है (तेन) उस (अन्धसा) प्राण-प्रद सजीवन रस से (आपवस्व) चारो ओर पवित्रता का प्रवाह बहा। तू (देवावी) दिव्य भावनाओं तथा (अघशंसहा) पाप की प्रशंसा का घातक है।

अन्य सब नशे छोड़ देने चाहिये। वे मैले हैं, अपवित्र हैं। उनमे पाप का पुट है। वे हिंसा से पैदा होते हैं। उनके खमीर मे पाप है। वे पाप ही की उपज हैं और पाप ही की प्रेरणा करते हैं। परन्तु मोहन! तेरे प्रेम का नशा पावप्रद है। इससे स्वास्थ्य बनता है। इसके पान से शरीर नया जीवन-लाभ करता है। और मन को काया-पलट सी हो जाती है। यह नशा अमृत है। दैवी प्रवृत्तियां सो रही हों तो इस नशे का ध्यान आते ही जाग जाती हैं, झूमने लगती हैं। भली भावना किसी संकट के कारण मृतप्राय हो तो केवल जी ही नहीं, लहलहा उठती है। साईं के स्नेह का नशा सत्य को, सरलता की, संतोष की, स्नेही सदाचार की रक्षा करता है। लाख आपत्तियां आती हो, साईं का स्नेही धर्म के रास्ते से नहीं हटता। धर्म के लिए संकट सहने मे उसे आनन्द आता है। पाप की मोहिनी साईं के स्नेह के सम्मुख एक क्षण भी नही ठहर सकती।

हमारा मन भटक जाता है। उसकी रुचि पाप की ओर हो जाती है। कोई अन्दर-अन्दर से मानो दबी सी आवाज में पाप की प्रशंसा करने लगता है। दिल कहता है। पाप है तो क्या, इससे लाभ ही होगा, झूठ बोल दो, इससे एक अपना ही नही, कुटुम्ब जाति का लाभ है। परोपकार्थ छल करने मे क्या दोष है? इस प्रकार के कितने छल हैं जो मेरा छली मन रोज करता रहता है।

प्रभो! आप की आंख बचाकर तो यह छल चल भी जावे, परन्तु आपके सामने आते ही यह मोह का—अज्ञान का ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो जाता है। आपकी एक कृपाकोर लाख पापो का बटाढार कर देती है।

तो फिर वह आप की कृपा-कोर कहां? मेरे लिये वही लोभ है। मैं उसी का प्यासा हूं। एक प्याली! एक घूंट!! एक बूंद!!!

समाज की संपत्ति पर अनाधिकृत कब्जों की सूचनायें

देश की अनेक समाजो की सम्पत्तियों पर अनार्यों व असामाजिक तत्वों ने अनाधिकृत रूप से कब्जे किये हुए हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा राज. के उपप्रधान व आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेयजी आर्य उक्त अनाधिकृत कब्जो को हटाने हेतु अपने स्तर पर प्रयास करने के इच्छुक हैं। अतएव हमारा सभी आर्य पुरुषो से इस सदर्भ में निवेदन है कि ऐसी किसी आर्य समाज की सम्पत्ति जिस पर किसी असामाजिक व्यक्ति संस्था विशेष ने अनाधिकृत रूप से अधिकार बना रखा हो, की सूचना आचार्य जी को भेजने का कष्ट करें।

—सम्पादक

जिला आर्य समाज समस्तीपुर द्वारा मुस्लिम युवती की शुद्धि

उत्तर बिहार आर्य सभा के संगठन मंत्री श्री नवलकिशोर शास्त्री ने बेगुसराय के मस्जीद खातुन की शुद्धि कर उसका नाम कुमारी [illegible] आर्या रखा गया उसका विवाह संस्कार श्री जगदीश चौधरी के साथ सम्पन्न कराया।

ज्ञातव्य है कि वर्षों से प्रशासन द्वारा इस विवाह में अवरोध उत्पन्न किया जा रहा था। जगदीश चौधरी एवं मस्जीद ने विवाह के लिए न्यायालय मे आवेदन किया था। परन्तु तत्कालीन [illegible] सुलेमान ने साम्प्रदायिक भावना से ग्रसित होकर उन्हें झूठे मुकदमों में फंसाकर जगदीश चौधरी को जेल मे तथा मस्जीद खातुन को जबरन रिमांड होम मे भिजवा दिया। परन्तु माननीय उच्च न्यायालय ने दूध का दूध और पानी का पानी अलग कर दिया तथा उसने अपने फैसले में कहा कि मस्जीद खातुन बालिग है, वह उसे अपनी इच्छानुसार जीने का हक है तथा शासन उसके इच्छा के विरुद्ध उसे रिमांड होम में नहीं रख सकती है।

उक्त विवाह संस्कार मे हजारों की संख्या मे लोगो ने भाग लिया तथा वर-वधु का हार्दिक अभिनन्दन किया गया।

—राम कुमार [illegible]
कार्यालय प्रभारी, आर्य समाज, समस्तीपुर

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

प्रो. दत्तात्रेय आर्य द्वारा लिखित पुस्तकें

1 देश धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0 50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार-मूल्य रु 1 00
3 आचार संहिता —मूल्य 0 50 पैसे
4. दी आर्य समाज हिन्दू विदाउट (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं मूल्य—50 प

अन्य प्रकाशन

1 आर्य समाज (हिन्दी) मूल्य सजिल्द 20 00 रु. अजिल्द 16 00 ले, लाला लाजपतराय
2 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक) पूरे सैट का मूल्य रु 3200
3 दयानन्द कथा संग्रह—मूल्य रु 3 00
4 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओं का परिचय)—मूल्य रु 12 00

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रन्थ माला 15-भाग

(प्रत्येक समुल्लास पर स्वतन्त्र ग्रन्थ)

1- ईश्वर का नाम स्मरण	9- स्वर्ग और नरक कहां है?
2- आदर्श माता-पिता	10- चौके चूल्हे में धर्म नहीं है
3- शिक्षा और चरित्र निर्माण	11- हिन्दू धर्म की निर्बलता
4- गृहस्थाश्रम का महत्व	12- बौद्ध और जैन मत
5- सन्यासी कौन और कैसा हो?	13- वेद और ईसाई मत
6- राज्य व्यवस्था	14- इस्लाम और वैदिक धर्म
7- ईश्वर और वेद	15- सत्य का अर्थ तथा प्रकाश
8- जगत की उत्पत्ति	

विशेष—सभी ग्रन्थ आर्य जगत् के चोटी के विद्वानों के द्वारा लिखित हैं एवं ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो. दत्तात्रेयजी आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के पूरे सैट का मूल्य 8/- रुपये है।

स्वत्वाधिकार आर्यसमाज अजमेर के लिए व प्रकाशक एव संपादक रासासिंह हेतु रतनलाल शर्मा द्वारा श्री आर्य प्रिन्टर्स, बाबू मोहल्ला, केसरगंज अजमेर में मुद्रित एव आर्य समाज भवन, अजमेर से प्रकाशित।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य . समाज की वर्तमान एव भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 शनिवार 15 अगस्त, 1987
अंक 12 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

भाद्रपद कृ 7 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

हिन्दू बनाम हिन्दू धर्म

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य —

(गतांक से आगे)

निःसन्देह मैं हिन्दू इसलिए हूं कि कि मेरा जन्म हिन्दू परिवार मे हुआ है। मुझे हिन्दू होने की खुशी है। किन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि रिलीजन के प्रचलित अर्थ मे हिन्दू कोई धर्म नहीं है अपितु जीवन का एक तरीका है। स्वय महात्मा गाँधी ने अपनी उपरोक्त पुस्तक के पृष्ठ 7 पर यह लिखा है कि "हिन्दू धर्म केवल सतनामी हिन्दुओ का धर्म और मैं अपने आपको उसका अनुयायी मानते हुए भी उसकी अनेक बातो की उपेक्षा करता हूं। किन्तु यदि मैं सनातन हिन्दू धर्म का अर्थ करू। मैं अपने आपको सनातनी हिन्दू इसलिए कहता हूं कि मैं वेद, उपनिषद पुराण तथा अन्य हिन्दू धर्मग्रन्थो मे विश्वास करता हूं और इसलिए अवतार और पुनर्जन्म को भी मानता हूं। अपने विशेष अर्थ मे वर्णाश्रम धर्म को मानता हूं अर्थात् उसके वैदिक अर्थ मे न कि उसके वर्तमान प्रचलित और विकृत अर्थ मे। मैं गो-रक्षा पर भी व्यापक अर्थ मे विश्वास करता हूं और मूर्तिपूजा मे अविश्वास नही करता।

सावरकर की परिभाषा.—

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और देशभक्त वीर सावरकर ने 'हिन्दुत्व' नामक पुस्तक मे इस बारे मे बड़े सुन्दर और मौलिक विचार व्यक्त किये है। हिन्दू और हिन्दू धर्म का भेद बताते हुए वे पूछते हैं कि हिन्दू कौन है? इसका सही अर्थ जानने के लिए हिन्दूइज्म या हिन्दू धर्म की व्याख्या करनी आवश्यक है। किन्तु अनेक इस प्रयत्न में असफल होकर निराशा अनुभव करते हैं और इस प्रकार अनेक समुदायो को या तो वे हिन्दू नही मानते या फिर उसके द्वारा हिन्दू धर्म के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न करते हैं। इनमे सिख, जैन और देव समाजी ही नही हमारे देशप्रेमी और प्रगतिशील आर्यसमाजी भी हैं। सावरकर आगे लिखते हैं कि हिन्दू धर्म उन सब धार्मिक विश्वासो और भिन्न-भिन्न समुदायों के लिए लागू होना चाहिए या जो अपने को हिन्दू कहते है किन्तु साधारणत. यह उसी धर्म का वाचक है जिसके बहुसख्यक हिन्दू ही अनुयायी हैं। किसी धर्म और जाति का नाम ऐसा होना चाहिए कि जो सबके लिए नही तो अधिकाश लोगो की समान विशेषताओ को प्रकट करता हो। ऐसा करना सुविधाजनक भी है किन्तु केवल सुविधाजनक होने के कारण हमे ऐसे किसी शब्द या परिभाषा को स्वीकार नही करना चाहिए जो हानिकारक हो और जिसके कारण गलतफहमी या भ्रम उत्पन्न होता हो। इस दृष्टि से हिन्दुओ का बहुमत जिन विशेषताओ के कारण प्राय एक समझा जाता है उनका आधार स्मृति, श्रुति या पुराण है। इसलिए उसे सनातन धर्म कहना अधिक उपयुक्त है, किन्तु बहुमत के इन हिन्दुओ के अतिरिक्त दूसरे हिन्दू भी हैं जो या तो पूर्ण रूप मे पुराणो और स्मृतियों और यहा तक की वेदो तक का नही मानते। इसलिए यदि हिन्दुओ के धर्म का अर्थ केवल बहुमत के धर्म से लिया जाये और इन्हे ही हिन्दू कहा जाय तो दूसरे उदार और प्रगतिशील हिन्दू इसको स्वीकार नही करेंगे और बहुमत के इस दावे को अनुचित मानेंगे। इसलिए जो हिन्दू अल्पमत मे हैं उनके धर्मों को भी स्वीकारनही करेंगे और बहुमत के इस दावे को अनुचित मानेंगे। इसलिए जो हिन्दू अल्पमत मे हैं उनके धर्मों को भी स्वीकार करके हमे उनका पृथक धार्मिक अस्तित्व स्वीकार करना होगा, अन्यथा केवल पौराणिक और कट्टर हिन्दुओ को ही हिन्दू माना जाय तो यह सुधारवादी हिन्दू व्यापक हिन्दुत्व की सीमा से पृथक समझे जायेगे।

इस प्रकार सावरकर जहाँ यह स्वीकार करते हैं कि बहुमत के हिन्दुओ के धर्म से अल्पमत वाले अनेक हिन्दुओ का धर्म पृथक् और भिन्न है वहाँ वे यह भी चेतावनी देते है कि "हिन्दू धर्म जो बहुमत के हिन्दुओ का धर्म है उसको अन्य सब हिन्दुओ पर थोपने का हमें गलत प्रयत्न नही करना चाहिए अन्यथा हिन्दुओ मे परस्पर कटुता उत्पन्न होगी। यदि हिन्दु धर्म समस्त हिन्दुओ के धर्म का द्योतक नही हो सकता तो हमे ऐसा आग्रह नही करना करना चाहिए और यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि बहुमत के हिन्दुओ के धर्म का नाम सनातन धर्म अर्थात श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त धर्म है और बाकी के हिन्दुओ के अपने-अपने धर्म हैं जिन्हे सिख धर्म, आर्य धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"

लोकमान्य तिलक की परिभाषा

लोकमान्य तिलक न केवल हिन्दू धर्म के एक निष्ठावान अनुयायी ही थे अपितु वे हिन्दू धर्म शास्त्र और सस्कृत के भी विद्वान थे। न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर ने हिन्दू धर्म की उनकी व्याख्या इस प्रकार उद्धृत की है—प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता। उपास्यानामनियम एतद् धर्मस्य लक्षणम् ।।"

तिलक द्वारा रचित सस्कृत मे हिन्दू धर्म की इस परिभाषा के अनुसार वेदो के प्रति प्रामाणिक आदर भाव, उपासना की विभिन्नता तथा उपास्य देवो की अनेकता यह हिन्दू धर्म के लक्षण हैं।

प्रश्न यह है कि क्या आर्यसमाज इस परिभाषा के अनुसार हिन्दू धर्म मे आ सकता है? स्पष्ट है कि तिलक की इस परिभाषा और उसकी न्यायमूर्ति गजेन्द्रगडकर द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार आर्यसमाज हिन्दू धर्म मे सम्मिलित नही किया जा सकता। स्वय सावरकर ने लोकमान्य तिलक की इस व्याख्या का विवेचन करत हुए 'हिन्दुत्व' के पृष्ठ 107 पर लिखा है कि 'तिलक की यह परिभाषा सनातन धर्म की व्याख्या है जो उन्होने चित्रमय जगत्, (सचित्र मराठी साप्ताहिक) मे अपने विद्वतापूर्ण लेख म की है। लोकमान्य तिलक ने उसमे स्वय स्वीकार किया है कि इस परिभाषा के अनुसार आर्य समाजी हिन्दू धर्म का अग नही हो सकते यद्यपि वे राष्ट्रीय दृष्टि से भले

(शेष पृष्ठ 2 पर)

निदेशक : दत्तात्रेयआर्य प्रधान संपादक : रासासिंह संपादक वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन कार्या : 21010

स्वराज्य को सुराज्य बनायें

15 अगस्त 1947 ई को देश अंग्रेजो की पराधीनता से स्वतन्त्र हुआ। इस स्वाधीनता के लिए अनेक कुर्बानियाँ देनी पडी। अंग्रेजो की लाठिया-गोलिया खानी पडी, काले पानी की सजाये भुगतनी पडी, कई क्राति वीर फासी पर लटक गये, लाखो लोग जेलो मे गये और यातनाए सही। आखिर बलिदान रग लाया। देश स्वाधीन हुआ। कहा भी है, सर्वंआत्मवश सुख, सर्वपरवश दुख" अर्थात सब प्रकार से अपने अधीन रहना ही सुख है, तथा सब प्रकार दूसरो के अधीन रहना ही दुख है। गोस्वामी तुलसीदास भी कह गये "पराधीन सपनेहू सुख नाहि' अर्थात गुलामी मे स्वप्न मे भी सुख प्राप्त नही होता। स्वराज्य तो हो गया पर अब इसे सुराज्य बनाना है।

सुराज्य से तात्पय है जहा सब प्रकार की व्यवस्थाये सम्यक् और समुचित हो। किसी का शोषण न हो कोई भूखा, नगा न रहे। सबको रोटी, कपडा और मकान उपलब्ध हो सके। देश सर्वतोमुखी विकास करते हुए उन्नति पथ पर अग्रसर हो जहा कोई बेरोजगार न हो, हर हाथ को काम हो। कल कारखाने, उद्योगधन्धे, यातायात, सदेशवाहन, शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, व्यापार सब प्रोन्नत हो। सबसे बढकर समस्त देशवासी ईमानदार, कर्त्तव्यपरायण कर्मनिष्ठ, धार्मिक, आस्तिक नैतिक एव मानवीय मूल्यो के प्रति आस्थावान, चरित्रवान, देशभक्ति एव परोपकारी हो। सर्वजन हिताय लक्ष्य हो। राष्ट्र शक्तिशाली बने, विश्व मे प्रतिष्ठा हो। स्वार्थवाद भाषावाद, साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, जातिवाद, क्षेत्रीयतावाद, कर्मभेद, जातिभेद, छुआछूत, गरीबी रिश्वतखोरी भ्रष्टाचार आदि सब बुराइयो से मुक्त हो। आतकवाद, नक्सलवाद अथवा उग्रवाद गुण्डागर्दी, चोरी डकैती नशाखोरी आदि न हो। जहाँ के सत्ताधारी शासक अपने आपको जनसेवक समझे। जिनमे सत्ता का मद न हो।

जब समस्त भारतवासी कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक गुजरात लेकर नागालेंड तक एकत्व की अनुभूति करे, सब 'सगच्छध्व स वदध्व, वो मनासि जानताम्' "समानो मत्र समिति समानी,' के आदर्शो को धारण करते हुए "सर्वे भव तु सुखिन" का लक्ष्य अपने सम्मुख रखें, जहा भारतीय सस्कृति, भारतीय परिवेश, भारतीय भाषा, वेशभूषा, खान-पान आचार विचार होंगे तभी हम कह सकेगे कि अब स्वराज्य के साथ साथ सुराज्य भी आ गया है।

हमारा आदर्श "रामराज्य' है। रामराज्य की परिकल्पना ही सुराज्य है। "दैहिक, दैविक, भौतिक तापा, रामराज काहू न व्यापा'। राजा अश्वपति बडे स्वाभिमान के साथ यह गौरवपूर्ण घोषणा करते थे कि "मेरे राज्य मे कोई चोर शराबी, कदाचारी तथा भ्रष्ट नही है।" ऐसा भारत के ही ऋषि दयानन्द का "आर्यावर्त्त, गाधीजी का रामराज्य तथा लाल-बाल और पाल के स्वप्नो का भारत होगा।

आओ हम सब मिलकर स्वाधीनता की चालीसवी वषगाठ पर यह दृढ सकल्प ग्रहण करे कि हम स्वराज्य को सुराज्य बनायेंगे। वेद भी कहता है, यतेमहि स्वराज्ये अर्थात् हम सब मिलकर स्वराज्य को सुराज्य, सुदृढता और समृद्धि के लिए प्रयत्नशील हो।

भारत माता की जय हो।

—रामसिंह

दृढ़व्रती कर्मवीर पं. जियालाल जी

अनेक सघर्षों के बीच जीवन भर जिन्होने जनसाधारण की निस्वार्थ सेवा की और आर्यसमाज तथा उसकी सस्थाओ को तन-मन-धन और सर्वात्मना लगनसे सीचा उस अजमेरके सुप्रसिद्ध आर्य नेता कर्मवीर प जियालाल जी को हमारा शत-शत नमन। प्रत्येक वर्ष श्रावणी पर्व को उस कर्मवीर और धर्मवीर का जन्मदिवस आर्यसमाज अजमेर और उसके तत्वावधान मे सचालित शिक्षण सस्थाओ मे समारोहपूर्वक मनाया जाता है। आर्यसमाज अजमेर तथा आर्यसमाज शिक्षा सभा अजमेर ने दयान द कॉलिज अजमेर जैसी विशाल महाविद्यालय के सस्थापक कर्मवीर प जियालाल जी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए जियालाल शिक्षक प्रशिक्षण सस्थान (बी एड टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज), जियालाल कन्या सैकण्डरी स्कूल, जियालाल कन्या प्राथमिक पाठशाला, जियालाल शिशु निकेतन की स्थापना की तथा 1964 मे "सेवा और सघर्ष" के नाम से उनका जीवनवृत्त भी प्रकाशित किया जो एक प्रेरणादायी आलेखन है

कर्मवीर प जियालाल जी महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति अन्य निष्ठावान, आदर्श सेवाभाव के अनुपम उदाहरण तथा धुन के पक्के थे। आततायियो एव समाजकटको से सघर्ष करने मे उन्हे आनन्द का अनुभव होता था। उनका मन्तव्य था –

जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है।
मुर्दे दिल क्या खाक जिया करते है।।

अजमेर मे प्लेग के समय उनके द्वारा की गई अनुकरणीय सेवा, हैदराबाद के धर्मयुद्ध सत्याग्रह तथा पजाब हिन्दी रक्षा आदोलन मे सत्याग्रहियो की स्पेशल ट्रेने भिजवाना, सस्थाओ का सचालन, अनाथ एव निराश्रितो, अबला - विधवाओ, परित्यक्ताओ को देखभाल, आर्यसमाज के विशाल नगर कीर्तन, महोत्सव, हिन्दू मन्दिरो की रक्षा निर्भीकता तथा अटूट साहस, छूआछूत के निवारणार्थ विशाल प्रीतिभोजो का आयोजन आदि सब उनके अदम्य कर्त्तव्यनिष्ठ होने के प्रमाण है।

मजनू ही के दम से इस दहर की आबादी
एक उसके न होने से वीरान है वीराना।

—रामसिंह

(शेष पृष्ठ 1 का)

ही हिन्दु हो। यह परिभाषा यद्यपि अपने आप मे बडी अच्छी है किन्तु वह न हिन्दुत्व की परिभाषा है और न ही हिन्दू धर्म की। वह केवल सनातन धर्म अर्थात श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त सम्प्रदाय की परिभाषा मात्र है।" लोकमान्य तिलक की इस परिभाषा के सम्बध मे ए वी कुलकर्णी द्वारा लिखी "तिलकाची गेली 8 वर्षं" नामक मराठी पुस्तक के पृष्ठ 220 के अनुसार स्वय तिलक कहते हैं कि 'मेरी इस परिभाषा का उद्देश्य यह है कि उसमे हिन्दूधर्म की समस्त जातियों, वर्णों और सम्प्रदायो का समावेश किया जा सके तथा अन्य धर्मों को उससे पृथक् समझा जा सके। दूसरे शब्दो मे यह परिभाषा तर्कशास्त्र के अनुसार न अधिक सकीर्ण होनी चाहिये और न ही अधिक व्यापक।" इस्लाम और ईसाई धर्म से हिन्दू धर्म को भिन्नता दर्शाते हुए तिलक लिखते हैं कि "इन धर्मो के विपरीत हम यह मानते हैं कि ईश्वर के समय-समय पर अवतार प्रकट हुए हैं और आगे भी होंगे यद्यपि ईश्वर को हम एक मानते हैं किन्तु हम यह स्वीकार नही करते कि पृथ्वी पर उसका एक ही तथा अन्तिम अवतार हुआ है। जिस प्रकार उपासना के अनेक तरीके हैं उसी प्रकार उपास्य देवता भी अनेक हैं ऐसी हिन्दू धर्म की मान्यता है। अन्य धर्म के समान हिन्दुओ का कोई निश्चित देवता नही है। हम यह नहीं मानते कि केवल विष्णु या शिव की उपासना से ही मुक्ति हो सकती है। हिन्दू धर्म मे शैव, वैष्णव, गणपत्य आदि अनेक मत हैं जो अपने-अपने देवताओं को श्रेष्ठ मानते हैं और उनकी उपासना के लिए ऐसी मान्यता जरूरी है।"

(शेष पृष्ठ 5 पर)

आर्यसमाज का आधारभूत दृष्टिकोण

— स्व श्री प गगाप्रसादजी उपाध्याय, एम ए —

[आर्यसमाज के नियम हमारे सब कार्यों का आधार होने चाहिए। आर्यसमाज के नियम आर्यसमाज को विश्ववादी सस्था घोषित कर रहे हैं। पूज्य उपाध्याय जी ने नियमो की कसौटी पर अपने दृष्टिकोण और कार्यों को परखने की प्रेरणा दी है।] -सम्पादक

कोई समाज अपने विशेष लक्ष्य के बिना न बन सकता है न चल सकता है। कुछ सस्थाये केवल आन्दोलन के आधार पर चलती हैं। परन्तु वह कोल्हू के बैल के समान विशेष लक्ष्य न होने के कारण कुछ बना नहीं पाती। आर्यसमाज का लक्ष्य आर्य समाज के दस नियमो मे वर्णित है। उसके समझने की आवश्यकता है।

इन नियमो मे तीन बातें विशिष्ट हैं, जो तीनो अलग अलग और मिलकर आर्यसमाज तथा अन्य सस्थाओ मे भेद करती हैं, पहिले दो नियम ईश्वरवाद से सम्बन्ध रखते है। ससार मे प्राय अधिकाश मनुष्य ईश्वरवादी हैं और ईश्वरवाद के पचासो भेद हैं, परन्तु आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द जी का ईश्वरवाद अपने ढग का निराला है, हर मनुष्य इस निरालेपन को नहीं समझता है। दूसरे ईश्वरवादी जीव और सृष्टि को ईश्वर के लिए ही समझते हैं, ईश्वर के अतिरिक्त इनका अन्य प्रयोजन नही मानते, आर्यसमाज की दृष्टि मे सृष्टि का प्रयोजन जीव है ईश्वर नही, यह बडा भारी भेद है। जिसकी यदि उपेक्षा करदी जाय तो हम भी अन्य मतावलम्बियों के समान हो जायेंगे।

दूसरी चीज वेद है, तो सभी सनातन धर्मी अपने को वेद का अनुयायी कहते चले आये। परन्तु आर्यसमाज का तीसरा नियम वेद के विषय मे सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण रखता है। श्री शकराचार्य जी वेदानुयायी थे परन्तु उन्होने या उनके शिष्यो ने कभी यह आवश्यक नही समझा कि ब्राह्मणेतर भारतीयो या विदेशियो मे वेद का प्रचार किया जाय, यह निरालापन है स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण का। आर्यसमाज के शेष सात नियमों मे एक तीसरी विशेषता यह है कि आर्यसमाज न भारतीय सस्था है, न हिन्दू सस्था न ब्राह्मण सस्था, यह सार्वजनिक एव सार्वदेशिक सस्था, काले पीले सफेद गेहुंवे, चीनी, जापानी हिन्दू, हब्शी सभी मनुष्यो की सस्था है। जो आर्यसमाजी इस दृष्टिकोण को नही समझता वह आर्यसमाज को उन्नतिशील नही बना सकता। प्राय आर्यसमाजी अपनी प्रेरणाओ को सीधा आर्यसमाज के नियमो से न लेकर हिन्दू परम्पराओ से लेता है। उसका मस्तिक उन्ही परम्पराओ से बना है। अत आर्यसमाज की गाडी कीचड मे फसी रहती है जिसमे सनातन धर्म की अनेक गाडिया फसी हुई हैं।

आर्यसमाज के नियम आर्यसमाज का मुख्य लक्ष्य है। उसी कसौटी से अन्य सब मतव्यन्व को सोचना होगा। कसौटी से सोने को परखते हैं, मान मे कसोटी को नही जब आर्य समाज के सिद्धान्तो के लिए कसौटी मिल गई तो जहा कही चाहे किसी पुस्तक मे क्यो न हो कोई ऐसी बात मिले जो इस कसौटी पर ठीक न उतरती हो तो उसे त्यागना ही पडेगा। स्वामी दयानन्द जी ने इसी दृष्टि से आर्यसमाज के नियमो के भीतर न कही अपना नाम डाला न अपनी पुस्तको का। इस विषय मे आधुनिक आचार्यों मे ऋषि दयनन्द का नाम निराला है, सब को अपने नाम का प्रलोभन है, महात्मा बुद्ध भी अपने शिष्यो को कहते हैं कि बुद्ध की शरण आओ, गीता मे श्रीकृष्ण जी भी इसी बात पर बल देते हैं मद्याजी भव" गीता, लेकिन ऋषि दयानन्द तो कही भी इस प्रकार का दूरस्थ सकेत भी नही करते हैं। यदि आर्यसमाजी अपनी श्रद्धा के आवेश मे इस प्रकार की कोई प्रवृत्ति उत्पन्न करेंगे तो वह न केवल स्वामी दयानन्द जी के मन्तव्यो के विरुद्ध होगा अपितु इससे आर्यसमाज की उन्नति मे बाधा पडेगी।

स्वामी दयानन्द जी ने सत्यार्थ प्रकाश के अन्त मे 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश" के नाम से एक परिशिष्ट दिया है जिसको प्राय आर्यसमाज का सिद्धान्त समझा जाता है। परन्तु यह भूल है, यदि ऋषि को ऐसा अभीष्ट होता तो वह मतव्य अमतव्य के साथ 'स्व शब्द का प्रयोग न करते। यहा भी स्वामी दयानन्द जी ने एक महत्वपूर्ण प्रवृति का दिगदर्शन किया है वे यह चाहते हैं कि लोग अपने सिद्धान्तो की खोज मे ऋषि दयानन्द की अन्धी पैरवी करें। 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" है क्या? वस्तुत. यह है एक कुन्जी ऋषि दयानन्द के ग्रन्थो को समझने के लिए या यो समझिये कि वह कोष है उन शब्दो का जिनका स्वामी दयानन्द जी ने अपने अन्यान्य ग्रन्थो मे प्रयोग किया है। एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते है। कही पारिभाषिक कही लाक्षणिक कही धात्वर्थ, परन्तु शब्दो का अर्थ तो प्रकरण से लेना होगा। इसलिए स्वामी जी ने अपने ग्रन्थो की कुन्जी 'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" मे दे दी है। सम्भव है कही उसके विपरीत

(शेष पृष्ठ 5 पर)

स्वतन्त्रता दिवस पर विशेष—

सूरज तो उग आया लेकिन

(ले - लाखनसिंह भदौरिया "सौमित्र")

— ६*३ —

सूरज तो उग आया लेकिन, किरणो पर प्रतिबन्ध लगे है ।।

सूरज के उगने की खुशियाँ, किसको नही मुझे बतलाये ?
पर उगने के सदेशो से, कोई कब तक मन बहलाय ?
वचनो से मिलते आश्वासन, सपनो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।
सूरज तो उग आया लेकिन, किरणो पर प्रतिबन्ध लगे है ।।

अन्तरिक्ष मे उलझी किरणें अभी धरित्री पर तम सोया,
अभी टटोल रहा पथ जन-जन, अन्धियारे मे खोया-खोया,
चादी का होता अभिनन्दन, रत्नो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।
सूरज तो उग आया लेकिन, किरणो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।।

दानी ने सब कुछ दे डाला, याचक की अजली रीति है!
हमको ऐसी मुक्ति मिली है, प्राणो पर मुश्किल बीती है ।
कलियो के अधरो पर क्रन्दन, सुमनो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।
सूरज तो उग आया लेकिन, किरणो पर प्रतिबन्ध लगे है ।।

मुक्ति स्वार्थ कारा मे बदि, हुआ न सुख महसूस मुक्ति का,
दिल्ली की गलियो से आगे, निकला, नही जुलुस मुक्ति का,
चलने को मिल रहा निमन्त्रण, चरणो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।
सूरज तो उग आया लेकिन, किरणो पर प्रतिबन्ध लगे ।।

भागीरथ के भाग जगे हैं, भागीरथी स्वय उमडी है ।
सगर-सुतो की राख अभागिन, दो बूदो को तरस रही है ।
जन्हु-ऋषी कर रहे आचमन तृषितो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।
सूरज तो उग आया लेकिन, किरणो पर प्रतिबन्ध लगे हैं ।।

प्रो. जी. वाईज के पत्र महर्षि के नाम

— डा. कृष्णपाल सिंह —

(गतांक से आगे)

प्राकृतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान के समन्वय की जिज्ञासा—

यद्यपि महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रो जी वाइज को एक पत्र प्रेषित किया जिसमे उन्होने लिखा कि "कमेटी और कई फाजिल आशखास की यह राय है कि नोजवान आर्यों को यूरोप मे मुफीद सनत व हिरफत सीखने के लिए भेजना जरूरी नही है तथापि प्रो वाइज ने उन्हे अपने विचारो से अवगत कराते हुए लिखा कि " जो मेरा ख्याल था कि वह यूरोप या जर्मनी से सीखना या हासिल करना चाहने हैं तो यह बिल्कुल दुरहत है कि उन्हे अपनी मदद आप करनी चाहिए किन्तु कई बातें ऐसी होगी तो हमारे पास आप की निस्बत बहतर और जो आपके लडके हमारे यहा आकर उनकी माहयत मालूम करके उनके बनाने का तरीका सीखकर खूब बना सकेंगे । इस मकसद के लिए जहा तक हमारी ताकत म है, हम उनकी मदद करने के लिए तैयार हैं और इसके मुआवजे म हम आप से या आपके लडको से वे खूबिया सीखने को तैयार हैं जो उन्ह बवजह आर्यन फिलासफी और आपकी तालीम के हासिल है और आप से और हिन्दुस्तान के दीगर अक्लमन्द असहाब से जिनके पास इसानी और खुदाई राज का हमारे मोजूदा साइस दानो और फिलासफी की निस्बत बहतर तौर पर जाहिर करने और समझने की कुजी है तालीम हासिल करन के लिये तैयार है ।

आगे वाइज ने पत्र मे स्वदेशस्थ प्राकृतिक विद्वान अर्थात भौतिक विज्ञान की उन्नति से अवगत कराया तथा आध्यात्मिक ज्ञान की जो अलौकिक उन्नति हिन्दुस्तान मे है उसकी उपलब्धि जर्मन देशस्थ नवयुवक एव वैज्ञानिकों मे हो ऐसा परस्पर एक दूसरे क लिए व्यवस्था बनाने का प्रयत्न करना चाहिये जैसा कि पत्र मे स्वगत विचारो को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि 'गोया कि इस हिदुस्तान और रूहानी खजाने का बाहर तबादला हो जायेगा और दोनो को आखिर-उल-अमर इससे फायदा होगा ।

जर्मन निवासह व्यक्ति भारतीय आर्यों को किसी प्रकार से अलग नही मानते हैं बल्कि अपने आप को पुरातन आर्यों का वशज ही स्वीकार करते हैं । जैसा कि पत्र की निम्न पक्तियो से सुस्पष्ट होता है—' जर्मनी मे मरे दोस्त और मै आपको गैर नही समझते, बल्कि हम आपके हकीकीचचाजाद भाई है, न सिर्फ मास खून के रिश्ते से बल्कि रूहानी तौर पर भी ।"

नेचुरल हिस्ट्री के यूरोपियन प्रोफेसरों का विचार—

प्रो वाईज ने प्राकृतिक इतिहास के यूरोपियन प्रोफेसरो के विचारो से अवगत कराते हुए महर्षि को लिखा कि—"नेचरल हिस्ट्री के यूरोपियन प्रोफेसरो का ख्याल है और व इसे वे फायदा साबित करने की कोशिश करते हैं कि इसान वालो वाले दरिन्दो की जिनकी दुम भी थी, औलाद है । —दर हकीकत बहुत आदमी बन्दर ही हैं, सिवाय इसके कि उनके बल और दुम नही है । ये लोग अपने लिए आप काम नही और न सोचते हैं,बल्कि बन्दरो की तरह दरखद पर बैठे हुए दीगर बन्दरो की नकल करने पर ही इकतिफा करते हैं ।"

आगे उन्होने लिखा है कि —' मैं निहायत रहम भरे हुए दिल के साथइस बात को तशलीम करता हूं क्या ही अच्छा होता अगर थोडा वह आलाफलसफा और ज्ञान बनी नो-ए-इसान को हासिल होता को जो कदीम जमाने मे हिन्दुस्तान मे पाया था और उम्मीद है अब भी वहा चन्द अशखास ने जिनके पास इस खजाने की किलीद है । इसे सभाल कर रखा होगा । "

कम व्यय के लिए विचार—

प्रो वाइज ने लिखा कि हिन्दुस्तानी नव युवको कम खर्च पर कलाकौशल का प्रशिक्षण देने के लिए हम तैयार हैं जैसा कि उन्होने लिखा है कि—

"अगर ऐसा ही मामला है तो मैं आर्यों के लिए अपनी शरायत-ए-खर्चा को उनकी हालत के मुताबिक कम करने को तैयार हू । ताकि वे लडके भी हमारे पास आ सकें जिनके वाल्देन अमीरो जितना रुपया अदा नही कर सकते । —हमसे जो कुछ सकेगा, हम आर्यों को अपने यहा लेने के लिए और मदद करेगे क्योकि हमे इससे रूहानी फायदा हासिल होगा और हमारी ख्याल है कि हमारे अपने नौजवान लडके उनके आला अखलाक और आचरणो से फायदा उठायेगे और वे हमारे लडको के लिए एक काबिल-ए-तक्लीद मिसाल होगे । "

आगे लिखा है कि 'मैं उस दिन की प्रतीक्षा करता हूं जबकि आर्यों के अला आचरणों और पवित्र मिसाल से हमारे जर्मन नोजवान भी उस आला खूबी से हासिल करेगे जो कि नोजवानो के लिए निहायत बेशबहा है । —इस लिए आप से प्रार्थना करता हूं कि आप कमेटी की परवाह न करे । कसरत-ए-राय आम तौर पर सही नतयज पर नही पहूँचा करती, अगरचे अकेले, अकेले हर एक शक्स कितना ही होशियार और मुदल्लत क्यो न हो । हो सकता है कमेटी आखिर एक दिन अपने मौजूदा ख्यालात को तब्दील कर दे ।

इसलिए आप अपने तुलबा को मेरे पास भेजने में ताम्मुल न करें । हम उनको उनकी बराबत पर ही लेने को तैयार हैं । "

महर्षि दयानन्द की भारतीय नवयुवकों को कला कौशल के प्रशिक्षणार्थ जर्मन भेजने की नीति असफल क्यों रही ?

जैसा कि स्वामी जी के पत्रो और जर्मन के प्रो जी वाइज के पत्रो के अध्ययन से यह साफ जाहिर होता है कि महर्षि भारतीय नवयुवको को जमनी मे कलाकौशल की शिक्षा पाने के लिए भेजना चाहते थे ताकि स्वदेश कलाकौशल तथा आर्थिक स्थिति में सुदृढ हो सके और देश की बहुँमुखी उन्नति हो सके । उधर जर्मनी के विद्वानो भारतीय नवयुवको से भारतीय फिलासफी तथा अध्यात्मिक विज्ञान को प्राप्त करके पारलौकिक अभ्युदय प्राप्त करने की प्रबल जिज्ञासा थी । भारतीय नवयुवकों के विदेश जाने मे कम से कम खर्च की व्यवस्था भी प्रो जी. वाइज ने की और कमेटी के निर्णय को उचित न मानकर उन्होने महर्षि से प्रार्थना की कि आप अवश्य ही नोजवानो को हमारे यहाँ भेज देंवे हम सम्यक व्यवस्था करेगे ।

उपर्युक्त सम्पूर्ण पत्रीय विचार बनकर ही रह गये और इन विचारो पर कोई यथार्थ योजना नहीं बन सकी, इसके कई कारण हो सकते हैं । प युधिष्ठिर मीमासक जी ने एक विशिष्ट तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसके कारण महर्षि अपनी योजना को मूर्तरूप नही दे सके । महर्षि का हृदय सरल स्वभाव का होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति पर विश्वास कर लेते थे जैसे मुशीबख्तावरसिह, मुशी इन्दमणि अनेक व्यक्तियो पर विश्वास किया और उन्होने धन के लोभवश महर्षि के साथ विश्वासघात किया और विरोध भी किया ।

प्रकृत प्रकरण मे प. युधिष्ठर जी का विचार है कि प्रो.जी वाइज के आवेदन के प्रथम उद्धरण मे जिस कमेटी और विशिष्ट व्यक्तियो की सम्मति का सकेत किया है । उन मे एक विशिष्ट व्यक्ति लाला मूलराज

(शेष पृष्ठ 5 पर)

शान्ति स्थापना हेतु युद्ध आवश्यक

— डॉ देव शर्मा वेदालंकार —

वृष्टि से लेकर आज तक वेद मानव जीवन के लिये सतत् प्रेरणा स्रोत रहा है जब कभी मानव पतन के गर्त की ओर जाने लगता है तब वेद ही उसके उत्थान का मार्ग प्रशस्त करता है। यह सकल चराचर जगत् एक युद्ध के रूप के दृष्टिगत होता है जहा मनुष्य को कदम कदम मे सघर्षो से जूझना पडता है। चतुर्दिक् विघ्नबाधायें एव आन्तरिक व बाह्य शत्रु मनुष्य को निर्जीव करने के लिये आतुर दिखाई देते हैं। जहा एक ओर काम क्रोध मद लोभ मोह तथा मत्सर-इन षड्रिपुओ की बलवती पैशाची सेना मन पर आक्रमण कर उसे विजित करना चाहती है वही दूसरी नवनवीन व्याधियाँ शरीर को जर्जरित करने का उपक्रम कर रही हैं। कही अनावृष्टि है तो कही अतिवृष्टि। जैसे कोई नदी पहाडो की प्रचण्ड शिलाओ को विदीर्ण करती हुई अपने लक्ष्य की ओर बढती जाती है उसी भाति मनुष्य को भी सर्वविध बाधाओ को ध्वस्त करते हुये अत बाह्य शत्रुओ को परास्त करते हुये जीवन के उत्तुग शिखर की ओर बढना चाहिये। मनुष्य को कभी भी मान वाले सघर्षो से त्रस्त होकर कर्तव्यच्युत नही होना चाहिए।

वेद भगवान् का आदेश है कि मनुष्य! तू अमरपुत्र है अत कभी भी निराश मत हो, निरन्तर आगे बढता जा आशा ही का दीप जलाये जा, हमेशा याद रख-"नहि त्वा कश्चन प्रति" इस भूमण्डल मे कोई ऐसा नही जो तेरी बराबरी कर सके। अतः तेरा प्रयत्न हो कि भूमण्डल मे आर्यो का आधिपत्य हो। कभी भी राक्षसो के अत्याचार को सहन न कर "उद्वृह रक्ष सहमूलमिन्द्र" है वीर? तू राक्षसो को जड से उखाड फेंक।।

कर्मवाद वेद का विश्रुत सिद्धात है अकर्मण्य व भाग्यवादी व्यक्ति को वेद मानव कोटि में ही नही मानता कर्महीन भक्ति वाद एव भाग्यवाद न ही भारत के उत्कर्ष को रसातल तक पहुँचाया है अत आज आवश्यकता है वेद के इस सन्देश की- "नहि ये अक्षिपक्ष्मना ब्खा रेयु पञ्चकृष्टय कुवित् सोमस्यापामिति" अर्थात धरती भर के सब मनुष्य मेरे अक्षिपात तक को भी नही रोक सकते क्योंकि मैंने सोमरस-वीररस या परमात्मा के भक्तिरस का यथेच्छ पान कर लिया है।

भारत देश मे अनकेश धर्माचार्यो ने भक्ति और अहिंसा पर बहुत बल है परन्तु उन्होने अहिंसा के जिस भव्य स्वरूप को प्रस्तुत किया था, उसे भुलाकर उससे सर्वथा भिन्न भक्ति भावना के स्थान पर कर्महीन निर्जीव भक्ति तथा अहिंसा के स्थान पर कायरता फैला दी। राष्ट्र कवि दिनकर ने भी तो यही मान्यता प्रस्तुत की थी "क्षमा सोभती उस भुजग को, जिसके पास गरल हो" अहिंसा कायरो का नही शूरमाओ शस्त्र होता है। वैदिक वीर तो उद्घोष करता है। "कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित" मेरे दाहिने हाथ मे तो कर्म है और बाये हाथ मे विजय एव जीवन की सफलता।

आज ससार मे प्रत्येक व्यक्ति युद्ध की विभीषिका से बचकर शाति का अमृत पान करना चाहता है फिर भी युद्धो की सख्या उत्तरोत्तर बढती दिखाई देती है। इस सन्दर्भ मे यही कहा जा सकता है कि ये युद्ध तब तक समाप्त नही किया जाता। आन्तरिक युद्ध हो या बाह्य इन युद्धो का एक मात्र कारण है-आसीरी वृत्ति। इन आसुरीवृत्ति वाले राक्षसो का सहार करने के लिये क्या युद्ध आवश्यक नही? जिस दिन भूमण्डल मे आसुरी वृत्ति नष्ट हो जायेगी, युद्ध समाप्त हो जायेगा और युद्ध समाप्त हो जायेगा तो शान्ति हो जायेगी। अत हम इसे इस रूप मे भी कह सकते हैं कि शान्ति का मूल युद्ध है। इसी युद्ध की निरन्तरता का उद्घोष सामवेद आरण्यक काण्ड के द्वितीय दशति के चतुर्थ मत्र एव अथर्ववेद के पचम काण्ड के दुन्दुभि सूक्त मे दृष्टि गोचर होता है। वेद का सन्देश है "विरक्षो विमृधो नहि विवृत्रस्य हनूरुज। विमन्यु मिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासत" अर्थात् हे वीर तू राक्षसो का सहार कर, हिंसको को कुचल दे, दुष्टो की दाढ तोड दे और तुझे जो दास बनाना चाहे उस वैरी के क्रोध को चूर-चूर कर दे।

वीर पुरुष कहता है यदि मेरा शत्रु पृथ्वी से भागकर अन्तरिक्ष मे चला जाये तो "अन्तरिक्षान् त निर्भजामो योऽस्मान् द्वेष्टि अर्थात् जो हमसे शत्रुता करता है उसे अन्तरिक्ष से भी निकाल दूगा।

जैसे कि वीर हनुमान को प्रारम्भ मे अपनी अमित शक्ति का बोध नही था बाद मे नील जामवन्त ने उन्हे शक्ति का परिचय कराया था उसी भाति मनुष्य भी अपनी अपार शक्ति को नही पहचान पाता उस समय वेद ही मनुष्य को सोते से जगाकर कहता है कि तेरे अन्दर असीम शक्ति छिपी है, उसे तू पहचान और आगे बढ। उस शक्ति को पहचान कर वह शूरवीर कहता है "अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धन न मृत्यवे वतस्थे कदाचन" अर्थात् मैं इन्द्र हूं मेरे समक्ष साक्षात् मृत्यु भी नही टिक सकती।

इस प्रकार सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि वेद मे पदे पदे सघर्षो से मुकाबला करने के लिये प्रेरणादायी भावनायें निहित हैं शान्ति व अहिंसा इसका नाम नही कि आततायी अत्याचार करें और हम कायरो की भाँति सहन करते रहे हैं। दुष्टो का दमन करना ही अहिंसा है। भगवान् कृष्ण ने जन्म से मृत्यु पर्यन्त दुष्टो का सहार किया एव सत्पुरुषो के द्वारा युद्ध कराया लेकिन उन्हे युद्ध का प्रवर्तक नही माना जा सकता उन्होने तो पाण्डवो की सहायता से दुष्टो का सहार का सच्ची शांति स्थापित की थी अत सच्चे अर्थो मे शांतिदूत थे। हम लोगो का भी वैदिक भावना के स्वरूप को समझते हुये आदिकाल से चले आ रहे देवासुर सग्राम से बचने का प्रयत्न नही करना चाहिये प्रत्युत सच्ची शाति के निमित्त युद्ध का आह्वान करना चाहिये और हमारा आदर्श वाक्य गीता का यह वाक्य होना चाहिये-

परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थानार्थाय सभवामि युगे युगे ।।

श्रावणीपर्व व जियालाल जयन्ती मनाई

अजमेर 10 अगस्त (कास) आर्यसमाज के तत्वावधान मे कल आर्यसमाज म दिर म प, जियालाल जय ति एव श्रावणी उपाकम पर्व आयोजित किया गया। समारोह की अध्यक्षता पूर्व नगर परिषद अध्यक्ष नाथूसिह तँवर ने की।

इस अवसर पर आर्यसमाज के प्रधान दत्तात्रेय आर्य ने कर्मवीर प जियालालजी के प्रेरणादाई जीवन पर प्रकाश डाला तथा प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य, डा कृष्णपालसिह व प्रो देव शर्मा आदि ने श्रावणी की महत्ता पर प्रकाश डाला।

विभिन्न विद्यालयो के बालक—बालिकाओ तथा सर्वश्री रामचन्द्र आर्य अन तराव व स्वामी केवलान द जी के भजन आदि हुए। अत मे आर्यसमाज के मन्त्री रासासिह ने आभार व्यक्त किया।

पत्र बोलते हैं ...

ऋषि दयानन्द और हिन्दुत्व

30 जुलाई के आर्य पुनर्गठन मे तो शरर के विचार उपर्युक्त विषय र पढ़े। सामान्यतया उनके तथा स्वामी सत्यप्रकाश जी के विचारो मे मोट तौर पर कोई विशेष अन्तर दिखाई नही पड़ा। किंतु हमे इतना स्मरण रखना होगा कि हिन्दू काल में हमारे धर्म और सांस्कृतिक वैभव का जो सर्वतोमावेन ह्रास हुआ था उसका मूल कारण भी स्वामी जी ने आर्यत्व से हटने तथा हिन्दुवादी पाखण्डो, अन्धविश्वासो तथा रूढ़िवाद से अपने को बांधे रखने से ही माना है। यो इस तथाकथित हिन्दू के स्वाभिमान को जगाकर उसके मृतप्राय प्राणो मे जीवनशक्ति का सचार करने का अनेकश प्रयास शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह आदि महापुरुषो ने किया कि हिन्दू हिन्दुत्व के साथ हमारा हताशा, निराशा हमारा पराजय बोध तथा दास व मलक प्रवृत्तिया इतनी अधिक जुड गई हैं कि उनके आधार पर हमे न तो कोई प्रेरणा ही मिल सकती है और न भारतीय समाज को ही पुन जगाया जा सकता है। अत हमे स्वामी दयानन्द के स्वर मे स्वर मिला कर आर्यत्व को पुन प्रतिष्ठापित करने का ही प्रयत्न करना होगा। यदि हमने हिन्दुत्व का तनिक भी पल्ला पकड़ा तो सावरकर वाद गोलवलकरवाद और विश्व हिन्दू परिषद का अन्धानुसरण हमारे गले पड़ जायगी। अभी तो इतना ही।

—डा भवानीलाल भारतीय

महापुरुषों पर कीचड़ न फेंकें

लगता है डा स्वामी सत्यप्रकाश जी ने स्वामी विवेकानन्द को अच्छी तरह से नही पढ़ा है और किसी एक लेख मे त्रुटिया ढूढने लगे हुए हैं।

स्वामी विवेकानन्द को हिन्दू होने मे महान गर्व था। व होने कहा था—भारत ही ससार का धार्मिक गुरु है और ईसायत भारत के कुछ बोल से ही विचारो पर आधारित है।

ऐसे विचारो वाला महापुरुष किसी अन्य धर्म का पोषक हो सकता है।

महापुरुषो को यदि हम सम्मान नही दे सकते तो उन पर कीचड तो न फेंकें।

—वेदप्रकाश कथूरिया
F 49, कीर्तिनगर
दिल्ली-15

संसार की आंखें खोलने वाला लेख

आर्यपुनर्गठन पत्र लेख थोड़े से लिखता है परन्तु वह नवीन ज्योति देन हैं श्री व ल्ले साहब अन्वेषणपूर्ण सामयिकता के लेख कमाल के होते हैं साथही अन्य विद्वानो को भी। हा अबके अंको 30 7 87 के अंक मे डा स्वामी श्री सत्यप्रकाशजी का लेख श्री स्वामी विवेकानन्दजी के वे निम्न विचारो का जो चित्रण किया है वह संसार की आंखे खोलने वाला यथार्थप्रकाश है धन्यवाद...

—सोमानन्द सरस्वती
स्वतन्त्रता सेनानी ब्यावर

समाजों पर अनधिकृत कब्जों की सूचना दें

देश की अनेक समाजों पर अनार्यो व असामाजिक तत्वो ने अनधिकृत रूप से कब्जे किए हुए हैं। आर्य समाज अजमेर ऐसी समाजो की जानकारी प्राप्त करना चाहता है।

अत य सज्जनो से निवेदन है कि उक्त समाजो की सूचना विवरण सहित हमें भेजने का कष्ट करें।

—मत्री

(शेष पृष्ठ 3 का)

मिले या खण्डनात्मक हो या प्रभाव से अन्यथा हो गया हो उसका निर्णय इसी कुन्जी से होना चाहिए। स्वमन्तव्यामन्तव्य का यही मूल्य है। इसको आर्यसमाज के नियमो से उतर कर दूसरी श्रेणी में रखना होगा।

स्वमन्तव्यामन्तव्य से नीचे और उनकी अपेक्षा गौण ऋषि के अन्य समस्त ग्रन्थ हैं। जहा उनका आशय ऊपर की दो कसौटियो पर न कसे वहा उसकी मान्यता उतनी ही कम हो जावेगी। स्वामी दयानन्द जी के सिद्धान्तो का समन्वय इसी प्रकार से हो सकता है। आजकल आर्यसमाज यह भूल करता है वह इन कसौटियो मे भेद नही कर सकता है उनके लिए आयसमाज के नियम, स्वमन्तव्यामन्तव्य ऋषि के अन्य ग्रन्थ ऋषि के ग्रन्थो पर व्याख्यान ऋषि के विषय में सुनी सुनायी गाथाये ऋषि के व्याख्यानो को सुना सुना कर उनके ऊपर बनाई हुई पुस्तके सब समकक्ष समझ ली जाती हैं यह एक समस्या है जिसका अन्त आज हम विशेष ध्यान देना...

इस प्रकार आर्यसमाज के (1) ईश्वर जीव प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण (2) वेद के सार्वजनीन अध्ययन सार्वदेशिक प्रचार की नीति (3) आर्यसमाज का सार्वदेशिक स्वरूप ये ऐसी बातें हैं जिनको प्रत्येक आर्य समाजी को अपनी दृष्टि मे हर समय रखना चाहिए। महर्षि दयानन्द का पथ प्रदर्शन हमे इस ओर सफलता पूर्वक बढने की शक्ति प्रदान करता रहेगा।

(शेष पृष्ठ 4 का)

एम ए थे। कला कौशल सिखाने के सम्बन्ध में अमनी से जितने पत्र भी आये थे, उन्हे ऋषि दयानन्द ने लाला मूलराजको भेजे थे।

जैसा कि हम उपर वर्णित कर चुके है कि महर्षि सरल स्वभाव के कारण प्रत्येक व्यक्ति पर पूरा विश्वास कर लेते थे। इसी कारण से महर्षि लाला मूलराज पर पूरा विश्वास करते थे। लाला मूलराज भी ऊपर से अपने को महर्षि दयानन्द का अनुयायी और भक्त प्रकट करते थे, परन्तु भीतर से वे महर्षि के प्रत्येक महत्वपूर्ण काम मे बाधा उत्पन्न करते थे। जैसे गो करुणानिधि पुस्तक का अग्रेजी मे अनुवाद करने के लिए महर्षि ने लाला मूलराज को अनेक बार लिखा किन्तु अन्त तक उन्होने इस कार्य को नहीं किया। जोकि एक बहुत ही महत्वपूर्ण काय था।

पण्डित जी के अनुसार "वस्तुत वे ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के कार्यो पर निगरानी रखने के लिए अग्रेजी सरकार की ओर से नियुक्त थे। अन्यथा व देशोन्नति के प्रकृत पवित्र और गुह्यतम कार्यों म बाधक न ...। भला ब्रिटिश सरकार यह ... सकती थी कि भारत व ... जमना जाकर तकनीकी ... प्राप्त करें।

(शेष पृष्ठ 2 का)

आर्य समाज न अनेक देवताओ ... अवतारो मे विश्वास ... ही भिन्न 2 उपासना ...। इसलिए लोकमान्य तिलक ने भी उसे हिन्दू धर्म की व्याख्या मे शामिल नही किया है जसा सावरकर ने लिखा है। 'इसमे सन्देह नहीं कि आर्यसमाज भी वेदो को प्रमाण मानता है किन्तु उसकी वेदो की व्याख्या अन्य हिन्दू विद्वानो की व्याख्या से सर्वथा भिन्न है और जिसे आर्य समाज वेदो का धर्म मानता है यह हिन्दू धर्म से सर्वथा अलग है। इस प्रकार वेदों के सम्बन्ध मे दोनो के दृष्टिकोणो मे इतना अन्तर है कि एक प्रकार से यह कहा जासकता है कि आर्यसमाज कट्टर या पौराणिक हिन्दूओ के वेद को नही मानता इस प्रकार वेदो के बारे मे उनके विचारो मे केवल ऊपरी समानता है वास्तविक नही'

—क्रमश

श्री रतनलाल गर्ग से आर्य प्रिन्टर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज, अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 162
सृष्टि सम्वत 1972949087

। ओ३म ।

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एव भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 रविवार 30 अगस्त 1987
अक 13 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

भाद्रपद शु 6 सवत 2044
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

हिन्दू बनाम हिन्दू धर्म

—आचार्य दत्तात्रेय आर्य —

(गताक से आगे)

सनातनियो द्वारा भी विरोध

सनातन धर्म के अन्य प्रमुख व्यक्तियो के भी आर्य समाज के बारे मे ऐसे ही विचार है। वे उसे एक सर्वथा नवीन धम मानते हैं जो प्रचलित हिन्दू धम के विरुद्ध है। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा द्वारा लिखित तथा व्यकेटश्वर प्रैस बम्बई द्वारा 1905 मे दयानन्द तिमिर भास्कर नामक एक पुस्तक प्रकाशित की गई है। जैसा पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि उसमे स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सत्याथप्रकाश का खण्डन करते हुए लिखा है कि दयानन्द ने जो अन्धकार अर्थात तिमिर फैलाया उसे दूर करने के लिए यह पुस्तक लिखी गई है इस पुस्तक म यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि स्वामी दयान द का यह कथन कि उ होने किसा नवीन धम की स्थापना नही की भ्रमपूण हैं। स्वामी जी की इस घोषणा का उपहास करते हुए ज्वाला-प्रसाद मिश्र लिखते हैं कि—"कैसी विचित्र बात है कि एक नवीन धर्म की स्थापना करने के बाद भी इस बात से इ कार किया जाता है कि पुरानी मान्यताओ को तिलांजलि देकर नई प्रारम्भ की गई। शास्त्रो को पूण-तया नष्ट करने का प्रयत्न किया। प्रतिमा पूजा श्राद्ध, तपणमन्त्र, जप तप सबको असत्य घोषित कर दिया गया। नियोग जसे अनाचार का समथन किया गया। सब जगह आय समाज की शाखायें खोल दी गई और ब्राह्मणो का पोप बताया गया। वण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था नष्ट को गई। शूद्रो को वेद पढने का रास्ता खोल दिया गया। वेदो का अपना पृथक भाष्य किया गया। इस प्रकार प्राचीन प्रथाओ और मान्यताओ को पूरी तरह उखाड फेंकने के लिए कोई कसर उठाकर नही रखी गई और इस उद्दश्य से सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदभाष्य भूमिका आदि अन्य ग्रन्थ लिखे गये। यह भी घोषित कर दिया गया कि ईश्वर पापो को क्षमा नही कर सकता। उसके नाम का जप करने से कोई लाभ नही है। जीव, मुक्ति से वापस लौटकर आता है आदि अनेक अपने सिद्ध त प्रतिपादित कर दिये गये और इस पर भी दयानन्द का कहना है कि मैंने किसी नवीन मत की स्थापना नही की।'

आगे दयानन्द तिमिर भास्कर के लेखक पृष्ठ 18 पर पूछते हैं कि 'क्या इस प्रकार के झूठ की कोई सीमा है ? नवीन धम को स्थापित करने के लिये दयानन्द और क्या कर सकते थे ? उन्होंने अपने सत्याथ प्रकाश के अन्त मे अपनी मान्यताओ और मन्तव्यो को शामिल कर दिया है। इसलिए यह पुस्तक अर्थात् तिमिर भास्कर जो सत्याथ प्रकाश का पोल खोलने के लिये लिखी गई है, इन मन्तव्यो और विश्वासो का भी खण्डन करती है। परिणामस्वरूप इन मान्यताओ का भी आधार नष्ट हो जाता है क्योकि न वे वेदो के आधार पर हैं और न ही बुद्धिमान् विचारको को स्वीकार हो सकते हैं। अपने स्वय के मन्तव्यो का स्वय घोषणा करना ऐसी है जैसे अपने पुत्र को स्वय राजा घोषित करना। यह सब निर-थक है, इसका कोई लाभ नही है। यह सब लोगो को गुमराह करने के लिये लिखा गया है।

पडित मदनमोहन मालवीय जिन्होने हिन्दू विश्व विद्यालय की स्थापना की और जो सनातन धम के एक प्रमुख नेता थे उनकी सम्मति मे भी धार्मिक दृष्टि से आयसमाज सनातन हिन्दू की परिभाषा मे नही आता है। पडित उमापति द्विवेदी द्वारा रचित "सनातन धर्मोद्धार नामक पुस्तक जो मालवीय जी की स्वीकृति से प्रकाशित की गई, उसमे भी हिन्दू धम की जो विस्तृत मान्यतायें दी गई हैं वे स्पष्ट रूप से आयसमाज के सिद्धान्तो के विपरीत हैं। इतना ही नही स्वय मालवीयजी ने अपनी भूमिका मे लिखा है कि सनातन धम के सिद्धान्तो का यह सग्रह उन सब सम्प्रदायो के लिये मान्य और स्वीकार है जो सनातन धर्म की परिभाषा मे आते है और इस प्रकार यह पुस्तक हमारे नवयुवकों के लिय धार्मिक शिक्षा देने और हिन्दू धम का प्रचार करने के काय मे उपयोगी सिद्ध होगी। ग्रन्थ के लेखक ने स्पष्ट रूप आयसमाज और उसके सिद्धान्तो का खण्डन और उसके सस्थापक ऋषि दयानन्द की कटु शब्दो में निन्दा का है। उन्हे 'वेदविनाशक तक कहा है और लिखा है कि स्वामीजी ने न केवल वेदो का ही विनाश किया अपितु धर्म के नाम पर अनेक घोर काटे बोये है। धर्मोद्धार नामक अध्याय मे स्वामी दयानन्द के मन्तव्यो और सत्याथ प्रकाश की विस्तार से समालोचना की गई है। वेदविनाशक (अर्थात स्वामी दयान द) और उनके समालोचक (अर्थात लेखक पडित उमापति द्विवेदी) के बीच एक काल्पनिक ससार के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि स्वामी दयानन्द ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जो तक दिये हैं वे वेद तथा अन्य हिन्दू शास्त्रो के विरुद्ध हैं। एक स्थान पर द्विवेदीजी लिखते हैं कि ईश्वर की मूर्तिया केवल पत्थर या मिट्टी मात्र है और पवित्र गगा जल केवल पानी या जल है यह बात केवल मूख व्यक्ति ही कह सकता है।

देहली उच्च न्यायालय का निर्णय—

देहली हाई कोर्ट ने आय समाज को पृथक् धार्मिक सगठन न मानकर जहाँ एक कानूनी और सवैधानिक भूल की है (जिसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय मे आयसमाज की अपील विचाराधीन है) वहाँ दूसरी ओर देहली हाई कोर्ट के न्यायाधीशो को विवश होकर यह स्वीकार करना पडा कि प्रत्यक हिन्दू धार्मिक दृष्टि से भी हिन्दू धम का अनुयायी हो यह आवश्यक नही है। उन्होंने हिन्दू के दो अथ किये है एक जो केवल सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू है और दूसरे वे जो धार्मिक दृष्टि से

(शेष पृष्ठ 4 पर)

निदेशक : दत्तात्रेयआर्य प्रधान सपादक : रामसिंह सपादक .वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन कार्या : 21010

हमें क्या हो गया है ?

शीर्षक देखकर चौंकिये नही। आत्मालोचन हेतु आग्रह कर कर रहा हूँ। स्व राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की 'भारतभारती' मे उल्लिखित ये पंक्तियाँ सहज ही याद आती है कि—

'हम क्या थे ? क्या हो गये ? और क्या होगे अभी" ।

'आओ मिलकर विचारे, देश की समस्याए सभी"

यहा मैं देश के स्थान पर "आर्यसमाज" करना चाहूगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 7 अप्रेल 1875 ई को बम्बई मे आर्यसमाज की स्थापना की थी। स्थापना के बाद आर्यसमाज का अत्यन्त तीव्रता से विस्तार हुआ। बहुत शीघ्र ही भारत के बडे नगरो मे आर्यसमाजे स्थापित हो गई। स्वामी जी के निधन के पश्चात् प गुरुदत्त, लाला लाजपतराय, प लेखराम, स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हसराज, भाई परमानन्द, लाला हरदयाल प्रभृति महान् आर्य नेताओ ने इस सगठन को अपने-अपने ढग से सक्षम एव सशक्त नेतृत्व प्रदान किया और आर्यसमाज देश का एक प्रमुख क्रान्तिकारी विचारधारा वाला सबल सगठन बन गया और उसने सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, साहित्यक तथा राष्ट्रीय क्षेत्र मे आमूलचूल परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। इसके बाद भी स्वामी दर्शनानन्दजी, स्वामी ध्रुवानन्दजी, स्वामी स्वतत्रता नन्दजी, घनश्यामसिंहजी गुप्त आदि महानुभाव समय2 पर नेतृत्व प्रदान कर दिशानिर्देश करते रहे। तब तक आर्यसमाज की एक धाक थी, एक शान थी, एक आवाज थी, एक पहचान थी। जब कोई आर्यसमाजी किसी कोर्ट मे जाकर गवाही देता था तो उसकी गवाही सही, प्रामाणिक एव सत्य मानी जाती थी। आर्य समाज का अदना से अदना सभासद या कर्मचारी भी सिद्धान्त निष्ठ एव स्वाध्यायशील होता था। शास्त्रार्थो की धूम रहती थी। लोग आर्यसमाजियो के चरित्र, ईमानदारी देशभक्ति, सत्यनिष्ठा एव सिद्धान्त प्रियता का लोहा मानते थे। आर्यसमाज सघर्षो मे जीवित रहता था। सोना बनकर निकलता था।

परन्तु स्वाधीनता के कुछ वर्षों पश्चात ही धीरे - धीरे सगठनात्मक शिथिलता आने लगी। स्वाध्याय की प्रवृति कम होने लगी। सिद्धान्तनिष्ठा डगमगाने लगी। चनाव राजनिति एव हथकण्डो का आर्यसमाजो मे धडल्ले से प्रचलन होने लगा। पार्टी बाजी, गुटबन्दी की बीमारी फैलने लगी तथा कई आर्यसमाजो में पौराणिको, गैर आर्यसमाजी विचारधारा के लोगो का बोलबाला होने लगा। कई स्थानो पर स्वामी दयानन्द के अनुयायियो के स्थान पर स्वामी विवेकानन्द के भक्तो तथा अन्धविश्वासियो, मूर्तिपूजको यहा तक कि जैनियो का भी समाज के पदाधिकारियो, मे वर्चस्व होने लगा। नाम के आगे जातिसूचक कुछ नही लगाने अथवा आर्य लगाने के स्थान पर व गौरव से जाति सूचक जाति, उपजाति और गोत्र का प्रयोग करने लगे। ऋषि के भक्तो शुद्ध आर्यजनो की उपेक्षा होने लगी। उन्हे सदस्यता से भी हाथ धोना पड गया। कई आर्यसमाजो पर गैर आर्यसमाजियो का कब्जा हो गया। कई सम्पत्ति सम्बन्धी विवाद होने लग गए। कोई आर्यसमाज मे किरायेदार बन कर अथवा पुरोहित बन कर घुस गया और फिर धीरे धीरे मकानमालिक होकर बैठगया। कभी इस धडे का सहयोगी तो कभी उस धडे का सहयोगी बनकर आपस मे भिडाने और खुद लाभान्वित होते रहने का लुफ्त उठाते रहे।

आर्य समाजो का यह झगडा ऊपर के नेताओ मे भी पहुँच गया। जिला उपप्रतिनिधि सभाओ फिर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं में झगडे होने लग गये। एक दूसरे के विरुद्ध कोर्ट के दरवाजे खटखटाने लग गये। हाईकोर्टो मे मामले गये। रिसीवर नियुक्त हुए। आर्यमन्दिरो के ताले लग गये। सीले लग गई तथा दोनो ही पक्ष हाथ मलकर रह गये। यहाँ तक कि हमारी शिरोमणि सभा "सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा" भी इन झगडो से अछूती नही रह सकी। वहा भी गुट विशेष का आधिपत्य हो गया। और सविधान के नाम पर रातोरात प्रतिनिधि सभाओ के सगठन को भगकर अपनी पसद के या अपने चहेते पदाधिकारियो की तदर्थ समितिया नियुक्त कर दी गई। आर्यसमाज की प्रतिष्ठित सस्थायें गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय, अन्य बडे बडे गुरुकुल, कॉलिज और सस्थान भी इन विवादो के अखाडे बन गये। अपार धन और शक्ति का मुकदमो मे ही अपव्यय होने लगा। वेदो के प्रचार-प्रसार आर्यसमाज और ऋषि दयानन्द के मन्तव्यो के प्रचार प्रसार की अपेक्षा हम कोरे सस्थागत हो गये, चहार दिवारी मे बन्द हू गये। जिनके हाथ जो जहा जितना लगा बस उसी पर कुडली मार के बैठ गये और अपने तथाकथित विरोधियो को अनुशासन के नाम पर अथवा अपने अन्ध बहुमत के आधार पर अथवा खुशामदियों और चापलूसो की वाहवाही के चक्कर मे आकर अपनी ही दुनिया के हाल मे मस्त रह कर अनेक आर्य जनो को हमेशा के लिए आर्यसमाजो से दूर कर दिया। कई अलग होकर दो चार व्यक्तियो ने मिलकर ही नाम मात्र की समाजे प्रारम्भ कर दी।

यह एक कटु सत्य है। आज आर्यसमाज सस्थाओ और भवनो तक ही सीमित रह गई है। उन सस्थाओ मे भी कितना अन्दर ही अन्दर असतोष एव अनाचार है यह जानने वाले ही जानते हैं, या समझनेवाले ही समझते हैं। समाजे लकीर पिट रही है, जन साधारण से वे सर्वथा कट गई हैं। उनका प्रभाव आर्यजनो तथा आर्यसमाज के पदाधिकारियो पर नही रहा। किन्ही के व्यक्तिगत प्रभाव [अथवा आब दिखाई के कारण यत्र तत्र थोडा बहुत प्रभाव रह गया है। यह अत्यन्त भयावह एव घातक स्थिति है।

आज कई आर्यसमाज तो लावारिश हो गई है अथवा उनके भवनो को सम्भालनेवाला कोई नही है विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रो अथवा छोटे कस्बो मे तो वे खण्डहरो का रूप धारण कर रही है। कई स्थानो पर आर्य समाज मे मुकदमे चल रहे है। जो हमारे लिए चिन्ताजनक हैं,कुछ लोग आर्यसमाज के क्षेत्र मे प्रसिद्धि प्राप्त कर राजनीति मे चले जाते है और आर्य समाज को भुला देते हैं।

हम 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का लक्ष्य लेकर चले थे। आर्यसमाज के अथाह "साहस उत्साह को देखकर अमेरिका के पादरी ने जिस आन्दोलन को महान् अग्नि की भट्टी" कहा था। महान् जीवित और क्रांतिकारी आन्दोलन कहा था। आखिर उस भट्टी की आग ठण्डी कैसे पड गई। आजसमाज मे नाना प्रकार के अन्धविश्वासो पाखण्ड, तन्त्र-मन्त्र ढोंग अवतारवाद का बोलबाला है तथा सामाजिक कुरीतिया पहले से ज्यादा बढ गई है। सामाजिक, सास्कृतिक एव मानवीय मूल्यो का ह्रास तेजी से हो रहा है। राष्ट्रीय चरित्र एव नैतिकता मे गिरावट आ गई है स्वार्थ वाद, भ्रष्टाचार एव रिश्वतखोरी का बाजार गर्म है। देशभक्ति भूलादी गई है। ऐसे समय मे एक हा सगठन ऐसा है जो कुछ कर सकता है जो चाहे तो बहुत कुछ कर सकता है वह है ऋषि का प्यारा सगठन "आर्य समाज"। काश हम ऋषि के सपनो के आर्यजन बनकर आज पुन अपने वर्चस्व को प्राप्त कर सके।

जो बोले सो अभय—वैदिक धर्म की जय

—रामसिंह

नये समाज में आर्यसमाज की भूमिका

— डा स्वामी सत्यप्रकाशजी सरस्वती —

1883 में अजमेर मे मृत्यु हुई और 1401 में महर्षि दयानन्द के मिशन का कार्य देश से हजारो मील विषुवत रेखा के सुदूर दक्षिण मे आरम्भ हो गया। मृत्यु के 20–25 वर्ष के भीतर ही वेस्ट इंडीज से लेकर दक्षिण अफ्रिका तक मे आर्य-समाज की गतिविधिया प्रारम्भ हो गयी। फीजी गयाना और ट्रिनिडाड नेटाल में आर्यसमाज की स्थापना करने वाले वे दीन-हीन कुली थे (पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के) जिन्हे अग्रेज अपने उपनिवेशो मे खेतो में काम करने के लिए ले गये थे। इन कुलियो मे न तो ब्राह्मण थे न ही शिक्षित व्यक्ति। एक चौथाई तो जहाज पर ही ईसाई बन गये थे। शेष भी उपनिवेशो मे जाकर ईसाई बन जाते, यदि 'सत्यार्थप्रकाश' और संस्कारग्रन्थ वहा न पहुच पाते। एक मात्र संस्था आर्यसमाज है जिसने विषुवत रेखा के दक्षिण भाग के उपनिवेशो में हिन्दू कुलियो को ईसाई होने से बचाया। यह काम न तो विवेकानन्द मिशन कर सकता था और न कोई सनातन धर्म की सभा। इधर 20-25 वर्षों से अनेक हिन्दुत्व को कुछ संस्थाए और कुछ राजनैतिक पार्टिया इन देशो मे पहुच गई हैं हिन्दू विघटन का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। आर्यसमाज के प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न करदी है और हरि-जनो का पृथक संगठन बनाने का प्रयास किया है, अथवा एकमात्र आर्यसमाज ऐसी संस्था थी जिसने हिन्दी गुजराती सीखने के लिए विद्या-लय प्रारम्भ किये, जन्मना जातिवाद का बीज-वपन नही होने दिया, जिसने कन्याओ के लिए अध्ययन-अ-ध्यापन का सुयोग और सैकडो वर्षो से चली आने वाली रूढियो को दूर करने का छोटा सा प्रयास किया।

हिन्दू भावना विघटन की प्रतीक है। पूजा पद्धति और आस्थाओ की अनेकताओ के कारण हिन्दू विघटित है—हिन्दू न राष्ट्र का नाम है और न धर्म का और न संस्कृति का। संस्कृति संगठन-सूत्रक होती है। हिन्दू विकृतियो मे विश्वास करता है अतः हिन्दुत्व का आन्दोलन विघटन और विकृतियो का आन्दोलन है। वैदिक संस्कृति समानता और संगठन की संस्कृति है। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त संज्ञानम् सूक्त कहलाता है। समानो मत्र समितिः समानी समान मन सहचित्तमेषाम् न और समानी आकूति, समाना हृदयानि व।—ऐसे मंत्र समानता और संगठन के द्योतक हैं। समस्त हिन्दू सम्प्रदायो का इति-हास हमारे विघठन का इतिहास है और इसलिए हमारी आज मिलीजुली संस्कृति (कम्पोजिट कल्चर) है। हमे यह संस्कृतियो के मिलीजुली होने पर आपत्ति नही है। आपत्ति तो हमे उस संस्कृति पर है जो मनुष्य मे भेदभाव उत्पन्न करने वाली हो—गप्पो और गपोडो और अनैतिकताओ पर निर्भर करने वाली हो जो स्वर्ग-नरक के नये-नये द्वार खोलने वाली हो। इस-लिए हिन्दू सम्प्रदाय निष्प्राण ही नही देश और राष्ट्र के लिए घातक भी रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने सम्प्रदायवाद के इस नग्न रूप को 'सत्यार्थप्रकाश' के एकादश समुल्लास मे चित्रित किया है। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन मे 20–25 वर्षो के परिश्रम मे मन्दिरो, मठो और सम्प्रदायो की जो भ्रष्टाचार वाली स्थिति अपनी आखो से देखी थी उसकी आलोचना की। आर्यसमाज ने प्रयास किया कि भारतीय संस्कृति का यह भ्रष्ट रूप विदेशो मे न जावे, किंतु पिछले 25-30 वर्ष के हिन्दू आंदोलन ने आर्यसमाज के इस प्रयास को विफल कर डाला है। पिछले तीस चालीस वर्षो मे हमारे देश मे भी और इन देशो मे भी जहा भारतीय है हिन्दुओ की अवस्था बिगडी हैं, सुधरी नही। लगभग 900 नयी देवियाँ, नये भगवान या अवतारी पुरुष, नय-नये चमत्कारो द्वारा प्रलोभन दिलाने वाले आचार्य प्रवर्तित हो गये हैं, जिनके सामने पुराने आचार्य, अवतार, पीर पैगम्बर भी फीके पड गये हैं।

इन सब का प्रतिफल यह हुआ है कि भारतीयो के समाज मे अनैति-कता चरम सीमा तक पहुच गयी है। कीर्तन, रतजगे, नये रूप की पद-यात्राए और अन्धविश्वासो का नये रंग मे प्रस्तुत करने वाले नये नये पुर-श्चरण और पुरश्चरण हमारे लिए एक समस्या बन गये हैं। राजनैतिक जन-तन्त्रवाद मे निर्वाचन का प्रत्येक का प्रत्येक प्रत्याशी किसी न किसी ज्यो-तिषी, भविष्यवक्ता और तान्त्रिक के हाथो में नाच रहा है। ऐसी अवस्था मे आर्यसमाज भविष्य मे क्या भूमि-काए निभाएगा, यह हमारे सामने एक चुनौती है क्या शताब्दी समरोह के बाद हम सब मिलकर अपनी इन समस्याओ पर विचार करने का प्रयत्न कर सकेगे ?
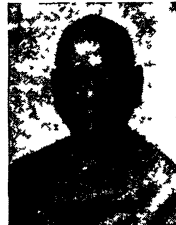
आर्यसमाज को अपने आंदोलन को भविष्य मे कल्याणकर बनाने के लिए कुछ प्रश्नो पर गम्भीरता से विचार करना पडेगा।

(1) द्वितीय युद्ध के बाद विज्ञान तकनीकी, उद्योग साधनो और सपर्क साधनो के कारण विश्व मे एक नये समाज का शनैः शनैः आविर्भाव हो रहा है इस प्रगतिशीलता मे आर्य-समाज कितना हाथ बटाने को तैयार है ?

(2) समस्त मानव को नैति-कता और आस्तिकता के एक मच पर खडा कर देने का जो स्तुत्य स्वप्न महर्षि ने देखा था क्या आर्यसमाज उस स्वप्न को सच्चा बनाने के लिए जागरूक और प्रयत्नशील है ? कही ऐसा तो नही कि कालान्तर मे आर्य समाज हिन्दुओ का एक सम्प्रदाय मात्र बन कर रह जायेगा ?

(3) हिन्दू बहुत दिनो तक तो धर्मान्तरण के (अथवा शुद्धि के) पक्ष मे गया, किन्तु अब वह मुसलमान और ईसाईयो को धर्मान्तरित करके फिर से हिन्दू बनाना चाहता है। क्या उससे आर्य समाज को संतोष होगा ? अर्थात् क्या अमूर्त्तिपूजक मुसलमान या ईसाई, जो ईसाई, जो धर्मपरि-वर्तन करके जन्मना जात-पात के झगडो से और प्रतिमा पूजन म मुक्त हो गया है और जिसने समाज मे प्रतिष्ठावान स्थान प्राप्त कर लिया था, फिर से हिंदू बनकर पूर्वावस्था म (पुरानी जात-पात मे) आ जाय, तो क्या इससे हमे प्रसन्नता होगी ? क्या समस्त हिंदू समाज उसे सम्मान का स्थान देगा ?

(4) आज का युवक स्वप्नहीन है और उच्छृंखल भी, सम्भवतया उसमे निराशा है भी। वह आर्य समाज से दूर हटता जा रहा है और साथ ही साथ वह देश के किसी अन्य क्रियात्मक कार्य मे साथ भी नही दे रहा। ऐसे युवक को उत्साहपूर्ण सफल पुरोगम देने मे क्या आर्यसमाज सफल होगा ?

(5) देश-विदेशो मे आर्य समाजो की स्थापना तो हुई, किंतु अभी तक आर्यसमाज न तो नीग्रो को अपनी ओर आकर्षित कर पाया और न गोरागो को और न पीत राष्ट्रो के व्यक्तियो को। ऐसा क्यो हुआ और इस दिशा मे आर्य समाज को अब क्या करना है ?

(6) देश मे लोकतान्त्रिक निर्वा-चन पद्धति असफल हो गयी है। इस असफलता का प्रभाव आर्य समाज की छोटी-बडी सभी संस्थाओ पर पडा है सत्ता, प्रभुता और वित्त, तीनो की आकाक्षाओ ने भारतीय समाज के साथ-साथ क्या आर्यसमाज को भी कलुषित नही कर दिया ? क्या आर्य समाज इस महत्वपूर्ण घटक पर विचार करने के लिए जागरूक है ?

(7) भारत की विचित्र राज-नैतिक और साम्प्रदायिक परिस्थितियो ने जो विकट समस्याऐ प्रस्तुत कर

(शेष पृष्ठ ४ पर)

पत्र बोलते हैं ...

लोग सचाई से डरते हैं

स्वामी सत्यप्रकाशजी के लेख की दोहरी प्रतिक्रिया पढ़ी।

'महापुरुषों पर कीचड़ न फेंकें' पढ़कर ऐसा लगा कि लोग सच्चाई से बड़े घबराते हैं।

—आर्या सत्यवति शर्मा
बुद्ध की हाट, भरतपुर

आप क्यों परेशान होते हैं ?

2 अगस्त के आर्यमित्र में आर्य समाज बरदहा बाजार बहराइच के सदस्य श्री रमेशचन्द्र गुप्त का सम्पादक के नाम पत्र पढ़ा। श्री गुप्त को इस बात का बड़ा दुख है कि 27 जून को दूरदर्शन में प्रदर्शित चित्रहार में 'परिवार' नामक फिल्म का ऐसा दृश्य दिखाया गया था, जिसमें एक हिन्दू देवमंदिर में मूर्ति के समक्ष एक अभिनेत्री प्रायः नग्न दशा में नृत्य करती है। मुझे आर्यसमाजी बंधु की इस मनःस्थिति को देख कर तो अवश्य दुख हुआ किन्तु वे व्यर्थ में ही इसको लेकर परेशान हो रहे हैं। जब बहुसंख्यक मूर्तिपूजकों को ऐसे दृश्य देखकर पीड़ा नहीं होती तो हम व्यर्थ में ही उसके लिए क्यों चिंता करें और प्रमुख बात तो यह कि देवमूर्तियों के आगे नग्न नृत्य दिखाने के लिए दूरदर्शन को हम क्यों निन्दा करें। क्या दक्षिण भारत के सबड़ो मन्दिरों में देव मूर्तियों के आगे वेश्या तुल्य देवदासियाँ शृंगारी हाव भाव दिखाकर अश्लील नृत्य नहीं करतीं। क्या बहुसंख्यक मूर्तिपूजकों ने कभी देवदासी प्रथा का भी विरोध किया है? क्या कर्नाटक में यलम्बा नामक देवी के मन्दिर के ग्रामीण बालाओं को देवदासी बना कर चिरकाल तक दुराचार पूर्ण व्यतीत करनेवाले धर्म व्यवसायियों के खिलाफ भी कभी मूर्तिपूजकों ने आवाज उठाई है। क्या ये लोग अपने को हिन्दू नहीं मानते?

और सच तो यह कि बहुसंख्यक हिन्दुओं की भावनाओं को चोट पहुंचाने की जो आशंका हमारे मित्र को है, तो मैं उन्हें बता दूं कि हिन्दुओं के बहुमान्य पौराणिक धर्म में तो नाचने गाने को धार्मिक स्वीकृति प्राप्त है। इनके स्वर्ग के राजा इन्द्र के दरबार में रम्भा, मेनका, उर्वशी आदि अप्सराएं नाचती और गाती हैं। इनके मान्य देवता शिव स्वयं ताण्डव नृत्य करते हैं। देवी पार्वती लास्य नृत्य करती है। महर्षि का सम्मान पानेवाले नारद मुनि भी नाचते और गाते हैं। अधिक क्या इसके धर्म में तो गंधर्व किन्नर, अप्सरा विद्याधर आदि नाचनेवालों की विभिन्न योनियां ही कल्पित की गई हैं। यहां तक कि इनके प्रमुख आराध्य विष्णु भी मोहिनी का रूप धारण कर नाचते हैं और असुरों को ही नहीं मुग्ध करते अपितु परम इन्द्रियजयी शंकर के मन में भी विकार उत्पन्न करते हैं। इसके मान्य देवताओं के राजा इन्द्र का आदेश पाकर अप्सराएं अपने अश्लील भाव भंगिमा युक्त नृत्यों से विश्वामित्र जैसे संयमी ऋषियों की तपस्या भंग कर देती हैं।

जिस धर्म के मान्य देवी देवताओं को ही जब नृत्य गीत आदि से परहेज न हो तो हमारे आर्य भ्राता दूरदर्शन पर दिखाये गये ऐसे दृश्य से क्यों व्यर्थ में परेशान होते हैं।

—डा. भवानीलाल भारतीय

हिन्दू कौन…

(शेष पृष्ठ 1 का)

हिन्दू हैं। जैन बौद्ध और सिख आदि जैन, बौद्ध और सिख आदि जो केवल सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू हैं अथवा केवल हिन्दू व्यक्तिगत कानून अर्थात् हिन्दू कोड बिल के अनुसार हिन्दू हैं। उन्हें न्यायालय ने हिन्दू धर्म को सम्प्रदाय नहीं माना है।

इसलिए यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि देहली न्यायालय ने हिन्दू के दो अर्थ स्वीकार करते हुए जैन बौद्ध और सिखों के विपरीत धार्मिक दृष्टि से केवल आर्य समाज को ही हिन्दू धर्म का एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय किस प्रकार घोषित किया है? जबकि आर्यसमाज के पक्ष में यह सिद्ध करने के कहीं अधिक सबल तर्क हैं कि सनातनी या पौराणिक हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय नहीं हो सकता जैसा हम पूर्व अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं।

नये समाज में...

(शेष पृष्ठ 3 का)

दी हैं क्या आर्यसमाज उनके प्रति तटस्थ और उदासीन रह कर सच्ची सेवा कर सकता है, अथवा उसे इस दिशा में उचित नेतृत्व भी देना है?

(8) पिछली शती आर्यसमाज के इतिहास का संस्था युग थी। क्या यह सच है कि ये संस्थायें हमारे लिए आज केवल समस्याएं हैं (एक प्रकार सिर-दर्द) गुरुकुल कालेज आश्रम, इत्यादि? क्या यह ठीक है कि वे संस्थाएं हमारे अधिकार और स्वत्व से बाहर निकल गयी हैं और इनसे आर्यसमाज के मिशन को कोई विशेष लाभ नहीं हो रहा? क्या इनके चलाने में हमारी शक्ति का अपव्यय नहीं हो रहा है? हमारे आपस के झगड़े तो इनके कारण नहीं बढ़ रहे? क्या इन्हें सरकार को सौंप देना चाहिए या इनका सार्वजनिक ट्रस्ट बना देना चाहिए?

(9) देश देशान्तरों में आर्यमिशन का कार्य सुचारु ढंग से बढ़ाने के लिए वैदिक मिशनरी तैयार करने के केन्द्र व्यवस्थित करने का कार्य क्या हमें हाथ में लेना होगा? देश के बाहर कार्य करने के लिए हमें धन, कार्यकर्त्ता और विशेष साहित्य की आवश्यकता होगी। इस काम को हम कैसे विस्तार दें, यह बात हमें सोचनी पड़ेगी।

बहुत सी कमजोरियां होते हुए भी आज आर्यसमाज देश की सबसे अधिक सुसंगठित संस्था है। आज करोड़ों रुपये की सम्पत्ति इसके पास है। कई हजार आर्यसमाज मंदिर हैं। अनेक शिक्षा संस्थाएं हैं। नियमपूर्वक प्रत्येक आर्यसमाज में एक ही प्रणाली के साप्ताहिक (रविवासरीय) सत्संग होते हैं, जहां एक सी संध्या, एक सा अग्निहोत्र, एक सी स्तुति-प्रार्थना होती है। (विदेशों में भी वे मंत्र पढ़े जाते हैं), एक ही पद्धति से विवाह संस्कार और मृतक संस्कार (और भी अन्य संस्कार) होते हैं। इतनी एकरूपता किसी भारतीय हिंदू सम्प्रदाय में नहीं है। हमारे यज्ञ और संस्कारों की सरल पद्धति पढ़े-लिखे साधारण हिंदू घरों में भी लोकप्रिय हो गयी है। हमारे पुरोहित समस्त वर्गों के व्यक्तियों में से हैं (हिंदू जातपात से रहित)। इन्हें हम पण्डित, पुरोहित या आचार्य कहते हैं इनमें अनेक अच्छे शिक्षित वेदज्ञ हैं। जब ये हिंदू घरों में संस्कार कराने जाते हैं तो इनसे कोई नहीं पूछता कि तुम जन्मना किस वर्ण के हो।

आर्यसमाज और राजनीति

— डा भवानीलाल भारतीय —

उपर्युक्त शीर्षक से श्री वीरेन्द्र जी के दो धारावाही सम्पादकीय लेख आर्य मर्यादा मे प्रकाशित हुए हैं। मैं श्री वीरेन्द्रजी के इस कथन से शत प्रतिशत सहमत हूँ कि हमारे ही कई शिरोमणि नेता राजनीति के प्रश्न पर एक साथ दो नावो की सवारी करने का दुस्साहस करते हैं। एक ओर वे हिन्दू हितो की बातें करते हैं हिन्दू धर्म, समाज और उसकी सस्कृति को हानी पहुँचाने वाली सरकारी नीतियों की यदा-कदा खुल कर आलोचना आर्य समाज और अन्य सार्वजनिक मचो से करते हैं जब कि दूसरी ओर काग्रेस के शासक नेताओं से दूध और मिश्री की तरह घुल मिल कर रहने की भी चेष्टा करते हैं। इसी तथ्य को ध्यान मे रख कर 19 जुलाई की आर्य मर्यादा मे जन सत्ता का एक उदारण दिया गया जिसमे कहा गया था कि एक पूर्व सांसद और इ का समर्थक आर्य समाजी नेता से प्रेस कान्फ्रेंस करवाकर हरियाणा के मुख्य मन्त्री श्री देवीलाल की आलोचना करवाई गई और कहा गया कि उनके सत्ता मैं आने से हरियाणा मे उग्रवाद पनपेगा।

मेरे विचार से दलगत राजनीति से पृथक रहने वाले आर्य समाज को देवीलाल, भजनलाल, बसीलाल के पारस्परिक झगडो से कोई मतलब ही नही होना चाहि। हमे तो यह देखना है कि जिस समय मे आर्य समाज के हित सुरक्षित रहे, वही हमारी प्रशसा का पात्र होगा। विगत में भी हमारे नेताओ ने ऐसी ही गलतिया की हैं। काश्मीर के मुख्यमन्त्री फारूक अब्दुल्ला के प्रथम कार्यकाल में हुए दगो में हिन्दुओ के जन-धन की पर्याप्त क्षति हुई। किंतु उस समय राज्यपाल की सस्तुति पर डा. फारूक की सरकार को बर्खास्त करने या न करने से आर्य समाज का क्या लेना देना था? फिर भी ऐसे बयान दिये गये और समाचार छपाये गये मानो हमारे नेताओ के परामर्श को मानकर ही उस समय फारूक को काश्मीर की गद्दी से हटाया गया। हमारे लिये यदि फारूक गलत है तो उनका स्थान लेने वाले गुलशाह कैसे अच्छे हो गये। अब तो गुलशाह ने सयुक्त मुस्लिम मोर्चे मे शरीक होकर मुस्लिम साम्प्रदायिकता को जैसा स्पष्ट समर्थन दिया है उससे क्या फारूक के उदार रवैये की प्रशसा नही करनी होगी? वस्तुत आर्य समाज के नेताओ को ऐसे मामलो मे पर्याप्त तटस्थता बरतनी होगी।

जो बात श्री देवीलाल और फारूक के बारे मे कही गई है, वही आन्ध्र के मुख्यमन्त्री श्री एन टी रामाराव के विषय मे भी कही जा सकती है। हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि हमारे कतिपय शिरोमणि नेताओं ने आंध्र की तेलुगु देशम सरकार की आलोचना की थी। जहा तक हमे ज्ञात है कि रामाराव ने जाने अनजाने भी आर्य समाज या हिन्दू जाति का कोई अनिष्ट नही किया, फिर हम आर्य समाज के मच से उसकी आलोचना कर क्या केवल केन्द्रीय शासको क प्रति ही अपनी आसक्ति को सिद्ध नही कर रहे हैं।

यहा एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए। केवल भारत के प्रधानमन्त्री से भेट करने, उन्हे पत्र लिखने अथवा उनसे आश्वासन प्राप्त कर ले लेने मात्र से ही आर्य समाज या बृहत्तर हिन्दू समाज की समस्याओ का समाधान नही हो जाता राजनीतिज्ञ और शासक सीमातीत रूप से चतुर, व्यवहार कुशल और लोकसग्रही होते हैं। वे सुनते सबकी हैं किन्तु करते अपने मन की हैं। अत कोई इस खुश फहमी मे क्यो रहे कि उसके सुझाव को मान कर ही प्रधानमन्त्री ने पहले डा फारूक को डिसमिस कर दिया था। ऐसा सोचने वाले क्या यह मानते हैं कि अब जो काश्मीर मे नेशनल कान्फ्रेंस और काग्रेस का गठ जोड बना है और दोनो मिल कर वहा शासन कर रही हैं, यह भी उनकी राय से हा हुआ है। इधर हमारे नेताओ का प्रतिनिधि मण्डल नवीन शिक्षा नीति में सस्कृत की स्थिति को लेकर मानव ससाधन मन्त्री श्री नरसिंह राव से मिला और उनकी चिकनी चुपडी बातो मे आकर यह मान बैठा कि नवोदय शिक्षा प्रणाली और दम योग दो की शिक्षा पद्धति मे सस्कृत को उसका प्राप्य मिलेगा और उसके विकास को हानि नही होगी। मत्रीजी के आश्वासन को मानकर सतुष्ट हो जाना दिवा स्वप्न देखना ही है। इसके सम्बन्ध मे शिक्षा शास्त्रियो का ही मत है प्रमाण है। वे ही हमे बतायगे कि नवीन शिक्षा प्रणाली मे सस्कृत को कोई महत्व नही दिया गया है। मन्त्री का तो काम ही आश्वासन देना होता है।

श्री वीरेन्द्रजी ने जुलाई 1986 मे आर्य समाज द्वारा पजाब की समस्या पर दिल्ली मे बुलाई गई दो दिवसीय बैठक का भी उल्लेख किया है जिसमे बडे जोश खरोश के साथ यह कहा गया था कि 15 अगस्त 1986 तक पजाब मे उग्रवाद के दमन के लिये सरकार ने कोई कारगर कदम नही उठाया तो आर्य समाजी १९३९ के हैदराबाद और १९४६ के सत्याग्रह प्रकाश आन्दोलन जैसी स्थिति की पुनरावृत्ति करेगे। ऐसा कहने वाले और ऐसे प्रस्ताव पास करने वाले वस्तु स्थिति से सवथा अपरिचित तथा स्वप्नलोक के वासी हो है। १९३९ और १९४३ का जमाना लद गया। उस समय आर्य समाज को महात्मा नारायण स्वामी स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, महाशय कृष्ण जी, तथा राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री जैसे निष्ठावान आर्य नेताओ का नेतृत्व प्राप्त था जो सर्वात्मना आर्य समाज के लिये ही समर्पित थे। उनकी निष्ठाये द्विधा विभक्त नही थी और न वे शासक या सत्ता चाकचुस हो थ। उन्होने यदि हैदराबाद के निजाम या सिंध के मुस्लिम लीगी मुख्य मंत्री सर गुलाम हुसैन हिदायतुल्ला को सरकार को चुनौती दी तो आर्य समाज के अपने दम खम पर ही दी थी। वे आज के उन नेताओ से कतई भिन्न कोटि के थ जो आर्य समाज के मच पर श्री अर्जुनसिंह जैसे सामान्य व्यक्ति आने पर अपनी तुरीयाश्रम मर्यादा को भी भूल व उनका स्वागत करने के लिये पलक पांवडे बिछा देते हैं।

आर्य नेताओ को जान लेना चाहिए कि अब १०३९ और १९४८ का जमाना लौटने वाला नही है। उसके बाद तो आजाद भारत मे न तो आपका गारक्षा आन्दोलन ही सफल हुआ और न पजाब का हिन्दी रक्षा आन्दालन।

पजाब समस्या तथा उग्रवाद का समाधान खोजने मे जब आज सर्व-समय सरकार और पुलिस तथा सुरक्षा सेनाय भी असफल हो रही हैं और अपने आपको असहाय और निरुपाय महसूस कर रही हैं तो भला आर्य समाज इसमे क्या कुछ कर लेगी? उसकी बिसात ही क्या। उग्रवाद के भय से आज पजाब मे तो आर्य समाज की सारी गतिविधि हो ठप्प हो गई है।

अपने कथन को समाप्त करने के पूर्व मध्य प्रदेश हिंदू सम्मेलन के ग्वालियर अधिवेशन मे दि 12 जुलाई को दिये गये एक आर्य नेता के अध्यक्षीय भाषण की ओर सकत करना चाहता हूँ। इस भाषण के दौरान यह कहा गया कि विरोधी दल साम्प्रदायिकता को बढावा द रहे

(शेष पृष्ठ 6 पर)

30 अगस्त, 1987

कुलपति महोदय-
गुरुकुल कांगडी विश्व
विद्यालय हरिद्वार

आर्य पुनर्गठन

डाक प स RJ/AJ-168

रोटी से बंधी आस्था

श्री ज्योतिमय के नाम व उनके लेखन से आप अपरिचित नही होगे। इनका नाम वर्षो से दिल्ली प्रस की पत्रिकाओ (सरिता मुक्ता आदि) मे इनके तथाकथित लेखन के कारण पौराणिक व आय मामाजिक क्षेत्र मे बडा विवाद रहा है।

अब गत कई महीनो से श्री ज्योतिर्मय समूह के लिए लिख रहे है और जा लिख रहे हैं उसमे व दिल्ली प्रस के उनके द्वारा लिखे गए लेखो मे व्यक्त विचारो मे परस्पर 3 और 6 का सम्ब ध है। हमारे निजी मन मे श्री ज्योतिमयजी के विचारो मे यह आश्चर्यजनक परिवतन उनका आकषण मान देय पर एक्सप्रस समूह से जुड जाना हा होगा।

श्री स्व रेन्द विशेष मवाद दाता दनिक हि द के विषय मे आपने वरिष्ठ पत्रकार श्री जमना दास अख्तर के स्तभ जमुना क किनारे से मे पढा ही होगा कि रेडडो जा ने किस प्रकार मि जिन्ना के निदशानुमार अपनी आस्था मुस्लिम लीग से जोड कश्मीर मे लीग का प्रापेगण्ड करने का दायि व ग्रहण कर लिया था।

आइए! अब आपको आर्य सम्माजिक क्षत्र के एक ऐसे धुर धर लेखक से मिलाए जो आर एस एस मे प्र रणा पाकर आर्य समाज का कायाकल्प करन के के लिए कमर कसे हुए है। ये महानुभाव सघ की कृपा दृ मे कई बार क्लेशा की मर का लु फ भी उठा आए है और परिपद सदस्यता भी प्रसाद के रूप मे एव एक बार प्राप्त कर चके हैं सम्पप्रति ये मघ म प्राप्त प्र णा को आर्यसमाज मे ट कन का जी तोड कोशिश कर रहे है।

वीरे द्र आर्य

आर्यसमाज और...

(शेष पृष्ठ 5 का)

हैं। बात बहुत कुछ सत्य है चन्द्र शेखर और बहुगुणा जसे व्यक्तियो ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता की ओर से सदा आ खें मूदे रखी तथा साम्प्रदा यिक वमनस्य के लिए सदा बहुमत को कोसा है। परन्तु मैं पूछना चाहता हू कि अल्पमतीय साम्प्रदायिकता को बढावा देन मे शासक दल ने ही कौन कसर रखी है फिर कवल विरोधी नेताओ को दोष देना बेकार है। 30 माच को बोट क्लब पर आयोजित रली में अब्दुला बुखारी और सैयद शहाबुद्दीन ने जिस प्रकार विषवमन किया उस पर क्या सरकार ने कोई कायवाही की ? अब शाही इमाम ने जामा मसजिद के दरवाजे बन्द कर दिये और अपने अनुयायियो म उत्त जन फलाने का प्रयास किया तो क्या दि ली प्रशासन ने बुखारी की मागा क आगे झुककर निरपराध पुलिस अधिकारियो के स्थाना तरण करन का आश्व सन उसे नही दिया? तो केवल वि रोधी दलो को ही साम्प्र दायिक तुष्टि करण के लिये दोष देना एकागी दृष्टिकोण है काग्र स तो 1916 की लखनऊ काग्र स मे ही प्रथम बार जो मुस्लिम साम्प्रदायिकता क आगे [illegible] ता वह आज तक चलती ह जा ह है। भविष्य मे कहा तक [illegible] उसे भगवान ही जान

इसी याख्य न म श्री देव लाल को दलगत र जनीति म ऊपर उठने का उपदश दिया गया है सच तो यह है कि हरियाणा का यह चुनाव श्री देवीलाल ने दलगत राजन ति ऊपर उठकर हा लडा था अ यथा उन्हे कभी अभूतपूव विजय मिलती ही नही जसी कि इस बार उन्हे मिली।

आय समाज क लिए सभी दल एक से ह है जब तक कि [illegible] उनके यवहार मे कोई विशिष्टता न दिखाई पडे। इसलिय एक को दूसर पर वरीय [illegible] का [illegible] प्रश्न [illegible] है सच तो यह है कि आय समाज का भला न तो शासक दल ही करेगा और न वि रोधी दल। उसे तो खद के बल बूते पर ही अपना प्रतिष्ठा का बरकरार रखना है।

उन्हें अपनी आंख का शहतीर नजर नही आता

ईरान के धार्मिक प्रमुख मिया आयतुल्ला खुमैनी ने मेरठ के दगो के लिए भारत सरकार की भर्त्सना करते हुए दगो मे मरे मुसलमानो के प्रति अपनी सहानु भूति प्रगट की है। यद्यपि उनका यह कृत्य हमारी सम्प्रभुता का सरासर उल्लघन है परन्तु इस तथ्य की हम उपेक्षा भी कर द तो भी इस्लामी तीर्थ मक्का मे सकडो निर्दोष मुस्लिमो को मौत की बलि चढाने वाले खुमनी को मेरठ के दगो मे मरे मुसलमानो के प्रति सहानुभूति दर्शाने का अधिकार प्राप्त नही हो जाता है।

आयतुल्ला खुमनी की अगु— वाई मे ईरान ईराक से गत सात वर्षों से युद्ध लड रहा है। ये दोनो देश ही मुस्लिम देश हैं। और इस युद्ध मे लाखो मुस्लिम अपने प्राणो को गवा चुके है।

गर मुस्लिम देशो के मुसलमानो के प्रति कथित सहानु भूति दिखानेवाला मे एक अकेला ईरान नही है। बल्कि ऐसा स्व भाव तो प्रत्येक मुस्लिम राष्ट्र का ही रहा है यहा तक का पाकिस्तान जसा देश जो पठान मुजाहीर व शिया सुन्नी के परस्पर खूनी जग का मैदान बना हुआ है मेरठ के दगो के लिए भारत सरकार की आलो चना करते वक्त किचित मात्र भी लज्जा अनुभव नही करता है।

—वीरेन्द्र आर्य

डा यादव दयानन्द शोधपीठ के अध्यक्ष नियुक्त

आयजगत के सुप्रसिद्ध वि द्वान एव लेखक श्री डा बाबू लालजी यादव एम ए पी एच डी डी लिट अध्यक्ष सस्कृत विभाग श्री वार्ष्णेय कालेज अलीगढ को दयान द वदिक शोधपीठ के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किया गया है।

डा यादव 1 अक्टूबर 1987 से अपना नया कायभार सभालेगे।

— प्रशासनिक अधिकारी

आर्यसमाज अजमेर में वेद प्रचार सप्ताह मनाया गया

आयसमाज अजमेर द्वारा श्रावणी के उपलक्ष मे आयोजन वेद प्रचार सप्ताह के अ तगत जन्माष्टमी पव तक (दि 9 8 87 ई से लेकर दि 16 8 87 तक) आयजगत के प्रख्यात विद्वान एव विज्ञान वेत्ता डा स्वामी स य प्रकाशजी सरस्वती की वेद कथा का आयोजन किया गया।

इस अवसर पर श्री राम च द्रजी एव श्री अनतरावजी के भक्तिपूण भजन भी हुए।

पं. मजुनाथ शास्त्री का निधन

अजमेर 18 अगस्त। डी ए वी उ मा विद्यालय के भूतपूव प्रधानाध्यापक प मजुनाथ शास्त्री का गत दिवस हैदराबाद मे निधन हो गया। स्व शास्त्री कसर से पीडित थे। उ होने उक्त विद्या लय मे बीस वष तक प्रधाना ध्यापक के पद पर काय किया था।

आयसमाज के प्रधान आचाय श्री दत्तात्र य आय मत्री एव प्रधानाचाय श्री रासासिह ने श्री शास्त्री के निधन पर शोक सव दना व्यक्त करते हुए उनके परि

पत्र भेजा।

श्री रतनलाल गग स आय प्रि टस अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिह न आयसमाज भवन केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द · 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष · 3 मंगलवार, 15 सितम्बर, 1987
अंक · 14 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु॥

भाद्रपद कृ 8 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

आर्यसमाज अजमेर का 106 वाँ वार्षिक अधिवेशन एवं निर्वाचन सम्पन्न

राजस्थान की सबसे प्राचीन व विशाल आर्यसमाज, अजमेर का का 106 वा अधिवेशन श्री दत्तात्रेय आर्य की अध्यक्षता मे रविवार दि 5-9-87 ई की प्रात काल सम्पन्न हुआ। गत अधिवेशन के मत्री श्री रासासिंह जी द्वारा विगत वर्ष का कार्य विवरण प्रस्तुत किया गया। इसके अन्तर्गत आर्य समाज शिक्षण सस्थाओं की प्रगति-धर्म शिक्षा की व्यवस्था एव प्रोत्साहन, आर्य साहित्य का प्रकाशन, आर्य पुनर्गठन का प्रकाशन, वैदिक सत्सग आश्रम पुष्कर, मुन्नालाल प्रचारिणी सभा, दयानन्द बाल सदन, आर्य अन्तर्जातीय विवाह, वेद प्रचार, विभिन्न उत्सवो एव पर्वों के आयोजन आदि के सम्बन्ध मे कार्य विवरण प्रस्तुत किया। वार्षिक कार्य विवरण के अन्तर्गत आर्य समाज के द्वारा सचालित आर्य समाज शिक्षा सभा, दयानन्द बाल-सदन, मुन्नालाल नागरी प्रचारिणी सभा, आर्य वस्तु भण्डार आदि की प्रगति से भी सदस्यो को अवगत कराया। आर्यसमाज के अन्तर्गत सचालित दयानन्द कॉलेज, डी ए वी स्कूल आदि विभिन्न 13 शिक्षण सस्थाओ का कुल वार्षिक व्यय 79 लाख रुपये, पढनेवाले छात्रो की सख्या 7 हजार तथा उनमे कार्य करनेवाले अध्यापको, प्राध्यापको एव कर्मचारियो की सख्या 380 रही। इस विगत वर्ष के आय व्यय एव आगामी वर्ष के लिए बजट को सर्व सम्मति से स्वीकार किया गया।

अन्त मे श्री दत्तात्रेय जी आर्य ने सभी सभासदो से भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग देते रहने का आह्वान किया। मत्री रासासिंह ने सभी महानुभावो के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त किया।

आगामी वर्ष के लिए निम्न प्रकार सर्वसम्मति से निर्वाचन हुए—

प्रधान आचार्य दत्तात्रेयजी आर्य, उपप्रधान—श्री ठा प्रेमसिंह जी, श्री कृष्णराव जी वाब्ले, मत्री—श्री रासासिंह जी, उपमत्री—आचार्य गोविन्दसिंहजी श्री शिवचन्द्रसिंहजी, श्री वेदरत्नजी आर्य, प्रचार-मत्री—श्री नवीनकुमार शर्मा, कोषाध्यक्ष—श्री किशनलाल शर्मा पुस्तकालयाध्यक्ष व आतरिक अकेक्षक—श्री पी एन. मेहरा।

प्रतिष्ठित सभासद—

श्री रामपालसिंह वर्मा, आचार्य विनयसिंह, श्री प्रो जी एल जोशी श्री कृष्णपालसिंह, प्रो देव शर्मा जी, प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य, श्री देवदत्त तनेजा, श्री किशनलाल आर्य।

वार्ड प्रतिनिधि—

प्रो सत्यपाल विलानिया, श्री लाखनचन्द शर्मा, श्री हरीशचन्द शर्मा, श्री लालकिशन वर्मा, श्री जगदीशप्रसाद भारद्वाज, श्रीमती मनोरमा चाँद, श्री लालचन्द आर्य।

न्यायोपसभा—

श्री ठा प्रेमसिंहजी, श्री कृष्णारावजी वाब्ले, श्री प्रो जी एल जोशी।

—रासासिंह (मत्री)

रासासिंह श्रेष्ठ अध्यापक के रूप में सम्मानित

स्थानीय डी ए वी उच्च मा. विद्यालय, अजमेर के प्रधानाचार्य श्री रासासिंह को अभिभावक सघ राजस्थान (पेरेंटस एसोसिएशन ऑफ राजस्थान) द्वारा श्रेष्ठ अध्यापक चयन समिति की अभिशसानुसार सत्र 1986 87 मे उत्तम शिक्षण कार्य के लिए श्रेष्ठ अध्यापक के रूप मे विभूषित कर शिक्षक दिवस पर सम्मानित किया गया।

श्री रासासिंह को विगत् दिनो विद्यालय की प्रशसनीय उपलब्धियों के लिए महावीर इंटरनेशनल की ओर से भी शाल ओढ़ाकर अभिनन्दित किया गया।

अमर स्वामी दिवंगत

आर्यजगत के मूर्धन्य विद्वान्, शास्त्रार्थ महारथी महात्मा अमर स्वामी जी महाराज का 4 सित को गाजियाबाद मे देहावसान हो गया। वे गत काफी समय से गले के कैंसर से पीडित थे।

उल्लेखनीय है कि स्वामी जी महाराज रोग शय्या पर पड़े हुए भी 'निर्णय के तट पर' नामक शास्त्रार्थ सग्रह के सपादन व प्रकाशन मे लगे हुए थे।

आर्यसमाज के प्राण, ऋषिवर के सच्चे सेनानी, पौराणिक व विधर्मियो को शास्त्रार्थ समर मे पराजित करनेवाले महात्मा अमर स्वामी जी का निधन आर्य जगत् को अपूरणीय क्षति है।

महात्माजी को 'आर्य पुनर्गठन' परिवार की विनम्र श्रद्धाजली सादर समर्पित है।

—सपादक

निदेशक : दत्तात्रेयआर्य प्रधान संपादक : रासासिंह संपादक :वीरेन्द्र कुमार आर्य फोन कार्या : 21010

सम्पादकीय —

घेराव जोशी का नहीं, शंकराचार्य का करिए

"पीठ शंकराचार्य" के पद-त्याग को लेकर कांची पीठ के पूर्व शंकराचार्य स्वामी जयेन्द्र सरस्वती गत एक माह से विवाद का केन्द्र बने हुए हैं ।

इस संदर्भ मे जहाँ एक ओर स्वामी जयेन्द्र सरस्वती का कहना है कि उन्होने पद-त्याग अपनी इच्छा से किया है, वही दूसरी ओर पुरी के शंकराचार्य स्वामी निरंजन देवजी का कहना है कि उन्होंने स्वयं पद नही छोड़ा अपितु उन्हे बलात् निकाला गया है । क्यो निकाला गया ? इस पर उनका कहना है कि स्वामी जयेन्द्र सरस्वती सती-प्रथा के और हरिजनो के मंदिर प्रवेश के पक्षधर हैं और उनके यह विचार पौराणिक धर्म के विरुद्ध हैं ।

उपर्युक्त संदर्भ मे हमारा कहना है कि यदि स्वामी जयेन्द्र सरस्वती को अपने उक्त विचारो के कारण पद-त्याग के लिए बाध्य होना पड़ा, तो वे बधाई के पात्र हैं । इसके साथ ही देवराला के रूप कंवर सती काण्ड को लेकर राजस्थान के मुख्यमन्त्री जोशी का घेराव करनेवाली महिलाओ को हमारा सुझाव है कि वन्हे घेराव बेचारे जोशी का नही वास्तविक अपराधी पुरी के शंकराचार्य का करना चाहिए और प्रबुद्ध जनो को चाहिए कि अपने तुच्छ राजनैतिक स्वार्थों के लिए सतीप्रथा जैसी कुरीति को प्रोत्साहन देने वाली भारतीय जनता पार्टी का बहिष्कार करें ।

रूपकंवर सतीकांड राजस्थान के आर्यसमाजियो के लिए भी लज्जा का विषय है । और उनकी अकमण्यता का परिचायक है ।

आर्यसमाज और हिन्दी

किसी भी देश की अखण्डता व प्रगति के लिए किसी भी एक सम्पर्क भाषा का होना आवश्यक है महर्षि दयानन्द इस तथ्य को समझते थे ।

उनकी मातृभाषा गुजराती थी । लेकिन उन्होने हिन्दी को अपनाया, क्योकि एक मात्र हिन्दी ही समस्त देश मे सम्पर्क भाषा का काय कर सकती है ।

स्वामी जी की मृत्यु के के पश्चात आर्यसमाज हिन्दी के प्रसार प्रचार मे, अग्रणी रहा । यहा तक कि पजाब मे उसे अपने हिन्दी प्रचार के कारण अकालियो का कोप भाजन भी बनना पड़ा ।

भारतवर्ष की एकता हिन्दी से ही सम्भव हैं , यदि इस सत्य को दयानन्द की तरह स्वतन्त्र भारत के प्रशासक भी समझ जाते तो आज देश टूटने की परिस्थितियों मे न होता ।

—वीरेन्द्र आर्य

(शेष पृष्ठ 5 का)

यह गिरोह खालसा परम्पराओ का कड़ाई से पालन करने वाला गुरुद्वारो का दुरुपयोग को बुरा समझने वाला और दर्शनसिंह रागी द्वारा स्वर्ण मन्दिर में छिपे लोगों को बाहर निकालें जाने की कमजोर कोशिशो का समर्थक और निर्दोष स्त्री-पुरुषो को अधाधुंध हत्या करने के बजाय अपनी हिट लिस्ट के अनुसार खास-खास लोगो को निशाना बनाने पर चलता है । इस लिस्ट मे पाच जनरल और दो कर्नल हैं । इनमें राजनितिज्ञ और पत्रकार हैं । हिन्द समाचार समय के विजय कुमार चोपड़ा का नाम सबसे ऊपर है और मेरे जैसे लोग भी हैं । रिबेरो के अनुमान के अनुसार बब्बरो की सख्या 30 से 100 के बीच है ।

इन गिरोहो को हथियारो की पूर्ति मुख्यत पाकिस्तान से होती है । अब खालिस्तानियो को हथियारो का मूल्य चुकाना पड़ता है । खालिस्तानी बैंको म डकैती डालकर ये धन इकट्ठा करते हैं । आतकवादियों में पाकिस्तानी जेलों मे प्रशिक्षण दिया जाता रहा है ।

आतकवादियो मे अधिकाश किसान परिवारो के हैं और उनमें कुछ स्नातक हैं । अधिकाश मैट्रिक हैं । दजन से अधिक महिलाए हैं जिन्होने आतकवादियों को या तो शरण दी है या उनके लिए कार्य किया ।

आतकवादी देश के गुरुद्वारो का उपयोग अपने इस कार्य के लिए लगातार कर रहे हैं । स्वर्ण मन्दिरभी इससे अछूता नही है ।

राष्ट्रवादी युवा मुस्लिम नेता : एम.ए. नकवी

एम ए नकवी, अध्यक्ष इडियन मुस्लिम यूथ कान्फ्रेंस अपने राष्ट्रवादी विचारो के कारण गत कई वर्षों से जहा मुस्लिम कट्टरपथियो के रोष के पात्र रहे हैं, वही दूसरी ओर उन्हे राष्ट्र के सभी देश भक्त नागरिको से भारी सम्मान भी प्राप्त हुआ है । मेरठ व दिल्ली के दगो पर भी उनके विचार पक्षपात रहित और सत्यता से ओत-प्रोत हैं । हाल ही मे 'धर्मयुग' को दिए उनके साक्षात्कार का अवलोकन कीजिए .—

★ क्या कारण है कि आजादी के 40 साल बाद भी सांप्रदायिकता का जहर बढ़ता ही जा रहा है ?

❋ इसका श्रेय हमारे राजनीतिज्ञो को जाता है, जिन्होने वोटो के लालच मे साम्प्रदायिक तत्वो, विशेषकर मुस्लिम समुदाय की कट्टरपथी ताकतो को प्रोत्साहन और राजनीतिक सरक्षण दिया है, आज तो आप देखिए, राजनैतिक दलो मे कट्टरपथी मुस्लिम नेतृत्व पैदा करने को जैसे होड लगी है सैयद शहाबुद्दीन (जनता पार्टी), जेड आर अंसारी, तारिक अनवर (कांग्रेस-इ), आजम खा (लोकदल-ब), रशीद मसूद (लोकदल-अ) ।

★ क्या आप मानते हैं कि आजादी के बाद मुस्लिम समुदाय सरकार के पक्षपातपूर्ण रवैये का शिकार हुआ है ?

❋ नहीं मैं ऐसा नही मानता, हिन्दुस्तान में आजादी के बाद इस्लाम जितनी तेजी से पनपा है और उसे सुरक्षा मिली है, वैसा तो पाकिस्तान तथा अरब देशो मे भी नही हुआ है ।

★ तो फिर क्या कारण है कि मुस्लिम समुदाय ने नरमपथियों और सुधारवादियो की अपेक्षा कट्टरपथी साम्प्रदायिक नेतृत्व को जल्दी मान्यता और समर्थन दिया है ?

❋ मोहम्मद अली जिन्ना ने जिस तरह अपनी शर्तों पर पाकिस्तान लिया, उससे मुस्लिम समुदाय मे यह भ्रांति पैदा हो गयी कि कट्टरपथी नेतृत्व हो उनके हितो की रक्षा कर सकता है, मांगें पूरी करा सकता है ।

★ मेरठ दगो मे पुलिस - पी ए सी पर साम्प्रदायिक होने का आरोप दोहराया गया है ?

❋ देखिए, ये सब सुरक्षाबलो का मनोबल गिराने की साजिश है, आप पुलिस-पी ए सी को जालिम तो कह सकते हैं, पर साम्प्रदायिक नही छात्रो, अध्यापको, वकीलो या दूसरे कर्मचारियो को हड़ताल के दौरान पी ए सी. का जो रवैया रहता है, वही दगो के दौरान भी रहता है वह हमलावर पर हमले का काम करती है ईट का जवाब डडे से देती है बम का गोली से । लेकिन यह भी गलत है । लोग अपनी साम्प्रदायिकता छुपाने के लिये जिम्मेदारी पुलिस पी.ए सी. पर थोप देना चाहते हैं ।

★ साम्प्रदायिकता से निबटने के लिए क्या किया जाना चाहिए ?

❋ राजनीतिक दल वोटो की राजनीति से बाज आये, सरकार सम्प्रदाय विशेष के तुष्टिकरण की नीति छोड़े, राष्ट्र की मुख्य-धारा से जुडी सोचवाली प्रगतिशील ताकतों को प्रोत्साहन दे और जनसाधारण मे इन सांप्रदायिक, कट्टरपथी ताकतों को बेनकाब किया जाये बाकी इनसे निबटने का कार्य जनता खुद कर लेगी ।

सत्यता, सत्साहस और स्पष्टवादिता जैसे सद्गुणो से अलकृत श्री नकवी को हमारी हार्दिक बधाई ।

—वीरेन्द्र आर्य

खालिस्तानी आतकवादियो का शिकार होनेवालो में भी परिवर्तन हुआ है । पहले अधिकतर हिन्दू होते थे, पिछले छः माह से ज्यादातर सिख रहे हैं ।

पुलिस कमिश्नर जुलियस रिबेरो और राज्यपाल सिद्धार्थ शंकर दोनो ने आतकवाद को समाप्त करने की दिशा में अपनी परिपक्वता का परिचय दिया ।

वे कहते हैं कि जिस दिन वे और उनकी पत्नी अगरक्षकों के बिना निर्भय होकर स्वर्ण मन्दिर जा सकेंगे तब ही वे मान सकते हैं कि पजाब अपनी पहले जैसी स्थिति में आ गया है ।

हिन्दू और आर्य में अंतर

मांगे राम आर्य, प्रधान, आर्य समाज, अहमद नगर (महाराष्ट्र)

"आर्य' हिन्दू नही हो सकता क्योकि आर्य शब्द की परिभाषा महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी महाराज ने अपनी कृति आर्योद्देश्य-रत्नमाला क.स 4) मे इस प्रकार लिखी है —आर्य जो श्रेष्ठ स्वभाव धर्मात्मा, परोपकारी सत्यविद्यागुण-युक्त और आर्यावर्त्त देश मे सब दिन से रहने वाले हैं, उनको "आर्य" कहते हैं। इसी प्रकार क स, 42 में दस्यु (अनार्य) अर्थात् अनाडी, आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक डाकू चोर, हिंसक जो कि दुष्ट मनुष्य हैं, वह दस्यु कहाता है। जैसे "आर्य' श्रेष्ठ और "दस्यु" दुष्ट मनुष्य को कहते हैं वैसे ही मैं भी मानता हूँ। (स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश क स 29)।

"हिन्दू" शब्द हमारी सस्कृति का नही है। यह विदेशी भाषा अरबी तथा फारसी का है, जिसके अर्थ काला। काफिर और चोरादि होते है, जो दस्यु अनार्य शब्द का पर्याय-वाची है, "आर्य शब्द का ही नहीं। इसलिए "आय" हिन्दू नही हो सकता। और आगे देखिये महर्षि दयानन्दजी महाराज क्या कहते हैं — आर्यो ब्राह्मणकुमार्यो । पाणिनि सूत्रम्। राजा भागीरथ के समय ब्रह्म-चारी और ब्राह्मण का नाम "आर्य" था ऐसी व्यवस्था होते हुए हमारे देश का नाम, आर्य स्थान "आर्यखण्ड' होना चाहिए सो उसे छोड न जाने "हिन्दुस्तान" यह नाम कहा से नि-कला? भाई लोगो सुनो! हिन्दू शब्द का अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि और स्थान कहने से काले, काफिर, चोर लोगो की जगह अथवा देश, ऐसा अर्थ होता है, तो भाई इस प्रकार का बुरा नाम क्यो ग्रहण करते हो? और अर्थात् आर्यश्रेष्ठ अथवा अभिज्ञात इत्यादि और अर्वतक कहने से ऐसो का देश अर्थ आर्यावर्त्त का अर्थ श्रेष्ठो का देश, ऐसा होता है। सो भाई ऐसे श्रेष्ठ नाम को तुम क्यो स्वीकार नही करते? क्या तुम अपना मूल का नाम भी भूल गये हो! हम लोगो की यह स्थिति देखकर किसके हृदय को क्लेश न होगा, सब को ही होगा। अस्तु सज्जन जन! अब हिन्दू इस नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यावर्त्त इन नामो का अभिमान धरो। गुण भ्रष्ट हम लोग हुए तो हुए परन्तु नाम भ्रष्ट तो हमे न होना चाहिए। ऐसी आप सबो से मेरी प्रार्थना है। ओ३म् शान्ति। शान्तिः। शान्तिः।

(उपदेश मजरी व्याख्यान न 8- स्वामी दयानन्द सरस्वती)

इस उपरलिखित व्याख्यान से महर्षि के दुःख का पता चलता है। इस पर भी जो आर्य समाजी सज्जन अपने लेखो मे "आर्य" (हिन्दू) लिखते हैं और आर्य व आर्यत्व को छोडकर हिन्दू तथा हिन्दुत्व का दम भरते हैं, वह महर्षि की प्रार्थना व मान्यता के विरुद्ध बर्तते हैं। ऋषि सिद्धातो को छोडकर ऐसा जो अपने निज विचारो से कर रहे हैं वह गहरी भूल पर हैं। कोष्ठ मे हमेशा पर्यायवाची शब्द लिखा जाता है। हिन्दू शब्द का एक मात्र समाना-र्थक शब्द दस्यु (अनार्य) है जिस को आप हिन्दू (अनार्य) या दस्यु (हिन्दू) लिख सकते हैं। क्या आप आर्य (अनार्य) और (दस्यु) लिख सकते हैं? कदापि नही। इस प्रकार लिखना अनुचित है, क्याकि इन दोनो शब्दो के अर्थ भिन्न-भिन्न सो आर्य (हिन्दू) लिखना सार्थक नही भ्रम मूलक है और त्यागने योग्य है। इसलिए मेरा सभी आर्यसमाजी विद्वानों, लेखकों और पत्रकारो से नम्र निवेदन है कि वह देव दयानन्द के सिद्धातो को दृढतापूर्वक अपनायें और अपने लेखो और उपदेशो मे हिन्दू शब्द का खण्डन और आर्य शब्द का मण्डन इसे सर्वत्र क्रिया मे लायें, जिससे वैदिक सस्कृति की रक्षा होवे। परमेश्वर आर्यो को आर्यत्व ग्रहण करने और हिन्दुत्व को छोडने की शक्ति और सदबुद्धि प्र-दान करे जिससे वह अपने धर्म, सस्कृति और सभ्यता का प्रचार प्रसार करने मे सफल होवे। आर्य नेता असत्य को छोडकर सत्य को धारण करें, यही वेद का सदेश है और गुरु दयानन्द का उपदेश है।

ओ३म् शम्।

'वैदिक धर्म्म'

— श्री हरिशंकरजी शर्मा की लिए —

'वैदिक धर्म्म विश्व व्यापी है, क्यो सकीर्ण बनाएँ हम,
कल्याणी वाणी ऋषियो की, सबको क्यो न सुनाएँ हम।
वैदिक धर्म्म प्रेम का प्रेरक, वैर-वृक्ष का नाशक है,
मानव-धर्म्म-दिवाकर है वह, उज्जवल ज्ञान-प्रकाशक है।

विश्व बन्धुता भर हृदयो मे सदाचार की ओर बढे
'मानवता' के उच्च शिखर पर, सुदृढ धारणा धार चढे।
जो चरित्र की कडी कसौटी पर, पहले कस जाते है,
वही वीरवर भ्रान्तजनो को, शुभ सन्मार्ग सुझाते हैं।

'ब्राह्मण' ज्ञानी उठे, देश का मोह-तिमिर, अज्ञान हरें,
'क्षत्रिय अत्याचार मिटाकर, सत्याचार प्रचार करे।
'वैश्य' अभाव दूर कर सबका, जीवन वस्तु प्रदान करे,
'शूद्र' लोक की सच्ची सेवा करने मे अभिमान करे।

कर्म्म-योग मे हँस-हँस सकट सहना 'तप' कहलाता है,
तजना पडे धर्म्म-हित जो कुछ, वही 'त्याग' पद पाता है।
'त्याग तपस्या' रुष्ट हो गये, आओ इन्हे मनाएँ फिर,
'त्यागी' और तपस्वी' बनकर, एक बार दिखलाएँ फिर।

शुभ सकल्प युक्त सब मन हो, तन परिपुष्ट अरोगी हो,
धन का स्रोत धर्म्म-ध्रुवता हो जन न विलासी भोगी हो।
स्वार्थवाद का भूत भयकर, कभी न विश्व विघातक हो,
दानवता का दम्भ न मौलिक मानवता का पातक हो।

ऋषि-शोणित से सिंचित होकर जो फुलवारी फूल रही,
वैदिक वायु विकम्पित देखो, झुक झूमर-सी झूल रही।
जिसकी सुखद सुगन्ध विश्व को, बना रही है मस्ताना
मिटने कभी न देना उसको, चाहे तुम खुद मिट जाना।

समाजों पर अनधिकृत कब्जों की सूचना दें

देश की अनेक समाजो पर अनार्यो व असामाजिक तत्वो ने अनधिकृत रूप से कब्जे किए हुए हैं। आर्य समाज अजमेर ऐसी समाजो की जानकारी प्राप्त करना चाहता है।

आर्य सज्जनो से निवेदन है कि उक्त समाजो की सूचना विवरण सहित हमे भेजने का कष्ट करें।

—मत्री

राजस्थान प्रतिनिधि सभा का इतिहास

राजस्थान के आर्य जनो को यह जानकर हर्ष होगा कि हमारे प्रात की आर्य प्रतिनिधि सभा अपने जीवन के 100 वर्ष पूर्णकर द्वितीय शताब्दी मे प्रविष्ट हो रही है। इस उपलक्ष मे सभा का शतवर्षीय इतिहास लिख कर प्रकाशित किया जायेगा। इतिहास लेखन के लिए जो समिति हमारी सभा ने गठित की है उसका सयोजक मुझे नियुक्त किया गया है। अत आपसे प्रार्थना है कि राजस्थान की आर्य समाज के अधिकारीगण अपनी आर्यसमाजो की पुरानी वार्षिक रिपोर्ट तथा अन्य आवश्यक जानकारी अविलम्ब मुझे भेजें।

—भवानीलाल भारतीय

बी-3, पजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ—160014

वेद प्रचार समारोह

आर्यसमाज उदयपुर में दिनाक 19 से 23 अगस्त तक वेद प्रचार समारोह मनाये गये, जिसमें आर्यजगत के सुप्रसिद्ध चितक प्रवक्ता श्री महात्मा आर्य भिक्षु जी ज्वालापुर (हरिद्वार) के प्रवचन एव श्री विजय सिहजी 'विजय' इन्दौर के मधुर भजनोपदेश हुए।

इसी अवसर पर श्रीमती मालती जी अग्रवाल उपप्रधाना के प्रयत्न से महीला आर्यसमाज की स्थापना भी की गई।

आर्यसमाज शाहपुरा द्वारा वद प्रचार सप्ताह मनाया गया।

—मत्री

पंचम् श्री घूडमल आर्य पुरस्कार स्वामी विद्यानन्द सरस्वतीजी को

हिण्डौन सिटी। स्थानीय नगर आर्यसमाज हॉल में 9 अगस्त से 16 अगस्त रक्षाबन्धन से श्री कृष्ण जन्माष्टमी तक वेद प्रचार सप्ताह के अन्तर्गत यजुर्वेद यज्ञ पारायण का सफल आयोजन स्वामी ओमानन्द जी महाराज के आचार्यत्व मे उत्साहपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर श्री सत्यपाल सरल के भजनोपदेश तथा प्रसिद्ध अनुसधानकर्ता विद्वान प्रो. राजेन्द्र जिज्ञासु के प्रवचन हुये।

श्री कृष्ण जन्माष्टमी के पावन पर्व पर श्री प्रहलाद कुमार आर्य द्वारा अपने पूज्य पिताजी की स्मृति मे स्थापित श्री घूडमल आर्य पुरस्कार आर्यजगत के ख्याति प्राप्त विद्वान् सन्यासी स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती को उनकी पुस्तक "वेदमीमासा" पर स-सम्मान, समारोहपूर्वक विशाल उपस्थिति मे दिया गया। सम्मान-स्वरूप उन्हे अभिनन्दन पत्र, एक शाल एव 150 रु. की राशि समर्पित को गई। समारोह का सफल सचालन डा ओमप्रकाश वेदालकार एम ए पी एच डी ने किया। —सचिव

विद्यालय भवन का शिलान्यास

डी ए वी शताब्दी पब्लिक स्कूल, जयपुर के विद्यालय भवन का 19 सितम्बर को साय 4 बजे वैशाली स्कीम के पास, छावनी मे श्री बी डी बाली के कर-कमलो द्वारा शिला-न्यास होगा।

—प्रधानाचार्य

वेद प्रचार सप्ताह मनाया

आर्यसमाज, सुमेरपुर (पाली) द्वारा 17 अगस्त से 24 अगस्त तक वेद प्रचार सप्ताह मनाया गया।

आर्य वीर दल का उद्घाटन

13 सितम्बर को आर्यवीर दल, केकडी का उद्घाटन श्री सत्यवीर शास्त्री, प्रान्तीय सचालक, आर्यवीर दल, राजस्थान के कर-कमलो द्वारा सम्पन्न हुआ।

—अशोक आर्य

वार्षिकोत्सव

आर्यसमाज बारा जिला-कोटा (राज) का 56 वां वार्षिकोत्सव दिनांक 8 अक्टूबर से 11 अक्टूबर तक आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर सक्षिप्त "यजुर्वेद पारायण यज्ञ", का भी आयोजन है।

उत्सव मे स्वामी सत्यानन्द जी, गुरुकुल झज्जर स्वामी चन्द्रदेव वैदिक, हरिद्वार, श्री नरदेव जी भजनोपदेशक, भरतपुर व श्री दिनेश दत्तजी आर्य आदि आदि विद्वान महानुभाव पधार रहे हैं।

—रामकरण गुप्ता

—मत्री

आर्यसमाज सुमेरपुर का निर्वाचन

प्रधान—श्री भवरलालजी गोयल मत्री—श्री गणेश विश्वकर्मा

प्रचार मत्री—श्री श्रद्धानद शास्त्री कोषाध्यक्ष—श्री कन्हैयालाल

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल हैं ।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द · 162

सृष्टि सम्वत् : 1972949087

। ओ३म् ।

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म ।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है ।

वर्ष . 3 बुधवार, 30 सितम्बर, 1987
अंक · 15 पं स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभय दिवा नः सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

अश्विन कृ. 8 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

सार्वदेशिक सभा का महत्वपूर्ण निर्णय

आर्यसमाज में पौराणिक घुसपैठियों पर प्रतिबन्ध

आर्यसमाज की शिरोमणि सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सम्मुख गत पाच वर्षों से आर्य समाज की वर्तमान स्थिति तथा भविष्य के सम्बध में सभा द्वारा आचार्य दत्तात्रेय आर्य के सयोजन मे नियुक्त उपसमिति की रिपोर्ट विचाराधीन थी । इस बार 18 व 19 सितम्बर को केवल इसी की सिफारिशो पर विचार करने के लिए सभा के प्रधान स्वामी आनदबोध जी ने अतरग के सदस्यो तथा कुछ प्रमुख आर्य बुद्धिजीवियो की एक विशेष बैठक आमत्रित की । और दोनो दिन रिपोर्ट के प्रत्येक बिन्दु पर विस्तार से विचार-विनिमय किया गया । जिसकी विस्तृत जानकारी हम 'आर्य पुनर्गठन के आगामी अक मे देंगे ।

20 सितम्बर को अतरग मे औपचारिक रूप से यह विषय पुन प्रस्तुत किया गया । जिसमे अन्य बिन्दुओ पर अनेक निर्णयात्मक निश्चय किए गए किन्तु उनमे सबसे एक उल्लेखनीय निर्णय यह था कि भविष्य मे ऐसा कोई व्यक्ति आर्य-सभासद् या अधिकारी नही बन सकेगा जो ईश्वर के स्थान मे जड या किसी व्यक्ति विशेष की आराधना करता है मृतक श्राद्ध करता हो, स्थान विशेष को तीर्थ मानकर यात्रा करता हो या जन्मजात जात-पात और छुआछूत मे विश्वास अथवा व्यवहार मे उनपर आचरण करता हो तथा अन्य किसी अवैदिक कार्य मे लिप्त हो ।

कई वर्षों से अनेक आर्य पुरुषो द्वारा ऐसी शिकायतें प्राप्त होती रही हैं कि अनेक स्थानो पर आर्य समाज और उसकी शिक्षण सस्थाओ पर ऐसे व्यक्तियो का नियत्रण व अधिकार बढ रहा है, जिनका आर्यसमाज के मौलिक सिद्धातो पर पर विश्वास नही है और जो मूर्ति-पूजा, मृतक श्राद्ध व तीर्थ जैसे अवैदिक और आर्यसमाज व ऋषि दयानद के सिद्धातो के विपरीत कार्य करते रहे हैं ।

सभा मे यह भी निश्चिय किया गया कि भविष्य मे आर्यसमाज का सदस्य बनने के लिए जो प्रार्थना-पत्र दिया जायेगा उसमे सदस्यता के इच्छुक व्यक्ति के लिए उपर्युक्त आशय की घोषणा करना अनिवार्य होगा ।

उपसमिति की अन्य अनेक सिफारिशो को भी सैद्धातिक रूप से स्वीकार कर लिया गया है । जिसका विवेचन हम आगामी अक मे प्रस्तुत करेंगे ।

भूल-सुधार

'आर्य पुनर्गठन' के 15 सितम्बर के अक मे पृष्ठ 2 सपादकीय' की 9 वी पक्ति मे प्रेस व सपादकीय विभाग की मिली-जुली असावधानी से 'सती-प्रथा' के पश्चात् विरुद्ध शब्द छपने से रह गया । कृपया पाठक सुधार लें ।

—सपादक

पंजाब में हिंसा रुक सकती है बशर्तें.....

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

पंजाब से मिली खबरो से पता चलता है कि पजाब की स्थिति अब पहले से कही बेहतर है । यद्यपि अब भी प्रतिदिन उग्रवादियो द्वारा किसी ना किसी हिंसात्मक कार्यवाई का समाचार मिल ही रहा है । परतु फिर भी वे अब पहले की तरह खुलकर नही खेल पा रहे हैं । और यह छिटपुट हिंसा उनकी असहायता और क्रोध की मिली-जुली प्रतिक्रिया की परिचायक मात्र ही है ।

पंजाब के पूर्व मुख्यमत्री श्री सुरजीत सिंह बरनाला का यह कथन कि उनके शासनकाल मे उग्रवादियो द्वारा मारे गए लोगो की सख्या से राष्ट्रपति शासन के दौरान मारे गए लोगो की सख्या कही ज्यादा है, सत्य हो सकती है । और आकडे भी उनकी इसदलील के पक्ष मे हो सकते हैं । लेकिन जो भी हो आज का पजाब बरनाला के समय के पजाब से कही बेहतर अवस्था मे है । पजाब के राज्यपाल श्री रे व पुलिस प्रमुख श्री जुलियस रिबेरो के सम्मिलित सद्प्रयासो से ही यह सब सभव हो सका है । आतकवादियो की गतिविधियो पर अकुश लगा है और उनकी व्यापक रूप मे से धर पकड की गई है ।

कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनमे सोचने-समझने की सामर्थ्य नही होती या वे सब समझकर भी अपने तुच्छ स्वार्थों को दृष्टिगत रखते हुए वास्तविकता को नकारने की कोशिश करते हैं । और कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो तस्वीर के उजले पक्ष की अपेक्षा कालिमायुक्त पक्ष की ओर देखना अधिक पसद करते हैं । तथाकथित कुछ राजनीतिज्ञो व पत्रकारो को आज के पजाब व बरनाला के पजाब मे कोई भी अतर नजर नही आता । और यहा तक कि मुख्यग्रथियो के बयान का हवाला देते हुए वे स्थिति की भयकरता का जासूसी उपन्यासो जैसी भाषा मे वर्णन करते हैं । जबकि यदि आप मुख्यग्रथियो के बयान को सूक्ष्म दृष्टि से देखने का प्रयास करें तो वास्तविकता आपके सामने आ जाएगी । दरअसल मुख्य ग्रथियो का यह बयान भी उग्रवादियो के टूटते मनोबल का ही परिचायक है और फिर बदूक के डर से बयान देने वाले ग्रथियो की विश्वनीयता सिखो मे रह ही कहा गई है ।

पजाब का माहौल बदल रहा है । और आशा की कुछ धुधली किरणें दिखाई दे रही हैं । जरूरत है केवल कुछ बुद्धिमता पूर्ण कदमो की-शाति की सूरज निकल आयेगा ।

पजाब-समस्या एक जटिल राजनीतिक समस्या है । परतु किसी राजनैतिक बातचीत से पूर्व वातावरण को तो उपयुक्त बनाना ही होगा । अतएव पहला काम हिंसा को रोकना है । श्री

(शेष पृष्ठ 6 पर

निरीक्षक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक · रासासिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या : 21010

आर्यसमाज को गम्भीर चुनौती

पुराणपंथियों की जड़ें उखाड़े बिना सती जैसी अमानवीय प्रथाएं बन्द नहीं हो सकती

गत 4 सितम्बर को राजस्थान के दिवराला गाव में हुए रूप कवर सती काड को लेकर इन दिनो देश मे एक जबरदस्त बहस छिडी हुई है। जहाँ एक ओर बुद्धिजीवियो का एक बडा वर्ग इस अमानवीय व अवैदिक कुप्रथा का विरोध कर रहा है वही दूसरी ओर कुछ तथाकथित पौराणिक धर्माचार्य बुद्धिजीवी व राजनेता ऐसे भी हैं जो शास्त्रोक्त बताकर धार्मिक स्वातत्र्य की दुहाई देकर इसे अनुचित प्रश्रय देने का अपराध कर रहे हैं।

सती प्रथा अवैदिक है वैदिक शास्त्रो मे इसकी कहा लेश मात्र भी चर्चा नही मिलती। और न ही प्राचीन भारत मे सती होने का किसी घटना का ही उदाहरण मिलता है। क्या महाराजा दशरथ की पत्नियाँ पतिव्रता नही थी ?

जात पात छुआछूत और मृतक श्राद्ध जैसी अनेक कुरीतियो का जन्म दाता पौराणिक समाज ही सती प्रथा जैसी कुप्रथा का जनक रहा है।

अपने स्वार्थ के लिए वेदादि शास्त्रो के कथनो को तोड मरोडकर पेश करने के क्षेत्र मे पौराणिक समाज अपना कोई सानी नही रखता है। कहते हैं कि राजा राममोहन राय और अन्य समाज सुधारको से प्रेरणा प्राप्त कर लार्ड विलियम बैंटिक ने जब सती प्रथा विरोधी कानून बनाया तो तत्कालीन पौराणिको ने ऋग्वेद के निम्न मन्त्र को सती प्रथा के पक्ष मे प्रस्तुत किया

इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥

ऋग्वेद—मण्डल 10 सूक्त 18 मन्त्र 7

मन्त्रार्थ को अपने पक्ष मे करने के लिए इन लोगो ने मन्त्र के अन्त मे विद्यमान अग्रे के स्थान पर अग्ने पाठ करके उसका निम्न अर्थ किया

सुपत्नी का लक्षण यह है कि वह वैधव्य से बचने के लिए घृतदीप जला उसका अजन लगा बिना आख मे आसू लाए रोग शोक से रहित प्रसन्न वदन रत्नाभूषण धारण कर अग्नि (का चिता) पर आरोहण कर।

परन्तु जब किसी प्रबुद्ध महानुभाव की शका पर वेदपाठी विद्वानो से इसका पाठ कराया गया और अर्थ जाना गया तो इन महाधूर्तों की पोल खुल गई। मन्त्र का सही अर्थ यह है—

सुपत्नी वह होती है जो सुहागिन रहती हुई अजन मजनादि और घृत के सेवन मे सदा नीरोग रहे दुःख मे अश्रुपात न कर धैर्य धारण करे अच्छे आभूषण धारण करे और आने वाली योग्य सतान को जन्म दे। और इस प्रकार तभी से सती प्रथा विरोधी कानून लागू हो गया।

इस सदर्भ मे यह भी उल्लेखनीय है कि महर्षि दयानन्द जी को ही अन्य वेद मन्त्रो के समान उपर्युक्त मन्त्र का सही अर्थ करने का श्रेय प्राप्त है। वस्तुत राजा राममोहन ने तो मात्र कानून द्वारा सती प्रथा को रोकने का प्रयास किया परन्तु महर्षि ने वेद आदि शास्त्रो के आधार पर इसे अधार्मिक घोषित कर एक महान कार्य किया था। जिसके लिए समस्त नारी समाज को उनका आभारी होना चाहिए।

वर्तमान मे सती प्रथा की छिटपुट घटनाओ मे अधिकाश घटनायें राजस्थान मे घटित होती हैं। राजस्थान को एक ओर जहाँ महर्षि दयानन्द जैसे महान समाज सुधारक के जीवन के अधिकाश समय तक उनके सानिध्य मे रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है वही दूसरी ओर इसी के एक कस्बे ब्यावर को सती प्रथा जैसी अमानवीय कुप्रथा का धार्मिक कृत्य कहकर समर्थन करने वाले पुरी के वर्तमान शकराचार्य स्वामी निरजन देव को जन्म देने का दुर्भाग्य भी प्राप्त है। ये स्वामी जी हरिजनो के मदिर प्रवेश के भी विरोधी हैं। आखिर हैं तो ये पौराणिक बिरादरी के ही। फिर कुप्रथाओं और पाखडो का पोषण व समर्थन करने वाली अपने पूर्वजो द्वारा विरासत मे मिली परम्परा का वे कैसे त्याग कर सकते हैं।

राजस्थान के कुछ राजनैतिक दलो के नेताओ ने अपने क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों की खातिर सती प्रथा को अपरोक्ष रूप से बढावा देने का गम्भीर अपराध किया है। जयपुर जिला भाजपा ने तो बाकायदा एक प्रस्ताव पास कर राज्य सरकार से यह अनुरोध किया कि वह रूपकवर के देवर ससुर तथा इस काड के लिए अन्य दोषी व्यक्तियो को गिरफ्तार करने की कारवाई न करे। राजस्थान जपा के अध्यक्ष श्री कालवी के भी इस सबध मे इसी प्रकार के विचार हैं और उल्लेखनीय है कि वे दिवराला मे सती मदिर की स्थापना के अभियान मे अपना सक्रिय सहयोग मदाध राजपूतो को प्रदान कर रहे हैं। लेकिन भारतीय जनता पार्टी की अखिल भारतीय महिला मोर्चा की उपाध्यक्षा और विधायिका श्रीमती विद्या पाठक स्वय एक महिला होते हुए भी महिला हितो के विपरीत इस बर्बर प्रथा का धार्मिक और नागरिक स्वातत्र्य की दुहाई देकर औचित्य सिद्ध करने का दुस्साहस करती हैं। ऐसी नारी नारी जाति पर कलक नही तो और क्या है ? आप फरमाती हैं सरकार सती मन्दिर नही बनने देना चाहती है क्योंकि इससे सती को महीमान्यन प्राप्त होगा ? फिर सरकार यह क्यो भूल जाती है कि भारत की धरती पर शिव पत्नी सती के खडित हुए अवयव जहा-जहा गिरे श्रद्धालुओ ने उन स्थानों को शक्ति पीठ कहा और वहा महिमामही शक्ति स्वरूपा देवी की आराधना आज भी की जाती है जडूला परिक्रमा शादी विवाह आदि शुभ अवसरो पर उस सत्य भाव की पूजा प्रतीक रूप मे करते हैं ?

सती माता और सत चढने की भावना बनाने के लिए भला कर सरकार सविधान की भावना एव मूलभूत अधिकारों का हनन और लोगो की भावनाओ पर कुठाराघात कर रही है।

राजपूत स्त्रियों द्वारा जौहर करना या पति के साथ जल मरना एक आपद धर्म हो सकता है। परन्तु फिर भी वे या कोई तथाकथित सती (पति के साथ जल मरने वाली) सती न होने वाली महारानी लक्ष्मीबाई व महारानी दुर्गावती से महान नहीं हो सकती।

आर्यसमाज की स्थापना महर्षि दयानन्द सरस्वती ने समाज में व्याप्त कुरीतियो और पाखड के उन्मूलन के लिए की थी। अतएव आर्यसमाज का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह सती प्रथा जैसी कुरूप प्रथा को समाप्त करने का दायित्व ग्रहण कर इसके विरुद्ध एक जोरदार अभियान चलाए।

—वीरेन्द्र आर्य

अल्पसंख्यकों की परिभाषा की समस्या

भारतीय राजनीति मे यह एक परम्परा सी हो गई हैं एक सभा बुलाने की जब भी भारत की एकता तथा राष्ट्रीय एकता खण्डित होते हुए देखा गया। 28 अगस्त 1986 ई को इस सभा की एक मीटिंग बुलाई गई। इस सभा ने ऐसा महसूस किया की अल्प सख्यको की सही व उचित परिभाषा दी जाये।

माईनोरिटी (अल्पसख्यक) लेटिन शब्द "माईनर" (Minor) तथा "ity" के समिश्रण से बना है। जो एक दूसरे मे पूर्ण हैं। सख्या मे कम होते हुए भी वो एक पूर्ण सख्या बनाते हैं।

अल्पसख्यको की परिभाषा कही भी पूर्ण रूप से नही दी गई है। बीसवी शताब्दी के मध्य अल्पसख्यको की सही परिभाषा न ता ब्रिटेनी शब्दकोष, ना वारसलीस की सन्धि और ना राष्ट्रसघ के द्वारा दी गई हैं। यहाँ तक की सयुक्त राष्ट्र सघ ने भी अल्पसख्यको की सही परिभाषा देने का कष्ट नही किया है, इस अल्पसख्यको को परिभ षित नही कर सके हैं।

भारत का सविधान बनाते समय भी अल्प सख्यको की धारणा को परिभाषित करते समय कठिनाई अनुभव की गई। इस तथ्य के बावजूद हमारे सविधान निर्माताओ ने इस ओर अधिक विचार (ध्यान) दिया। फिर भी इस धारणा को सक्षिप्त तथा सही रूप से परिभाषित करने का प्रयास नही किया गया। सविधान सभा के सदस्य श्री टी टी कृष्णामाचारी ने उच्च विशिष्ठ वर्ग को अल्पसख्यको की सज्ञा दी।

कानूनी व्यवस्था अल्पसख्यकों के बारे में सविधान मे अल्पसख्यक शब्द को बहुत कम स्पष्ट (प्रयोग) किया गया है। और ना ही इसके अन्तर्गत किसी वर्ग विशेष का उल्लेख किया गया है। अल्पसख्यक शब्द का प्रयोग सविधान मे केवल दो धाराओ 29 और 30 मे किया गया है। यहाँ भी इस शब्द का प्रयोग परिभाषा की दृष्टि से नही किया गया हैं। यहाँ इस धारा मे अल्पसख्यक शब्द को एक उपशीर्षक के रूप मे प्रस्तुत किया गया है न कि विषय वस्तु के रूप मे है। सविधान की धारा 366 जो विभिन्न पारिभाषिक शब्दो के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये काम मे ली गई है। वह इस प्रकार के 30 शब्दो का अर्थ स्पष्ट करती है। किन्तु इसमे भी अल्पसख्यक शब्द को सम्मिलत नही किया गया है। यहाँ तक की सविधान निर्माता भी इस शब्द को आरक्षण की दृष्टि से प्रयोग करने मे विचलित हो जाते हैं। यह इस कारण हो सकता है कि देश का बटवारा मुस्लिम लीग द्वारा पोषित अल्पसख्यको के आधार पर किया गया था। अल्पसख्यको का प्रश्न सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष सर्वप्रथम 1957 मे केरल शिक्षा विधेयक के समय उठाया गया था। सर्वोच्च न्यायालय ने इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की। अल्पसख्यक शब्द को सविधान ने परिभाषित नही किया है। और किसी सक्षिप्त परिभाषा के अभाव मे यह कहा जा सकता है अल्पसख्यक समुदाय वह समुदाय है जिसकी सख्या समाज की कुल जनसख्या के आधे से भी कम है। इस 50% की व्याख्या इस प्रकार की गई है कि यदि विधेयक राज्य विधान मण्डल से सम्बन्ध रखता है, तो इसका तात्पय उस राज्य की जनसख्या के 50% से है और सघीय ससद के अधिनियम का प्रश्न आता है तो सारे देश की जनसख्या के आधार पर निर्धारित होना चाहिये।

अल्पसख्यक का शीर्षक

देश की सर्वोच्च न्याय पालिका द्वारा दिया गया सूत्र अधिक सरल और अकमणित्य है। किन्तु इसमे भी कुछ बाधायें आ सकती हैं। यह सम्भव है कि किसी राज्य की जनसख्या मे विभिन्न वर्ग बिखरे हुए हो और कोई एक समुदाय राज्य की जनसख्या के 50% प्रतिशत से अधिक ना हो तब इस दशा मे उस राज्य के सभी वर्ग अल्पसख्यक होने का दावा कर सकते हैं।

सविधान मे अल्प सख्यक शब्द की स्पष्ट परिभाषा पाने मे असफल होने पर प्रश्न यह उठता है कि देश मे अल्पसख्यको को कौन बनता है (अल्पसख्यक वर्ग किसको कहा जाता है?) यह दृष्टिकोण इस शब्द की व्यवहारिक परिभाषा को ढूढ निकालने के लिये मार्ग दर्शन करता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सविधान की धारा 29 और 30 भारत के अल्पसख्यको के हितो की रक्षा करने की गारन्टी है। धारा 29 मे कहा गया है कि नागरिका का कोई भी वर्ग जिसकी कोई विशिष्ट भाषा लिपि अथवा सस्कृति हो उसे इसे बनाये रखने का अधिकार होगा और दूसरी धारा अर्थात धारा 30 के अनुसार अल्पसख्यको के अधिकार जो कि धर्म व भाषा पर आधारित है। वे अपनी पसन्द की शिक्षण सस्थाएँ स्थापित कर सकते है। यदि हम इन दोनो धाराओ को सम्मिलित करें तो इसका तात्पर्य यह होगा कि भारतीय सविधान मे तीन प्रकार के अल्पसख्यको के हितो की रक्षा की गई है। यह तीन प्रकार के अल्पसख्यक भाषा, धर्म सस्कृति पर आधारित हैं।

भाषा और धर्म के आधार पर भेद समझ मे आता है। किन्तु सस्कृति के आधार पर भेद करना कठिन प्रतीत होता है। यदि हम सस्कृति के आधार पर अल्पसख्यक वर्ग का परीक्षण करें तो भारत मे अल्पसख्यको की सख्या की कोई सीमा नही रहेगी। इसके अतिरिक्त भारत मे विभिन्न प्रकार की सस्कृतियाँ प्रचलित है। अत यह निश्चय करना कठिन हो जायेगा कि कौन अल्पसख्यक है। और कौन बहुसख्यक हैं। किन्तु भाषा और धर्म ऐसी दो वस्तुएँ है जो किसी समुदाय की सस्कृति का निर्धारण करती हैं। अत यह कहना अधिक ठीक होगा कि भारतीय सविधान मे केवल दो आधारो पर भाषा और धर्म के आधार पर अथवा इन दोनो के आधार पर अल्पसख्यको को मान्यता दी गई है।

भारतीय सविधान 15 क्षेत्रीय भाषाओ को मान्यता प्रदान करता है। और हिन्दी को राष्ट्रीय अथवा सरकारी कामकाज की भाषा के रूप मे मान्यता देता है। कई राज्यो मे प्रशासनिक उद्देश्य से क्षेत्रीय भाषाओ का प्रयोग किया गया है और उन्हे स्कूल और कॉलेजो मे प्रथम भाषा के रूप मे पढाया जाता है। इससे भाषा के आधार पर अल्पसख्यक वर्ग का जन्म हुआ है। सविधान की विषय वस्तु के अनुसार अल्पसख्यको की भाषा इन 15 भाषाओ से किसी एक भाषा का होना आवश्यक नही हैं। दूसरे शब्दो मे भाषा के आधार पर राज्य स्तर पर अल्पसख्यक का तात्पय सविधान की धारा 29 के अनुसार है। इस धारा मे यह कहा गया है कि नागरिको का कोई वर्ग जिसकी विशिष्ट भाषा हो वह अपनी इस भाषा को बनाये रख सकता है। चाहे उसकी सख्या कितनी भी क्यो ना हो।

भाषाओ समूह

वर्तमान भारतीय सदर्भ मे यह कहा जा सकता है कि कोई एक भाषा बोलने वाला समूह किसी खास धर्म का ही हो यह आवश्यक नही है। उदाहरण के लिये बगाल मे बगला भाषा, हिन्दू मुस्लिम, और यहा तक की ईसाईयो द्वारा भी बोली जाती है। इस प्रकार के समूह किसी क्षेत्र विशेष मे धार्मिक भेद के साथ-साथ सम न भाषाई हित भी रख सकते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि यदि धर्म भारतीयो को लम्बवत रूप मे विभक्त करता है तो भाषा क्षितिजवत भारतीयो को विभाजित करती है। और यह विभाजन एक दूसरे पर "लीपापोती" करते हैं।

भारत मे हिन्दुत्व बहुसख्यक वर्ग का धर्म है तथा मुस्लिम सिक्ख और ईसाई तीन बड़े अल्पसख्यक वर्ग हैं। 1981 की जनगणना के आकडो के अनुसार हिन्दुओ की जनसख्या 82 64% मुस्लिम 11 35%, ईसाई 2 43% सिक्ख 1 96% तथा अन्य 1 62% है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारत मे अल्पसख्यको का प्रतिशत 17 36% कुल जनसख्या का है। किन्तु कहानी यहाँ खत्म नही होती।

एक सापेक्षिक धारणा—

जम्मू काश्मीर	–	मुस्लिम	64 19%
लक्षद्वीप	–	मुस्लिम	94 84%
मेघालय	–	ईसाई	52 62%
नागालैंड	–	ईसाई	80 21%
मिजोरम	–	ईसाई	83 81%
पजाब	–	सिक्ख	60 75%

(शेष पृष्ठ 5 पर)

सत्यार्थ-प्रकाश का ऐतिहासिक महत्व

—प्रतापसिंह शास्त्री—

अन्धेरे मे सोये हुए लोगो को जगाने की आवश्यकता है, इससे पहले कि वह सूर्य के प्रकाश को देख सकें। भूले हुए पथिक को सीधे मार्ग मे चलाने से पहले आवश्यक है कि उसको उच्च स्वर मे बतलाया जाये कि तू उल्टे मार्ग पर आ रहा है वहाँ से लौटकर इधर सीधे मार्ग पर चला आ। "सत्यार्थ प्रकाश" अविद्या अज्ञान मे सोए हुए मनुष्यो को वेदसूर्य के दर्शन के लिए सकेत करता है। इस ग्रन्थ की रचना करके ऋषि ने मानव जाति पर अवर्णनीय उपकार किया है। सत्य का ग्रहण कराना और असत्य का परित्याग कराना सत्यार्थ प्रकाश का मुख्य उद्देश्य है यही सब सुधारो का मूल मन्त्र है। सत्यार्थ प्रकाश को पढकर अनेक व्यक्तियो ने अपने जीवन का कायाकल्प किया है। आर्य समाज के महापुरुष युवा विद्वान प गुरुदत्त विद्यार्थी एम ए जो अत्यन्त मेधावी थे, वे लिखते हैं—सत्यार्थ प्रकाश को मैंने सत्तरह बार पढा, जब जब मैं इस ग्रन्थ को पढता हू तब-तब मुझे नई नई बातें ही मिलती हैं। यदि इस ग्रन्थ का मूल्य हजारो रुपये भी होता तो भी मैं इसे अवश्य पढता और अपनी समस्त सम्पत्ति बेचकर भी इसे खरीदता।

वास्तव मे सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन से प गुरुदत्त के समान अमूल्य रत्न प्राप्त किए जा सकते हैं। आर्य समाज के नेता 'सम्राट समाचार पत्र के सम्पादक व सचालक स्व प जगदेव जो सिद्धान्ती के भाषण तो आधे से अधिक अक्षरक्ष सत्यार्थ प्रकाश का मूलपाठ ही होते थे, उनका सत्यार्थ प्रकाश पर गहन अध्ययन था। अपने जीवन मे अनेक समस्याओ का समाधान उन्होने सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन से किया।

सत्यार्थ प्रकाश म ब्रह्मा से लेकर जैमिनी पर्यन्त ऋषि मुनियो के वेद प्रतिपादित सारभूत विचारो का सग्रह है। वेदादि सत्य शास्त्रो के अध्ययन बिना सत्य ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नही है। उनका समझने के लिए सत्यार्थ प्रकाश कु जी (गाईड) का कार्य करता है। जन्म से मृत्युपर्यन्त मानव जीवन की सभी प्रकार की लौकिक और पारलौकिक समस्याओ को सुलझाने के लिए सत्यार्थ प्रकाश रामबाण दवा है। महाभारत के समय नष्ट हुए विज्ञान को महर्षि दयानन्द ने इस अमर ग्रन्थ मे प्रकट किया है जिससे पाश्चात्य वैज्ञानिको का मिथ्या अभिमान झुठलाया जा सकता है और भारतीयो मे स्वाभिमान की भावनाए पैदा की जा सकती है। सत्यार्थ प्रकाश को पढे बिना कोई भी व्यक्ति ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की विचारधारा को, कार्यक्रम को भली प्रकार नहीं समझ सकता तथा अन्य विविध मतमतान्तर वाले विद्वानो के उपदेशो मे, पुस्तको म, प्रतिपादित मिथ्या सिद्धान्तो की पहचान नही कर सकता।

आर्य समाज के मन्तव्यो पर जितनी भी शकाए किसी को हो सकती हैं वे सब सत्यार्थ प्रकाश का निष्पक्ष रूप से अध्ययन कर लेने पर स्वत ही समूल नष्ट हो जाती हैं। ऋषि दयानन्द कृत सभी ग्रन्थो का साराश सत्यार्थ प्रकाश मे मिलता है। यही कारण है कि वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए सत्यार्थ प्रकाश पर स्वामी वेदानन्द जी जैसे आर्य समाज के उच्च कोटि के सन्यासियो ने भाष्य-टीकाए लिखी हैं, जिन्हे पढने से सत्यार्थ प्रकाश के कठिन व दार्शनिक स्थल सरलता मे समझे जा सकते है। सत्यार्थ प्रकाश के कारण ही आर्यसमाज एक आन्दोलन प्रतीत होता है। आजादी से पूर्व सत्यार्थ प्रकाश को पढने मात्र से अनेक युवक स्वतन्त्रता के दीवाने बने। काग्रेस की स्थापना से कई वर्ष पूर्व सन् 1875 मे ही सत्यार्थ प्रकाश ने स्वतन्त्रता का सदेश दिया। इस ग्रन्थ को विद्रोही पुस्तक समझा जाता रहा और आज भी समझा जाता है। स्वतन्त्र भारत के रेडियो आकाशवाणी, टी वी आदि के माध्यम से गीता कुरान के सदेश का प्रसारण हो सकता है किन्तु सत्यार्थ प्रकाश के अक्षरश शब्दो का प्रसारण करते ही आपको साम्प्रदायिक घोषित किए जाने का डर आज भी सम्भव है।

समाचार पत्रो मे आपने पढा होगा कि रामकुमार भारद्वाज को सऊदी अरब की सरकार ने केवल मात्र इसलिए जेल मे डाल दिया क्योकि वह सत्यार्थ प्रकाश का अध्ययन कर रहा था। घबराईए नही। सत्यार्थ प्रकाश वैचारिक क्रान्ति का स्रोत है, इस ग्रन्थ पर ऋषि दयानन्द के जीते जी किसी की हिम्मत न हुई कि प्रहार कर सके। किन्तु ऋषि के बलिदान के बाद विधर्मियो, विविध मतमतान्तर वालो ने सोचा अब सेनापति नही रहा, सेनापति के अभाव मे सैनिको के पाँव उखड जाएंगे और इन आर्य समाजियो के प्रमुख ग्रन्थ पर पाबन्दी लगवाकर हम इन्हे आसानी से जीत लेंगे। किन्तु आर्यों ने ऋषि की भाति अनेक मोर्चों पर युद्ध स्तर पर कार्य प्रारम्भ कर दिए। आर्यों के बढते कदम देखकर सन् 1902 मे सबसे पहले राजनैतिक प्रहार राजनैतिक उद्देश्य से किया गया। एक हिन्दू सन्यासी आलाराम सागर ने सन्यास धर्म को बदनाम करते हुए एक सन्यासी द्वारा ही लिखित सत्यार्थ प्रकाश पर प्रतिबन्ध लगवाने की माग की।

इस आलाराम सन्यासी ने, धर्म के प्रचारक ने स्वय सत्यार्थ प्रकाश के कुछ उदाहरण देकर यह सिद्ध करना चाहा कि आर्य समाज एक षडयन्त्रकारी राजद्रोही सस्था है। इस सन्यासी ने सत्यार्थ प्रकाश व आर्यसमाज के विरुद्ध एक पुस्तिका भी लिखी, परन्तु अपनी इच्छा पूर्ति मे असफल रहा। वैसे इलाहाबाद के जिला मजिस्ट्रेट मि पी हैरिसन की अदालत मे मुकदमा चला। न्यायधीश महोदय ने निर्णय दिया—'जो उदाहरण सन्यासी आलाराम सागर मे दिये हैं उनमे राजद्रोह की कोई गन्ध नही है। केवल इस बात पर दु ख प्रकट किया गया है कि कुछ धार्मिक व अन्य कारणो से भारतवासी पराधीन हुए हैं। स्वामी दयानन्द ने हथियार उठाने या बगावत करने के लिए लेख नही लिखे। मुकदमा खारिज हुआ और सन्यासी आलाराम सागर से जमानत मागी गई।

सत्यार्थ प्रकाश एक ही व्यक्ति के दो हाथ :

आर्य मुसाफिर प लेखराम ने कहा था— सत्यार्थ प्रकाश उस मनुष्य के समान है जो एक हाथ म औषधि की बोतल और दूसरे हाथ मे रोगी के लिए आरोग्यदायक भोजन लिए खडा हो। यदि उत्तरार्ध भाग औषधि है तो पूर्वार्द्ध वेद रूपी स्वास्थ्य का मडन कर रहा है। मडन रूपी भोजन स्वस्थो के लिए है परन्तु खण्डनरूपी औषधि और मण्डनरूपी आहार रोगियो के लिए आवश्यक है।

ब्रिटिश सरकार का संदेह :

कुछ वर्षों के बाद पार्लियामेन्ट के सदस्य सर वेलेण्टाइन चिरोल ने भी आर्यसमाज तथा सत्यार्थ प्रकाश को राजद्रोह की प्रेरणा देने वाला कहकर सदेह प्रकट किया। चिरोल स्वय लेखक व पत्रकार थे, पार्लियामेन्ट के सदस्य भी थे। सासद, पत्रकार व लेखक के नाते इनकी बात मे वजन था किन्तु यह प्रहार भी अमर ग्रन्थ का कुछ न बिगाड सका केवल पार्लियामेन्ट तथा चन्द समाचार पत्रो मे प्रकट होकर नक्कार खाने मे तूती की आवाज बनकर रह गया।

रियासत के शासकों द्वारा प्रहार :

सन् 1909 ई में पटियाला रियासत की सरकार ने वहाँ के 76 आर्य समाजियो के विरुद्ध षडयन्त्र का एक सगीन मुकदमा बनाया। इस मुकदमे मे सत्यार्थ प्रकाश को राजद्रोह का प्रचार करने की प्रमुख पुस्तक बताया और इसे जब्त करने की माग की किन्तु रियासत की सरकार पाबन्दी नही लगा सकी। आर्यसमाज ने इस सरकार का मुकाबला किया। अदालत मे केस चला, न्यायालय ने सत्यार्थ प्रकाश को राजद्रोह की पुस्तक मानने से इन्कार कर दिया। पर विरोधी भी चैन से नही बैठे। इसी प्रकार की योजनाए बनाते रहे।

मुसलमानों द्वारा सत्यार्थ प्रकाश का विरोध :

पंजाब में सर फजल हुसैन, सर सिकन्दर हयात खाँ, सर छोटूराम जैसे महात्मा हस राज के शिष्य युनियनिष्ट पार्टी की सरकार के सचालक थे। सन् 1926 मे पजाब के मुसलमानो ने 14वें समुल्लास को दिखाकर सत्यार्थ प्रकाश पर आरोप लगाया कि इस ग्रन्थ मे इस्लाम की आलोचना की गई है। अत प्रतिबन्ध लगाया जाए। बडा विवाद खडा हो गया। इस पर हजारो आर्य समाजियों ने हस्ताक्षर करके पजाब सरकार को लिखा कि हम सत्यार्थ प्रकाश की रक्षा के लिए हर प्रकार का बलिदान देने को तैयार हैं। पजाब→

की सरकार साम्प्रदायिक सद्भाव कायम रखना चाहती थी अत वह मुस्लिम लोगों के दबाव में नहीं आई और मुसलमानों का यह प्रयत्न भी असफल रहा।

सिन्ध सरकार द्वारा प्रहार :

26 जून 1943 ई में इस अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश पर मुस्लिम सम्प्रदाय ने पुन प्रहार किया। सिन्ध में मुस्लिम मन्त्रिमण्डल था। मन्त्रिमण्डल ने सिन्ध सरकार की विज्ञप्ति मे कहा कि सत्यार्थ प्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए सरकार विचार कर रही है। यह सुनकर साम्प्रदायिकता के गढ़ समझे जाने वाले विशाल पजाब मे जो लाहौर और रावलपिण्डी तक फैला हुआ था, सर्वत्र आर्यजगत मे खलबली मच गई। सिन्ध सरकार को 8 जुलाई 1943 को घोषणा करने पर विवश होना पड़ा—"सिन्ध सरकार सत्यार्थ प्रकाश के विरुद्ध कोई भी कार्यवाही नही करना चाहती।"

मुस्लिम लीग द्वारा विरोध :

लार्ड कर्जन की पटकथा व उसका डिवीजन को बगाल से अलग करने की नीति व कोहाट व जम्मू के दगो से आर्य जगत् को काफी ठेस पहुची थी। लार्ड मिन्टो के सकेत पर सन् 1906 मे मुस्लिम लीग स्थापित हो चुकी थी। आर्यसमाज व आर्यसमाजी नेता सर छोटू राम के प्रभाव से अब तक साम्प्रदायिक नेता मि जिन्ना पजाब मे आता हुआ घबराता था किन्तु सन् 1943 के अगस्त मास मे मुस्लिम लीग ने लाहौर मे एक मीटिंग की। मीटिंग मे पुन 14 वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु विचार विमर्श किया गया। प्रस्ताव पजाब सरकार को भेज दिया गया। किन्तु इस बार भी असफलता ही हाथ लगी। अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश पर कोई आच न आई।

सिन्ध सरकार द्वारा पुन सत्यार्थ प्रकाश पर पाबन्दी

सिन्ध सरकार ने 8 जुलाई 1943 की घोषणा के बाद भी 16 मास के बाद अर्थात 1944 में पुन भारत रक्षा विधान की आड़ लेकर शान्ति व सुरक्षा के नाम पर अपने सिन्ध प्रान्त मे 14 वें समुल्लास के प्रकाशन व मुद्रण पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इसकी सभी समाचार पत्रो मे घोर निन्दा की गई, हिन्दू सगठनों ने भी विरोध करके सरकार की निन्दा की, आर्य जगत् मे पुन खलबली मच गई। 7 मई 1944 को समस्त आर्य जगत मे सत्यार्थ प्रकाश दिवस मनाया गया। सिन्ध सरकार को पुन अपना निर्णय वापस लेना पड़ा।

विविध मत मतान्तर वाले हिन्दुओं द्वारा विरोध :

केवल अग्रेजो और मुसलमानो ने ही सत्यार्थ प्रकाश पर प्रहार किए हो ऐसी बात नहीं। हिन्दू भी उनसे पीछे नही रहे। हिन्दुओ मे अनेक सनातन धर्मी विद्वान ऐसे हुए जिन्होने सत्यार्थ प्रकाश व आर्यसमाज के विरुद्ध जिहाद छेड़ा, पुस्तकें लिखी, शास्त्रार्थ किए और पराजित होकर अपना सा मुह लेकर रह गये।

पौराणिक पण्डित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने 'दयानन्द तिमिर भास्कर' पुस्तक लिखी जिसमें सत्यार्थ प्रकाश के 11 समुल्लासो का प्रतिवाद किया। आर्यसमाज के विद्वान प तुलसीराम सामवेद भाष्यकार ने भास्कर प्रकाश लिखकर करारा उत्तर दिया। यह सिलसिला यहीं बन्द नहीं हुआ। यह तो पक्ष विपक्ष के विद्वानो का लम्बा सिलसिला चला। शास्त्रार्थ होता रहा। प रामचन्द्र देहलवी, ठाकुर अमर सिंह, दादा बस्तीराम, कवर सुखलाल आर्य मुसाफिर, प. बुद्धदेव विद्यालकार आदि विद्वानो ने आर्यसमाज का प्रचार करते हुए वेद प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तो का मण्डन किया एव अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के उदाहरण देकर इस ग्रन्थ को अमर कर दिया।

पता—आट वैदिक हाई स्कूल,
हिसार (हरि.)

पत्र बोलते हैं....

सती प्रथा और आर्यसमाज

आदरणीय दत्तात्रेय जी,

राजस्थान मे इतना शर्मनाक सतीकाण्ड हो जाय और आर्यसमाज तटस्थ प्राय रहे यह कैसे हो सकता है? जब तक देश मे अज्ञान और अन्याय है – कहीं भी, आर्य समाज का कार्य अधूरा है। राजस्थान सरकार एक सती विरोधी कानून बनाने जा रही है। लेकिन क्या केवल कानून निर्माण से सामाजिक कुरीतिया नष्ट हो सकती हैं? शारदा एक्ट को ही लीजिये। आज साठ वर्ष उपरान्त भी राजस्थान मे बाल विवाह होते हैं। कानून भी तभी सफल हो सकते हैं जब उन की सहायता के लिये प्रबल जनमत हो। राजशक्ति और जनशक्ति मिल कर देशोद्धार का कार्य करे, आज यही रणनीति नजर आती है।

तो फिर हम आर्य कहलाने वाले सज्जन इस प्रसग मे क्या करें?

कम से कम डी ए वी कालिज, अजमेर के सजग छात्रो की एक टीम एक अध्यापक के नेतृत्व मे, दिवराला जाकर इस निर्मम हत्याकाण्ड की सामाजिक जाच करे और इस का प्रतिवेदन प्रकाशित हो। प्रश्न जो उठते हैं वह यह हैं–

(1) इस जघन्य कार्य की पृष्ठभूमि क्या है?
(2) क्या बेचारी विधवा को इस कार्य के लिये मजबूर किया गया? या फिर
(3) क्या वह अपनी मर्जी से चिता पर सवार हुई?
(4) क्या उसे ड्रग दिया गया था?
(5) क्या उसने चिता से भागने की कोशिश की?
(6) सती होने/करने का निश्चय कब किया गया?
(7) निश्चय और क्रियान्वित मे कितना समयान्तर था?
(8) क्या इस बीच इस हत्या को रोका जा सकता था?
(9) स्वामी दयानन्द के इस बात मे क्या मन्तव्य हैं?
(10) हमारा (आर्य समाज का) इस बात मे क्या कर्त्तव्य है? इत्यादि

कृपया मेरे पत्र को अपने प्रतिष्ठित पत्र मे स्थान देने एव अन्य आर्य पत्रिकाओ से आग्रह करेंगे कि वह भी इसे यथोचित स्थान दें ताकि देश व्यापी जनमत, इस सबध मे सजग और सचेष्ट हो। आशा है आप इस आन्दोलन को नेतृत्व देंगे।

—के हूजा

सिनेमा स्लाइडों द्वारा प्रचार

'आर्य पुनर्गठन' खोजपूर्ण एव वैदिकता से ओत-प्रोत लेख प्रकाशित करने मे अपना एक विशेष स्थान रखता है। समाचार-पत्र के अतिरिक्त सिनेमा स्लाइडो द्वारा भी आर्यसमाज का प्रचार होना चाहिए।

–शिवनाथ आर्य "टेलर"
अध्यक्ष, आर्यवीर दल, देहरादून

अल्पसख्यकों की परिभाषा

(शेष पृष्ठ 3 का)

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि देश मे अल्पसख्यक शब्द की धारणा एक सापेक्षिक धारणा है चाहे वह भाषा के आधार पर हो अथवा धर्म के आधार पर हो। लोगो की एक सख्या, भाषा एवम् धर्म के आधार पर द्विस्तरीय स्थिति रखती हैं। अर्थात् यह जनसख्या एक दृष्टि से तो बहुसख्यक है। किन्तु दूसरी दृष्टि से अल्प सख्यक है। भारत मे अल्पसख्यक कोई स्थाई धारणा नहीं है। देश की जनसख्या धार्मिक, सामाजिक कारणो से परिवर्तनशील होती है। अत धार्मिक अथवा भाषाई एकरूपता कभी भी स्थाई रूप से प्राप्त नहीं हो सकती है। यह एक निरन्तर प्रक्रिया है।

इस सम्बन्ध मे यह महत्वपूर्ण है कि हमारा सविधान देश के सभी भागो मे अवसर की समानता की गारन्टी नागरिको में बिना किसी भेदभाव के प्रदान करता है। देश का प्रत्येक नागरिक चाहे वह किसी भी भाग मे रहता हो उसे पूर्ण रूप से अपने विकास का अधिकार प्राप्त है।

निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि भारत मे अल्पसख्यक वास्तव मे हैं। काल्पनिक रूप से नही उनकी विशेषता विभिन्न तथा रुचिकर है। किसी क्षेत्र विशेष मे कम सख्या से होने के कारण वे ईर्ष्या एवम् उत्साह के साथ राज्य मे अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने के लिये राज्य से अपने पक्ष मे प्रयास अथवा उपचार कराते रहते हैं।

(ऑरगेनाइजर से साभार)

दयानन्द कालेज अजमेर के घेवरचन्द पर डिक्री तथा अभियोग

दयानन्द कॉलेज, अजमेर के कृषि विभाग मे कार्यरत श्री घेवरचन्द जैन (कोटेचा) के विरुद्ध कालेज की ओर से सन् 1969 मे न्यायालय मे एक वाद प्रस्तुत किया गया था कि उन्होंने कॉलेज कृषि विभाग के दूध आदि के रु-59, 128/- का गबन किया । जिसमे से 8 000/- रु उनसे प्राप्त होने पर रु 51, 128/- उनकी ओर बाकी रहा । गत 18 वर्षों से यह वाद न्यायालय में विचाराधीन था जिसका दिनाक 27-7-87 को कॉलिज के पक्ष मे निर्णय हुआ और घेवरचन्द के विरुद्ध उपरोक्त राशि की डिक्री जारी की गई । इस सम्बन्ध मे उनके विरुद्ध तीन फौजदारी अभियोग भी सन् 1969 से न्यायालय मे विचाराधीन हैं ।

दयानन्द कॉलिज के पूर्व लेखा लिपिक घेवरचन्द (कोटेचा) जैन के विरुद्ध न्यायालय ने कॉलिज के पक्ष मे लगभग पचास हजार रुपये की डिक्री दी है । इस सम्बन्ध मे इच्छुक सज्जन **मन्त्री, आर्य समाज शिक्षा सभा, अजमेर से सम्पर्क करे ।**

दिवराला का सती काण्ड ?

है महा दुखद व शर्मनाक, जो काण्ड हुआ दिवराला में ।
धर्मान्ध जनो ने भस्म करी, इक नारि अग्नि की ज्वाला में ।।
सीकर के गाव दिवराला मे अठारह वर्षीय रूप कवर ।
क्या सती हुई या जुलाई गई, वह अबला नारी अग्नि पर ।।
क्या यही धर्म है नारी का, कोई तो हमे बता दीजे ।
किस वेद-शास्त्र मे है ऐसा, कोई तो हमे जता दीजे ।।
यदि पतिव्रत धर्म यही है तो, सब विधवाए जल जावे क्या ?
जो जलकर सती नही होती, वे धर्म हीन कहलावे क्या ?
यदि पतिव्रत धर्म यही होता तो राम की तीनो माताए ।
अनसूया–सावित्री जैसी, जलजाती यह सब विधवाए ।।
जो मुगलकाल में सती हुई, वह तो इक बात निराली थी ।
इस भाति उन्होने जौहर कर, दुष्टो से लाज बचानी थी ।।
कुछ बाते हैं जो सास-ससुर, यह विधवा को समझाते ह ।
जीवेगी तो दुख मानेगी, मरजाय तो स्वर्ग बताते हैं ।।
इस भय व लालच मे आकर, यह सतीकाण्ड हो जाते हैं ।
फिर बनाके मठ व मेले लगा, पाखडी मौज उडाते है ।।
क्या यही गति है नारी की, क्या उसकी यही कहानी है ।
क्या 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' शास्त्रो की मिथ्या वाणी है ।।
क्या यही वीरता युवको की, तलवार जो ले शमशान खडे ।
काटो कुरीति पाखडा को, यदि हो तुम सच्चे वीर बड ।।
यदि शक्ति है कुछ भी तुम मे, पजाब की जाके रक्षा करो ।
निर्दोषो को जो मार रहे उनसे जूझो मारो या मरो ।।
तुम नही जानते धर्म है क्या, व सत्य है क्या, विज्ञान है क्या ?
यह अन्ध प्रथाए मानते हो, नही जानते हो इन्सान है क्या ?
जब बूढे विधुर विवाह करते, तब तुमको आती शर्म नहीं ।
क्या ऐसी बालविधवाओ का फिर विवाह करना धर्म नही ।।
पर वेद-शास्त्र तो विधवा की, शादी करना बतलाते हैं ।
वे कहते हैं जलने वाले तो घोर नर्क मे जाते हैं ।।
यो कब तक धर्म, दहेज के खातिर नारी जलाई जावेगी ।
कडे कक्कट की भाति नारि की होली मनाई जावेगी ।।
ऐ समाज सुधारक वीरजनो, इन हत्यारो को ललकारो ।
अन्याय, अधर्म की शर्मनाक, इस पाप-प्रथा को संहारो ।।
यदि यह हत्याए नही रुकी, तो मानवता मर जावेगी ।
"भास्कर" इस भीषण ज्वाला में सारी जाति जल जावेगी ।।

—**भगवती प्रसाद सिद्धान्त भास्कर,**
1430, प० शिवदीन मार्ग कृष्णपोल, जयपुर ।

पंजाब में हिंसा (पृष्ठ 1 का शेष)

रे अभी रिबैरो इस दिशा मे बडे अच्छे प्रयास कर रहे हैं । और आंशिक रूप से सफल भी हुए हैं । यदि केन्द्र सरकार सुरक्षा पट्टी के पास प्रस्ताव को लागू कर दे तो उन्हे अपने अभियान को पूर्ण करने मे बडी मदद मिलेगी ।

कुछ राजनीतिज्ञ व बुद्धिजीवी जो सरकार को पजाब समस्या के लिए मिजोरम का उदाहरण देकर उग्रवादियो से बातचीत करने की सलाह दे रहे हैं । यह श्री रै व रिबैरो के अभियान की प्राप्त उपलब्धियो को तारपीडो करने वाली बात है । इससे राज्य के आम नागरिकों का मनोबल उग्रवादियों को भावी मन्त्री के के रूप देखने से टूट जायेगा । और स्थिति पहले से भी बदतर हो जाएगी । सरकार को चाहिए कि कि नागरिको के मनोबल को गिराने वाली ऐसी किसी भी सलाह या माग को कठोरता पूर्वक ठुकरा दे ।

आर्य जगत्

*जिला आर्य समाज समस्तीपुर मे आचार्य रामानन्द शास्त्री की प्रेरणा से आर्य युवा परिषद् का गठन हुआ श्री चन्दन कुमार आर्य-अध्यक्ष, मन्त्री श्री अरुण कुमार आर्य व श्री जर्नादन आर्य को कोषाध्यक्ष बनाया गया । —**मनोज प्रसाद आर्य** (उपमन्त्री)

*आर्य समाज पाली (राज) का 10, 1 , 12, 13 सित को 47 वा वार्षिकोत्सव धूमधाम से सम्पन्न हुआ । स्वामी जगदीश्वरानन्द जी, स्वामी नित्यानन्द जी, स्वामी प्रेमानन्द जी के प्रवचन व श्री आनन्द जी के भजनोपदेश हुए । —**बालाराम आर्य** (मन्त्री)

*छोटानागपुर आर्य प्र सभा ने दो प्रस्ताव पास कर सरकार द्वारा आर्यसमाज मंदिर को डी ए वी स्कूल का हिस्सा मानकर खाली कराने के प्रयास का विरोध किया औरद्वितीय प्रस्ताव में छोटा नागपुर आ प्र सभा के गठन के बारे मे आर्य जगत् को वस्तुस्थिति से अवगत कराने और निरन्तर आर्यसमाज का प्रचार करने का सकल्प लिया । —**दयाराम पोद्दार** (मन्त्री)

श्री रतनलाल गर्ग से आर्य प्रिन्टर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज, अजमेर से प्रकाशित किया ।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य मे पैदा होने वाली समस्याओ को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 बृहस्पतिवार 15 अक्टूबर, 1987
अक 16 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात ।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

कार्तिक कृ 8 सवत 2044
वार्षिक मू 15/- एक प्रति 60 पैसे

अजमेर आर्यसमाज द्वारा सती कांड की कड़ी भर्त्सना

अजमेर 5 अक्तूबर । आर्य समाज अजमेर की रविवार को हुई एक सभा मे प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य ने रूप कवर सती काण्ड की कडी भर्त्सना करते हुए इसे भारतीय नारी समाज के लिए एक कलक तथा समस्त विश्व मे भारत की प्रतिष्ठा को धूमिल करने वाला अमानवीय कृत्य बताया।

सभा मे पारित एक प्रस्ताव मे इन वक्ताओ ने राजस्थान सरकार द्वारा जारी किए गए सरकारी अध्यादेश का स्वागत किया। परन्तु रूप कवर के सती होने के पूर्व एव पश्चात् प्रशासनिक मशीनरी द्वारा बरती गई उपेक्षा एव अकर्मण्यता के विरुद्ध कडा रोष भी प्रकट किया। सभा मे राज्य सरकार स इस काण्ड मे लिप्त दोषी व्यक्तिया के विरुद्ध कडी कायवाई करने तथा सती मदिर न बनने देने का भी अनुरोध किया गया। सभा म इस बात पर चिन्ता प्रकट की गई कि बाल विवाह छुआछूत दहज प्रथा मृत्यु भोज तथा सती प्रथा जैसी सामाजिक कुप्रथाओ एव बुराइया के विरुद्ध पहल मे ही कानून बने होने के बावजूद भी सरकार द्वारा समय पर कारगर कारवाई नही की जाती है जिससे इन सामाजिक कुप्रथाओ को प्रोत्साहन मिलना है। एक अन्य प्रस्ताव द्वारा पुरी के जगदगुरु शकराचाय निरजनदव तीथ द्वारा सती प्रथा का समथन करन पर रोष व्यक्त किया गया।

आर्यसमाज शंकराचार्य को सती प्रथा पर शास्त्रार्थ की चुनौती दे

अजमेर 5 अक्टूबर। अजमर आय समाज क भवन मे आयोजित आय सज्जनो की एक सभा को सम्बोधित करते हुए आचाय दत्तात्रय जी आय ने आय समाज की शिरोमणि सभा सावदेशिक आय प्रतिनिधि सभा को पुरी के शकराचाय स्वामी निरजनदेव को उनके सती प्रथा के वेदानुकूल होने के दावे को असत्य सिद्ध करने हेतु शास्त्राथ की चुनौती देने का सुझाव दिया।

आचाय जी के मत मे उक्त शास्त्राथ जयपुर या दिल्ली मे होना चाहिए ताकि सम्बन्धित राज्य राजस्थान की जनता इससे विशेष रूप से लाभान्वित हो सके

आर्यसमाज राची का प्रस्ताव

आय समाज राची न 27 सित को सव सम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया है। जिसमे रूपकवर सती काड की कठोर निन्दा करत हुए सती प्रथा को एक बबर एव अमानुषिक प्रथा बताया गया है।

जोगी का भेद नहीं पाया

स्वामी दयानन्द सरस्वती

नादान लोगो ने उस,
जोगी का भेद नही पाया ।।

कोई कहे मत आ इम द्वारे।
विषदाता कह पत्थर मारे।

क्या जानें किस्मत के मारे।
सुधा कलश ले आया ।।

गाली देते नही लजाये।
विष का प्याला लेकर आये।

जोगी मेरा प्रम दिवाना।
विष का घूट उडाया ।।

रोम रोम बन फोडा बोला।
मेरा सेवा के कारण था चोला।

खूब करी प्यारे ने लीला।
उसका उसे चढाया ।।

रोम रोम का बना फव्वारा। फूट पडी अमृत की धारा ।।
एक बूँद ने नास्तिक मुनि का। सारा मोह बहाया ।।
बार बार नर जीवन पाऊँ। बार बार बलिदान चढाऊँ ।।
ऋण तो भी मुझसे तेरा। जावे नही चुकाया ।।

— बुद्धदेव विद्यालङ्कार

आलोक को अभिव्यक्ति

मातु की ममता बिलखती छोडकर तुम भाग कर निकले।
बाँटने संसार को अपना, सहज अनुराग निकले!
चार लोगो का समर्पण, विश्व को क्या दान देगा?
था किसे मालूम, जैसी तुम धधकती आग निकले।

रात के उस जागरण की, अर्चनायें हैं न थोडी।
प्रात लाने की तुम्हारी साधनाय है न थोडी।
भोर की तरुणाइयो पर विश्व की आख चकित हैं—
यामिनी मे रोशनी की रश्मिया तुमने निचोडी!

तम किया है क्षार जिसने, वह किरन की ज्योति लाये,
विश्व को पीयूष बाटा पर गरल के घूंट पाये,
है किसी मे दृष्टि जो, व्यक्तित्व की वह दीप्ति देखे!
किस तरह से तुम सुबह के सूर्य बनकर मुस्कुराये!

आग को ऐसा सहेजा, क्रान्ति फूँकी थी निराली!
वेद की जलती ऋचा से जिन्दगी तुमने जला ली!
साधना आलोक की अभिव्यक्तियो मे लय हुईं यो—
तुम जले तो भोर आया, तुम बुझे तो थी दिवाली!

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र'

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रधान संपादक रामसिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्या : 21010

—: महर्षि दयानन्द का महत्व :—

—प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक रोम्यां रोलां—

ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्ति शून्य शरीर मे अपनी दुर्घर्ष शक्ति अविचलता तथा सिंह पराक्रम फूक दिये हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती उच्चतम व्यक्तित्व के पुरुष थे। यह पुरुष सिंह उन मे से एक था जिन्हे यूरोप प्राय उस समय भुला देता है जबकि वह भारत के सम्बन्ध मे अपनी धारणा बनाता है किन्तु एक दिन यूरोप को अपनी भूल मानकर उसे याद करने के लिए बाधित होना पडेगा, क्योकि उसके अन्दर कर्मयोगी, विचारक और नेता की उपयुक्त प्रतिभा का दुर्लभ सम्मिश्रण था।

दयानन्द ने अस्पृश्यता वा अछूतपन के अन्याय को सहन नही किया और उससे अधिक उनके अपहृत अधिकारो का उत्साही समर्थक दूसरा कोई नहीं हुआ। भारत में स्त्रियों की शोचनोय दशा को सुधारने मे भो दयानन्द ने बडी उदारता और साहस से काम लिया। वास्तव मे राष्ट्रीय भावना और जन-जागृति के विचार का क्रियात्मक रूप देने मे सबसे अधिक प्रबल शक्ति उसी की थी। वह निर्माण और राष्ट्र सगठन के अत्यन्त उत्साही पैगम्बरो मे से था।

***

सम्पादकीय

दयानंद देश हितकारी, तेरी हिम्मत की बलिहारी

आगामी दीपावली अर्थात् 22 अक्टूबर 1987 ई को समस्त विश्व मे आर्यसमाज के प्रवतक तथा स्वराज्य स्वभाषा स्वदेशी, स्वसस्कृति के प्रथम मत्रदाता युगपुरुष महर्षि दयानद सरस्वती का 104 वा निर्वाण दिवस सवत्र समारोह पूवक आयोजित होगा। 30 अक्टूबर 1883 ई को अजमेर स्थित भिनाय काठी मे अमावस्या की रात्रि के प्रारम्भ होने पर जब दीपमालिका पव के दीपक जगमग। उठ थे उसी समय प्रकाश का अदभुत पुज वह महामानव गायत्री मत्र का जाप करने हुए हे ईश्वर तेरी इच्छा पूण हो कहने हुए परलोक वासी हुआ था।

आज महर्षि भौतिक शरीर से इस ससार मे जीवित नही है परन्तु उनका यशरूपी शरीर सदैव अमर रहेगा। इसमे कोई अतिशयोक्ति नही कि जब तक सूरज चाद रहगा दयानन्द तेरा नाम रहगा।

राष्ट की वतमान विषम परिस्थितियो म जबकि एक ओर सती प्रथा छुआछत बाल विवाह दहेज अध विश्वास आदि सामाजिक बुराईयाँ पुन सिर उठा रही है दूसरी और भाषावाद प्रान्तीयतावाद जातिवाद सम्प्रदायवाद आदि के नाम पर देश मे अलगाववादी ताकतें हमारी राष्ट्रीयता को चोट पहुचा रही हैं तथा उग्रवाद एव आतकवाद की आधी का बवडर जोरो पर चल रहा है विदेशी शक्तियां भी देश की सीमाओ पर सक्रिय होकर हमारे अस्तित्व को आघात पहुचाना चाहती हैं और ऋषि द्वारा सस्थापित आर्यसमाज रूपी क्रान्तिकारी सगठन भी आलस्य और प्रमाद का शिकार होकर सक्रियता को भुला बैठा है ऐसे समय उस महान ऋषि का स्मरण सहज ही हो आता है। ऋषि ने आर्य भाषा आर्य धम और आर्यवित के रूप मे जिस राष्ट्रीयता की अनुभूति की थी तथा राष्ट्र के स्वाभिमान को जाग्रत करने के लिए वेदो का आधार लेकर जिस क्रान्ति का शखनाद फूका था आज समाज और राष्ट्र मे समग्र क्रान्ति लाने हेतु तथा भ्रष्टाचार मिटाने व नैतिकता के ह्रास को रोकने हेतु उसी क्रान्ति के बिगुल को पुन निनादित करना होगा।

ऋषि के हम पर सामाजिक धार्मिक राष्टीय सास्कृतिक मानवीय दृष्टि से बहुत एहसान हैं। परमात्मा हमे ऋषि के ऋण चुकाने की सामर्थ्य प्रदान करें जिससे हम सच्चे आर्य बनकर महर्षि दयानन्द और आर्य समाज के सदेश को जन-जन तक पहुचा सकें। यही हमारी ऋषि को सच्ची श्रद्धाजलि होगी।

—रासासिह

सामाजिक चेतना की आवश्यकता

विगत 4 सितम्बर 87 ई को राजस्थान के सीकर जिले के दिवराला गाँव मे रूपकवर नामक महिला का तथाकथित जो सतीकाड हुआ और उसके बाद सारे देश मे पत्र-पत्रिकाओ मे जो इसके पक्ष और विपक्ष मे माहौल बना और उसके बाद राजस्थान सरकार को भी भविष्य म सती प्रथा निषेध हतु कठोर अध्यादेश लागू करना पडा। यद्यपि सरकार के उठाये गये कदमो तथा अध्यादेश कानून की अवहलना ही हुई जिससे जनसाधारण पर स्वस्थ प्रभाव नही पडा।

देश मे सतीप्रथा निरोध कानून तथा इसी प्रकार से अन्य सामाजिक कुरीतियो बाल-विवाह दहेज मृत्यु भोज छुआ-छूत महिला सम्मान आदि सबधी कानून तो पहले से ही बने हुए हैं परन्तु उन कोरे कानूनो से ही यदि समाज सुधार हो जाता तो भारत मे आज ऐसी सामाजिक भयावह स्थिति के दुर्दिन नही देखने पडते और महर्षि दयानन्द जैसे महान समाज सेवी को जीवन मे 18 बार जहर के प्याले नही पीने पडते तथा अन्त म अपने प्राणो की आहुति नही देनी पडती। केवल सरकार और कोरे कानून कुछ भी प्रभावी नही हो सकते जब तक कि जनसाधारण मे सस्कारगत सामाजिक चेतना उत्पन्न न हो तथा इन सामाजिक कुरीतियो के प्रति तिरस्कार उपेक्षा तथा हीनता के भाव पैदा न हो तथा डके की चोट अपने प्राणो की आहुति देकर भी और सत्यार्थ विरोध सहन कर घर फूक तमाशा देखने वाले क्रान्तिकारी आगे नहीं आवें तब तक समाज को सही रास्ते पर लाना अत्यन्त कठिन है। कोरे निन्दात्मक भाषणो अथवा विरोध प्रस्ताव पारित करने मात्र से ही इन सामाजिक बुराइयो का मूलोच्छेदन नहीं होगा।

खेद के साथ कहना पडता है कि वोट की राजनीति ने समाज की बुराइयो को पनपाने मे सहयोग ही प्रदान किया है। सभी केवल यह सोचते है कि हमारे द्वारा आलोचना करने अथवा सही बात कहने पर हमसे कोई नाराज हो जायेगा अथवा जनमत हमारे खिलाफ हो जायेगा।

काश! आर्य समाज तथा अन्य समाज सेवी सगठन मिशनरी भावना से सक्रिय होकर इन सामाजिक कुरीतियो के उन्मूलन मे प्रयत्नशील हो।

अत में जैसा कबीर ने कहा है — कबीरा खडा बाजार मे लिये मुराडा हाथ अब घर जालो आसका चले हमारे साथ ॥

—रासासिह

भारत में जाति व्यवस्था और डा. अम्बेडकर

डा भीमराव अम्बेडकर एक विद्वान विचारक थे यह स्वीकार करने मे हमे कोई प्रतिवाद नही करना चाहिए। यद्यपि किसी विचारक के किन्ही विचारो से आप असहमत हो सकते है। परन्तु इतना तो अवश्य है कि उसके विचार तर्कों पर आधारित और मौलिकतापूण तो होते ही हैं।

डा अम्बेडकर ने भारत मे प्रचलित जातिवाद (जाति व्यवस्था) पर बडी गम्भीरता स चिन्तन किया था। इस सदभ मे व्यक्त आपके निम्न विचार विशेष रूप मे उल्लखनीय है

मुझे वह समय याद है जब राजनीति मे रुचि रखने वाले भारतीय लोग भारत के लोग शब्दो पर तीखी आपत्ति किया करते थे, और इस के स्थान पर भारतीय राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किए जाने पर बल देते थे। मेरे मत के अनुसार यह कहना कि हम एक राष्ट्र है भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ भी नही है। हजारो जातियो मे विभक्त समाज एक राष्ट्र कैसे हो सकता है? जितनी जल्दी हम यह स्वीकार करलें कि हम सामाजिक व मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण स अभी एक राष्ट नही है उतना ही हमारे हित म होगा। क्योकि इसका आभास होने पर ही हम एक राष्ट्र के रूप मे उभर सकते है। और तभी इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु चिन्तन व प्रयत्न कर सकते हैं। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु हमे सयुक्त राष्ट अमेरिका की अपेक्षा अधिक परिश्रम करना होगा क्योकि वहाँ का समाज छोटी 2 जातियो मे विभक्त नही है जब कि भारत के लोग जातियों मे विभक्त हैं। यह व्यवस्था राष्ट्रीयता की भावना के प्रतिकूल है। यह जातीय भावना भारतीय सामाजिक जीवन मे अलगाव की भावना को बल प्रदान करती है समाज का यह ढाचा जातीय समूहो के बीच ईर्ष्या व शत्रुता की भावना को जन्म देता है। इन सब कठिनाइयो का दमन करन के लिए हमे सतत परिश्रम करना होगा। यदि हम सच्चे अर्थों मे एक राष्ट्र के रूप मे ससार मे अपने लिए स्थान बनाना चाहते हैं। केवल एक राष्ट्र मे ही भाईचारे की भावना की कल्पना की जा सकती है उसकी अनुपस्थिति मे नही। भ्रातृत्व समानता एव स्वतन्त्रता के अभाव मे एक राष्ट्' की कल्पना करना किसी वस्तु पर की गयी रग की परत के समान निबल होगा।'

देश के सभी प्रबुद्ध जनो को डा अम्बेडकर के उक्त विचारो पर गम्भीरता से मनन करना चाहिए।

—वीरेन्द्र आर्य

ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे ?

— क्षितीश वेदालंकार —

प्रिय महोदय,

आपका पत्र मिला। आप चाहते हैं कि ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे—इस विषय में मैं अपने विचार लिखूँ। आपने जिस सरलता से यह प्रश्न कर दिया है, मुझे उसका उत्तर उतना ही दुरूह लगता है। प्रत्युत मेरे मन में तो यह भी आता है कि यदि आपने यही प्रश्न साक्षात् ऋषि-दयानन्द से किया होता तो कदाचित् वे भी तुरन्त उत्तर देने से पहले कुछ देर सोच में पड़ जाते। चाहना तो मन का विषय है। कितने ऐसे लोग हैं जो स्वयं अपने मन का विश्लेषण कर सकते हैं। ऋषि दयानन्द जैसे योगिराज क्षण भर सोचने के पश्चात् इस प्रश्न का उत्तर दे ही देते, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु जो भी भिन्न व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष के मन की बात का ज्ञान प्राप्त कर सके, यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। योगियों के लिए ही वह सुकर हो सकता है।

ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे—इसका यथार्थ उत्तर तो वही दे सकते थे। परन्तु उनका जीवन चरित्र पढ़ने से तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का पारायण करने से उनकी चाहना के सम्बन्ध में मेरे मन में जो धारणा बनी है, उसका संकेत मैं अवश्य कर सकता हूँ। शायद आप के पत्र का प्रयोजन भी यही है।

ऋषि दयानन्द क्या चाहते थे—इस प्रश्न का एक संक्षिप्त उत्तर जो प्रत्येक आर्यसमाजी के मन में सदा स्फुरित होगा, यह हो सकता है 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'—अर्थात् सारे संसार को आर्य बनाओ, यही चाहना ऋषि के मन में थी। कुछ भाई शायद यह कहना पसन्द करें कि गुरु विरजानन्द ने दीक्षान्त के समय ब्रह्मचारी दयानन्द को वैदिक धर्म के प्रचार का जो उपदेश और आदेश दिया था, उसी को पूरा करना ऋषि दयानन्द के मन की कामना थी। परन्तु यह उत्तर तो प्रश्न को आवश्यकता से अधिक सरल कर देता है।

मेरे मन को चिरकाल से एक प्रश्न लगातार कुरेदता रहा है—और वह यह कि क्या व्यष्टि के बिना समष्टि की कोई सत्ता है? क्या इकाई के बिना कभी दहाई की कल्पना की जा सकती है? क्या घर के अभाव में बाहर का कोई मूल्य है? क्या व्यक्ति में सुधार किए बिना समाज में सुधार सम्भव है? इसलिए सारे विश्व को सुधारने का ठेका लेने के बजाय व्यक्ति को ही सुधारने की बात कही जाए तो व्यवहारिकता की दृष्टि से कदाचित् अधिक समीचीन हो।

परन्तु इस बुनियादी बात से भी मेरे मन को सन्तोष नहीं होता। मुझे लगता है कि ऋषि दयानन्द व्यक्ति को केवल व्यक्तिगत जीवन की परिधि तक ही सीमित नहीं रखना चाहते थे। व्यक्ति समाज का अविच्छिन्न अंग है और समाज राष्ट्र का अविच्छिन्न अंग है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों अन्योन्याश्रित हैं और इनको अलग-अलग करके देखना दृष्टि की धूमिलता का परिचायक है। 'आर्य समाज' में आर्य शब्द यदि व्यक्ति का वाचक है तो समाज शब्द ऐसे जन समूह का वाचक है जो राष्ट्र का अविच्छिन्न अंग है। ऋषि दयानन्द के मन में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में तीनों सदा एक साथ उपस्थित रहे हैं, क्षण भर को भी अलग नहीं हुए, मुझे ऐसा प्रतीत होता है। अपनी इस धारणा के समर्थन में मेरा विवेचन निम्न प्रकार है —

ऋषि दयानन्द ने इस देश को आर्यावर्त के नाम से अभिहित किया है और देश के सुनागरिक को आर्य शब्द से सम्बोधित किया है। निस्सन्देह आर्य शब्द गुणवाची है। इससे यह ध्वनित होता है कि ऋषि भारत के प्रत्येक नागरिक को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाना चाहते थे। आर्यावर्त के निवासियों का धर्म उन्होंने वैदिक धर्म बताया और भाषा आर्य भाषा (अर्थात् हिन्दी, संस्कृत नहीं) साथ ही अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने महाभारत कालीन महाराज युधिष्ठिर से लेकर दिल्ली के राजा यशपाल तक की पीढ़ियों का उल्लेख करके आर्य राजाओं की वंशावलि भी दी है। इस प्रकार जब मैं आर्य राजाओं की वंशावलि, भारतवर्ष का नाम आर्यावर्त, धर्म का नाम वैदिक धर्म, भाषा का नाम आर्यभाषा और नागरिकों का आर्य नाम से सम्बोधन देखता हूँ, तब मेरे मन में इस बात के लिए सन्देह नहीं रहता कि वे एक देश, एक धर्म, एक भाषा और एक जाति के पक्षपाती थे। आर्य राजाओं की वंशावलि देने का तात्पर्य इसके सिवाय और कुछ नहीं है कि वे इस देश में पुनः वैदिक धर्मावलम्बी आर्य राजाओं का राज्य देखना चाहते थे। इस देश की पराधीनता से कितनी मानसिक वेदना ऋषिवर दयानन्द को होती थी इसकी कल्पना हम सत्यार्थप्रकाश में स्थान-स्थान पर विकीर्ण देश के अधःपतन के मर्मान्तक विवरण से ही जान सकते हैं। परन्तु स्वराज्य-प्राप्ति मात्र से ही वे सन्तुष्ट होने वाले नहीं थे। स्वराज्य के साथ सुराज्य भी उनका ध्येय था। इस सुराज्य के सु को चरितार्थ करने के लिए ही तो नागरिकों को आर्य (श्रेष्ठ) बनने की उन्होंने प्रेरणा दी थी।

जब ऋषि के इन विचारों की ओर मेरा ध्यान जाता है तब मुझे लगता है कि 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के बजाय पहले आर्यावर्त को ही उसके अपने सत्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करना उनका तात्कालिक उद्देश्य था और आर्यावर्त में आर्यों का राज्य स्थापित करने के पश्चात् सशक्त और बलाढ्य आर्यावर्त के माध्यम से वे संसार में आर्यों के चक्रवर्ती साम्राज्य या कृण्वन्तो विश्वमार्यम् के लक्ष्य की पूर्ति करना चाहते थे। बिना जयहिन्द' के वे जय-जगत् का नारा लगाना उचित नहीं समझते थे, क्योंकि इकाई के बिना दहाई को प्राप्त करना व्यवहारिकता नहीं है।

शायद मेरे इस विश्लेषण को कुछ लोग अंग्रेजी के Chauvinism (उग्र राष्ट्रवाद) शब्द से, जिसे आजकल की राजनीतिक शब्दावली में राजतिक्त लोग गाली की तरह प्रयुक्त किया करते हैं अभिहित करें परन्तु मैं समझता हूँ कि ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व का कण-कण इसी उग्र राष्ट्रवाद की भावना से मण्डित था। यदि स्वप्निल आदर्शवाद के वशीभूत होकर हम ऋषि के व्यक्तित्व में से इस उग्र राष्ट्रवाद को निकाल दें जैसा कि अनेक धुरन्धर विश्ववादी और अध्यात्मवादी आर्यसमाजी नेता किया करते हैं, तो मुझे लगता है कि ऋषि की मानसिक भावना का वह अव्यवहारिक और अपूर्ण आकलन होगा। ऐसा कह कर मैं ऋषि के व्यक्तित्व को संकुचित नहीं करना चाहता, किन्तु उसे यथार्थ की भित्ति पर स्थापित करना चाहता हूँ।

परन्तु सम्पादक जी ऋषि क्या चाहते थे—यह प्रश्न तो अब गया-बीता हो गया। अब तो आप मुझ से यह पूछते कि आर्यसमाजी क्या चाहते हैं या देशवासी क्या चाहते हैं? आज के स्वार्थ परायण पदलोलुप परस्पर पगड़ी उछालने में पटु सदा संघर्षरत आर्यसमाजियों को इस बात की क्या चिन्ता है कि ऋषि क्या चाहते थे? या पहले अंग्रेजों के दास और अब अंग्रेजी के दास भारतवासियों को इस बात की क्या परवाह है कि ऋषि का स्थान क्या था या ऋषियों की इस भूमि का क्या होगा? राष्ट्र जाय भाड़ में सबको अपने स्वार्थ से प्रयोजन है।

और सम्पादक जी सच कहूँ—जिस महापुरुष के गीत गाते लोग नहीं थकते और जिसकी चरणरज तक का स्पर्श करके आज के स्वनाम-धन्य महतो महान् राष्ट्रीय नेतागण आज भी राष्ट्रीयता के मन्त्र से अभिषिक्त हो सकते हैं—वह ऋषि दयानन्द यदि आज की स्थिति में पुनः भारत में आ जाएँ तो उन्हें स्वतन्त्र भारत सरकार के किसी भी विभाग में छोटे से छोटे क्लर्क तक की नौकरी नहीं मिल सकेगी, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी नहीं आती थी। इसलिए यह मत पूछिए कि ऋषि क्या चाहते थे या हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान का तकाजा क्या है? हमसे केवल यह पूछिए कि हम क्या चाहते हैं? हमें न ऋषि से प्रयोजन है, न ही राष्ट्र से, हम केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रयोजन है।

***

विश्व ज्योति ऋषि दयानन्द

— प मदनमोहन जी विद्यासागर, हैदराबाद —

दीपावली का पवित्र ऐतिहासिक दिवस प्रतिवर्ष की भाति एक बार फिर अपनी पूरी शान सजधज और गौरव के साथ आ गया है। भारत राष्ट्र मे मनाये जाने वाले अनेक प्रकार के पर्वों मे दीपावली का अपना ही विशेष स्थान है। अतिप्राचीनकालीन से कार्तिकमास की अमावस्या की तिथि नवान्नेष्टि पव तिथि (त्यौहार दिवस) के रूप मे विख्यात है। नवसस्येष्टि का अथ है—नव नया सस्य-फसल इष्टि यज्ञ करना अर्थात नयी फसल से यज्ञ करना।' इस दिन नये अन्न से यज्ञ करने क आचार जब से मनुष्य ने कृषि आरम्भ की है तभी से चला आ रहा है। कृषि के द्वारा धन-धान्य की अधिकता होने से यह पव लक्ष्मी पूजा के रूप मे भी प्रसिद्ध है।

पौराणिक साहित्य मे धन-सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी को लक्ष्मी नाम से पकारा गया है उसका वाहन उल्लू को माना है। वेदविद्या के लोप हो जाने पर जब भारत देश मे पौराणिक युग आ गया तब इस कल्पित उलूक वाहिनी लक्ष्मी देवी के पूजन की भी यही तिथि ठहराई गई। लक्ष्मी क्या है और कहा रहती है यह न समझ कर अज्ञो ने कल्पित-मूर्ति बनाकर पत्त-फूल-बताशो से उसी की पूजा शुरू कर दी। फिर भी इस रूपक से पुराणो ने इतना अवश्य सकेत किया कि लक्ष्मी के उपासक धनलोलुप उलूक हैं क्योंक लक्ष्मी का बोझा उलूक ही उठाता है। उल्लू का जहाज रात को ही यात्रा करता है और धन का आना जाना भी ब्लैक-मार्केट ही होता है।

आर्यों का एक-एक पव किसी विशेष कृत्य के लिये उद्दिष्ट है इस लिये उसका सम्बन्ध किसी न किसी विशेष वर्ग के साथ स्थापित है। समाज-विकास मे चार तत्व प्रधान हैं विद्या शक्ति धनधान्य और सेवा। विद्या मे सभ्यता सस्कृति-ज्ञान के प्रचारक ब्राह्मण कहलाते हैं राष्ट हित मे अपना रक्त बहाने वाले तथा उत्तम शासन द्वारा सुख शानि कायम रखन वाले क्षत्रिय कहलाते हैं राष्ट्र के व्यापार को बढा प्रजा का पालन-पोषण करने वाले वैश्य और खून पसीना बहाने वाले श्रमिक शद्र कहलाते हैं। श्रावणी उपाकम (अगस्त मास) स्वाध्याय से सम्बन्ध होने के कारण ब्राह्मण-पव है विजयदशमी (अक्टबर मास) आयुध पूजा दिग्विजय यात्रा से सम्बन्ध रखने के कारण क्षत्रिय-पव है इस दीपावली या नवसस्येष्टि के पव का विशेष सम्बन्ध वैश्यकम अर्थात कृषि वाणिज्य गोसेवा तथा उनकी अधिष्ठात्री समृद्धि की देवा लक्ष्मी मे है सो यह वैश्य पव है और होली शूद्र पव माना जाता है।

प्राचीन वैदिककाल मे जिस पद्धति से यह पव नये अन्न से यज्ञ करने के रूप मे मनाया जाता था उस पद्धति का अब सवथा लोप हो गया है। और उसके स्थान पर केवल उसके बाह्य आडम्बर गृहपरिशोधन गृहपरि-मार्जन दीये जलाना पटाखे बजाना मिष्टान्न तथा लाजा (चिवड) वितरण और पौराणिक काल मे प्रचलित हुए लक्ष्मीपूजन द्यूत एव दुराचारादि ही शेष रह गये है। इस शुभ पव पर व्यापारियो मे जुआ खेलने का बहुत ही बुरा रिवाज चल पडा है। अपनी पावन सस्कृति की रक्षा के लिए इसको नष्ट करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

विजयादशमी का रावणवध और लका विजय हुआ और दीपावली के दिवस मर्यादापुरुषोत्तम राम ने वनवास पूरा कर अपनी राजधानी अयोध्या म प्रवेश किया वह सब इतिहास विरुद्ध होने से असत्य है। रावण-वध फाल्गुन (फरवरी) या वैशाख (अप्रैल) म हुआ था। इस दशा मे श्रीराम का आगमन कार्तिक मास (अक्टूबर नवम्बर) म किस प्रकार सम्भव है? जो भी हो जब भी पौराणिको ने लका विजय करके अयोध्या मे श्रीराम के आगमन की प्रसन्नता मे स्वागत समारोह की तिथि भी यह ठहराई तो इस कल्पना की प्रसिद्धि होते-होते घर-घर दीपमाला जलाने की प्रथा तभी से जारी हुई और इस नवसस्येष्टि पव को दीपमालिका यह एक और नाम दिया गया।

जैन धम के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के स्वर्गारोहण की भी यह ही ऐतिहासिक तिथि है तथा इसी पावन तिथि को श्रद्धेय स्वामी रामतीर्थ जी महाराज ने भी अपने भौतिक देह का त्याग किया था।

किन्तु इस दीपमाला की महारात्रि का महत्व एक अन्य युगपरिवतनकारी घटना ने और भी बढा दिया है। इस युग मे आय जाति और वैदिक धर्म सस्कृति सभ्यता के उद्धारक और समस्त ससार को शान्ति का सन्देश देने वाले सुचेता महर्षि दयानन्द को बिना स्मरण किये दीपावली पव अधूरा रह जावेगा। इसी तिथि का एक सायकाल विक्रमी सम्वत् 1940 तदनुसार 30 अक्तूबर सन 1883 ई मगलवार को आयसमाज के सस्थापक महर्षि दयानन्द की आत्मा ने नश्वर शरीर त्याग कर परमपद प्राप्त किया था। महर्षि अपने बिस्तर पर पड थे। उन्हे दूध मे काच घोलकर दिया गया था। यह 16 वीं बार उन्हे विष का प्रसाद मिला था। सब आँतें फट चुकी थी। सारा शरीर लाल-लाल फफोलो से भरा था मानो महर्षि अपनी देह पर दीपमालिका सजाये हो। एक परम नास्तिक महान वैज्ञानिक गुरुदत्त विद्यार्थी उनके पास बैठा उन पर टकटकी लगाये था। महर्षि ने मधुर स्वर मे प्राथना की श्वास-श्वास मे ओ३म! ओ३म!! ओ३म!!! की ध्वनि प्रस्फुटित होने लगी और ईश्वर तेरी इच्छा पूण हो की ध्वनि मे अस्त होते होते सूय के साथ ही युग प्रकाशक महर्षि दयानन्द अनन्तपथ मे विलीन हो गया। इसलिये वैदिक सभ्यताभिमानियो के लिये विशेष रूप से कार्तिकीय अमावस्या दीपावलि का दिन दयानन्द-निर्वाण-पव की पुण्यतिथि बन गई। महान ऋषि की स्मृति को चिरस्थायी बनाये रखने तथा प्रतिवष उस दिव्य-जन के आत्मोत्सग के पावन चित्र को अपने हृदय-पटल पर चित्रित रखने के लिये इस तिथि को दयानन्द निर्वाण पव के नाम से मनाया जाने लगा है।

यूरोप के प्रसिद्ध साहित्यिक विद्वान् श्री रोमा रोल्या ने गत शताब्दी मे रामकृष्ण परमहस का जीवन चरित्र फ्रेंच भाषा मे लिखा है। उस ग्रन्थ के प्रथम भाग का अग्रजी अनुवाद कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्रीयुत ई एफ मलकालन स्मिथ एम ए पी एच डी (कैन्टब) ने किया है और प्रकाशन 1930 म अद्वैत आश्रम मायावती अल्मोडा (उत्तर प्रदेश भारत) द्वारा किया गया है। इस जीवन चरित्र मे श्री रोमा रोल्या ने Bilders of Unity नामक अध्याय मे लगभग 25 पृष्ठो मे वतमान भारत की धार्मिक सामाजिक एव राष्ट्रीय जागृति के सूत्रधार महर्षि दयानन्द और आयसमाज के कार्य और महत्व के सम्बन्ध मे भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। उससे पता चलता है कि विचारक रोमारोल्या के दिमाग पर महर्षि दयानन्द के महान व्यक्तित्व और पवित्र सिद्धान्तो एव देश सेवा की जो अमिट छाप लग चुकी थी उसे एक अन्य भारतीय सन्त की जीवनी लिखते समय भी वे भुला न सके। उन्होने लिखा है—

सिंह समान निर्भीक प्रकृति वाला यह महापुरुष उन व्यक्तियो मे था, जिन्हे भारत का मूल्याकन करते समय यूरोप (का विचारक मण्डल) भुलाने की चेष्टा करता हुआ भी न भुला सकेगा। क्योकि ऐसा करना उस (यूरोप) के लिये एक महगा सौदा साबित होगा। इस महान् पुरुष मे चिन्तन कम और नेतृत्व का अनुपम सम्मिश्रण था। (पृ 146)

ऋषि दयानन्द ने भारत मे बढते हुए ईसाइयत और पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव को देखा। वे आय जाति के लिये खेतो को घातक समझते थे। राजा राममोहन राय की तरह उन्होने उनके साथ समझौता नहीं किया। वे आय धम आय सभ्यता आय सस्कृति तथा आय ज्ञान सम्पत्ति को अपने आप मे पूण समझते थे। इसलिये रोमारोल्या का यह कथन ठीक है कि— दयानन्द वह व्यक्ति नहीं था, जो कि पाश्चात्य विचारो से विमुग्ध (प्रभावित) दार्शनिको से समझौता कर लेता। (पृष्ठ 153)

→

विश्व ज्योति ऋषि (शेष पृष्ठ 4 का)

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश मे ही उस महान व्यक्ति का उत्साहपूर्वक स्वागत होने का कारण सरलता से समझ मे आ सकता है कि वह वेदो का उग्र प्रचारक एव मन्त्र द्रष्टा महर्षि था महान आर्य जाति के महर्षियो की परम्परा का अग था और वीर भावना के साथ प्राचीन भारत के पवित्र ग्रथो का आधार लेकर कार्यक्षेत्र मे अवतीर्ण हुआ था। उसने अकेले भारत पर आक्रमण करने वालो के विरुद्ध मोर्चा लगाया। (पृष्ठ 157) इसीलिये यह ऐतिहासिक तथ्य है कि– दयानन्द की तेजस्वी और प्रौढ शिक्षाए उसके देशवासियो की विचारधारा के अनुकूल थी और उन शिक्षाओ से भारतीय राष्ट्रीयता का सर्वप्रथम जागरण हुआ। (पृ 153)

'सत्य यह है कि भारत के लिए वह दिन एक युग प्रवर्तक दिन था जब एक ब्राह्मण ने न केवल यह स्वीकार किया कि उस वेदज्ञान पर मनुष्यमात्र का अधिकार है जिनका पठन-पाठन उनके पूर्व कट्टरपन्थी ब्राह्मणों ने निषिद्ध कर दिया था अपितु इस बात पर भी बल दिया कि वेदो का पढना पढाना और सुनना-सुनाना आर्यों का परम धर्म है। (पृ 156)

इन उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि–

वस्तुत भारतीय राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जन्म और जागरण मे जो इस समय (ईसवी सन 1930) उस (भारत) देश मे अपने पूर्णयौवन मे देख पड रही है सबसे प्रबल प्रेरणा दयानन्द से प्राप्त हुई थी। (पृष्ठ 165)

तो क्या ऋषि दयानन्द भारत राष्ट्र के ही उन्नायक और जागरूक नेता थे? उन्हे ऐसा समझना विश्व म सब जातियो के वर्तमान उत्थान की वास्तविक पृष्ठभूमि को न समझना होगा।

(1) सब राष्ट्रो की उन्नति मे ही अपने राष्ट्र की उन्नति समझना यह अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण वर्तमान युग के राजनीतिज्ञो को महर्षि दयानन्द की सर्वप्रथम अमूल्य देन है।

(2) सबको अपने शारीरिक बौद्धिक व आत्मक हितकारी नियम म स्वतत्र और सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने मे परतत्र अर्थात समष्टि के आधीन रहना चाहिये इस प्रकार मे ही व्यक्ति समष्टि का सम्बन्ध होना चाहिये यह विचार भी महर्षि दयानन्द के दिमाग की ही उपज है।

(3) जाति रग मत मजहब व वर्ग की दृष्टि से न कोई बडा है न कोई छोटा है इसलिये सबको समानता स्वतन्त्रता-भ्रातृ भाव का समान अधिकार मिलना चाहिए यह नारा सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने लगाया।

हमने ऋषि दयानन्द को बहुत छोटे ढग पर सोचा है। बहुतो ने उसे हिन्दू जाति के रखवैया के रूप म देखा है। यह सूर्य को दीपक बताने जैसा है। इस दीपावलि के पुण्यपर्व पर युग पुरुष के रूप मे ऋषि का स्मरण होना चाहिये। भवसागर म प्रकाश स्तम्भ के रूप म दिग्दिगन्त का मार्ग दिखाने वाले के रूप मे उसका स्तम्भ होना चाहिये।

भारतीय स्वराज्य के प्रथम मन्त्र-द्रष्टा—

महर्षि दयानन्द सरस्वती

(81 वें ऋषि निर्वाण दिवस पर दी गई श्रद्धांजलि)

— स्व प दीनदयाल जी उपाध्याय

विक्रमाब्द 1914 के स्वातन्त्र्य समर मे हमारी पराजय के बाद जब अग्रेजो की विजय पताका चातुरन्त भारत मे फहरा रही थी हमारे राष्ट्र जीवन पर चतुर्दिक से मर्मान्तक प्रहार हो रहे थे और हम आत्मविस्मृत और आत्माभिमान शून्य हो निरीह भाव से अग्रेज प्रभु की करुणाकोर की लाला यित अपना सर्वस्व गवाते जा रहे थे तब भारत के जीवन मे जागृति शख फूकने वाले जो महापुरुष अवतीर्ण हुए उनमे महर्षि दयानन्द का स्थान अग्रगण्य है। उनके पास राष्ट्र की दुरवस्था को देखकर दुखित होने वाला सवेदनशील हृदय था रोगो का सही निदान और उपचार करने वाले चिकित्सक की बुद्धि थी एक सुधारक की लगन और कर्मठता तथ बुराई से जूझने वाले एक शूरवीर का साहस था और सबसे बढकर वह आर्ष दृष्टि थी जो विश्व के द्वन्द्व और मोहान्धकार को चीर कर सत्य का दर्शन कर सके। सत्य सेवा का सम्बल लेकर वे जीवनपथ पर बढे। परायो की क्षमकिया और अपनो की उपेक्षा तिरस्कार और अवहेलना कोई भी उनको विचलित नही कर पाया। भारत के पतित और विकृत जीवन को उन्होने समुज्जवल सुसस्कृत एव सत्य प्राचीन आदर्शों के साथ जोडा तथा समाज मे कुरीतियो से लडने तथा अपना जीवन श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा पैदा की।

धार्मिक क्रान्ति को आधारभूत मानकर उन्होने मूलत उसी क्षेत्र मे काम किया। किन्तु जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही जिसको अछूता छोडा। स्वदेशी और स्वराज्य का मन्त्र सर्वप्रथम उन्होने ही दिया। जिनकी दृष्टिमात्र राजनीतिक है तथा जो पश्चिम की राजनीतिक विचारधाराओ और परम्पराओ का अनुकरण ही भारत की नियति मानते हैं वे महर्षि को एकपन्थीय अथवा धार्मिक नेता मानकर उनकी अवहेलना कर देते हैं। उन्हे न तो भारत की आत्मा का ज्ञान है और न महर्षि दयानन्द की महत्ता का।

महर्षि दयानन्द का काम अभी पूरा नही हुआ। स्वराज्य के बाद तो हमारा व्यामोह और बढ गया है। महर्षि ने हमे बताया था कि हम उलूकवाहिनी की पूजा के स्थान पर उसे साधन मानकर ऋत की उपासना करें। पर अमावस की कालरात्रि मे आज्वल्य भास्कर का निर्वाण हो गया। हम दीपावली मनाकर अन्धकार से लडने का प्रयास कर रहे हैं सत्य को छोडकर लक्ष्मी की पूजा मे लगे है। स्वराज्य मे स्वधर्म चला गया। आर्थिक उन्नति की आकाक्षा मे दर दर भीख का कटोरा लेकर घूम रहे है विदेशी मुद्रा अर्जन के लालच मे भारत की जनता को धर्मभ्रष्ट एव राष्ट्रभ्रष्ट करने वाले मसीही पुजारियो को आमन्त्रण देकर उनके आदरातिथ्य मे अपने को धन्य मान रहे है। आवश्यकता है कि महर्षि का वज्र घोष फिर से भारताकाश म गूजे। क्या आर्य बन्धु महर्षि के सन्देश को लेकर खडे होगे? तभी तो दीपावली की रात्रि जिसमे महर्षि का निर्वाण हुआ के सम्बन्ध म कवि के प्रश्न का सत्य उत्तर मिल सकेगा—

इसे रात कहू कि प्रभात कहू?

दीपावली हमारे लिये घोर तमाच्छन्न रात्रि ही रहेगी अथवा नववर्ष का नव सदेश और नव चैतन्य लानेवाली प्रतिपदा के प्रभात की पूर्ववाहिका।

—प्रस्तुति ऋचा आर्य्या

पत्र बोलते हैं

आर्यसमाज और पौराणिक घुसपैठिये

महोदय

आर्य पुनर्गठन 30 सित 87 की प्रति मेरे सामने है। भले ही पृष्ठ छ है परन्तु यह सामग्री पठनीय मननीय प्रेरक एव हृदयोद्वेलक है। यह सत्य है कि कुछ पौराणिक घसपैठिये बनकर आर्य समाजो मे प्रवेश कर चुके है जिनका आर्यसमाज के मौलिक सिद्धान्तो पर विश्वास नही है। इसलिए शुद्धवातावरण नही बन पा रहा है। आपने सार्वदेशिक सभा के प्रस्ताव को पहले पृष्ठ पर छाप कर एक नई जागृति पैदा करने का प्रयास किया है आप साधुवाद के पात्र हैं।

श्री वीरेन्द्र कुमार आर्य ने ठीक कहा कि पजाब समस्या सुधार की ओर अग्रसर है। और श्री रे व श्री रिबैरो इस दिशा मे बड अच्छे प्रयास कर रहे है। उग्रवादियो से बातचीत नही की जाती चाहिए जब तक माहौल शान्त नही हो जाता नही तो राज्यपाल एव पुलिस प्रमुख के अभियान को तारपीडो का मामला बन सकता है। सपादकीय मे आपने पुराण पथियो की जडें उखाडने का ठीक परामर्श दिया। यह अभियान ऋषि की नगरी अजमेर से चले और राजस्थान के अज्ञानियो व अधविश्वासियो को झझोड दे ताकि भविष्य मे एसा काण्ड दोहराया न जाय।

—वीर भान वीर
आर्यसमाज तिलकनगर दिल्ली

आर्य जगत्

छोटा नागपुर आर्य प्रतिनिधि सभा, रांची के उल्लेखनीय कार्य

31 मई 1987 ई को नवस्थापित सभा से राची आर्यसमाज को केन्द्र बनाकर आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए अनेक सराहनीय कार्य किए है। यथा—एक पूर्ण कालिक सवैतनिक प्रचारक की नियुक्ति रथयात्रा मेले मे प्रचार कैम्प का आयोजन, गढवा आर्यसमाज को सरकारी अधिकारियो द्वारा खाली कराने के प्रयास के विरुद्ध विशाल मौन जुलूस, वेदप्रचार कार्यक्रम का विशाल आयोजन, जैनामोड मे नवीन आर्यसमाज की स्थापना तथा शाति आश्रम, लोहरदगा मे गुरुकुल के सचालनार्थ प्रति माह पाच सौ रुपयो की स्वीकृति। निर्देशन सभा प्रधान श्री जयमगल शर्मा व सभा मत्री श्री दयाराम पोद्दार।

—कार्यालय मत्री

आर्यसमाज किशनगढ (अजमेर) का वार्षिकोत्सव 28, 29 व 30 सितम्बर को मनाया गया। श्री प रासासिंह जी, प्रो बुद्धिप्रकाश जी आर्य के उपदेश व श्री सत्यपाल जी 'सरल' के भजनोपदेश हुए।

—मत्री

डी ए वी शताब्दी समापन समारोह, रविवार 15 नवम्बर को प्रात 10 से दोपहर 1 बजे तक तालकटोरा इन्डोर स्टेडियम, नई दिल्ली मे मनाया जा रहा है। भारत के उप राष्ट्रपति माननीय डा शकर दयाल जी शर्मा ने उसके मुख्य अतिथि होने की स्वीकृति दे दी है। —सगठन सचिव

आचार्य जी द्वारा पुरस्कार राशि आर्य समाज को भेंट

आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य ने गुरुकुल कागडी विश्वविद्यालय द्वारा उन्हे प्रदत्त गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार से सम्मानित होने के उपलक्ष मे प्राप्त 1000/- रुपये की नगद राशि आर्य समाज, अजमेर को जन-कल्याणकारी कार्यों के लिए उपहार रूप मे प्रदान कर दी।

आर्य समाज अजमेर का प्रशसनीय निर्णय

आर्य समाज अजमेर की यह आदर्श परम्परा रही है कि यहा सदा ही वार्षिक चुनाव सर्व सम्मति से निर्विरोध होते है। इस बार भी दिनाक 6-9-87 रविवार को आर्यसमाज अजमेर के चुनाव निर्विरोध सम्पन्न हुए। इसका श्रेय हमारे प्रधान आदरणीय दत्तात्रेय जी आर्य को है। जिनके प्रयत्नो से एव प्रेरणा से आर्य समाज की गतिविधिया निरन्तर साकार रूप धारण करती जा रही है।

इस अवसर पर वेदरत्न आर्य ने चुनाव के पश्चात् एक सुझाव दिया कि 'आर्य समाज के नवनिर्वाचित पदाधिकारियो एव अतरग सदस्यो की उपस्थिति का एक अलग से रजिस्टर बनाया जाय। जिसमे आर्य समाज के साप्ताहिक सत्सगो तथा पर्वो पर उपस्थित पदाधिकारी तथा अतरग के सदस्य हस्ताक्षर करें।" इससे मालूम पडेगा कि आर्य समाज की विभिन्न गतिविधियो मे हमारा क्या योगदान है। उपरोक्त प्रस्ताव साधारण सभा के द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया।

इस प्रस्ताव को आर्य समाज अजमेर द्वारा क्रियान्वित भी कर दिया गया है। प्रत्येक पदाधिकारी तथा अतरग सदस्य की पचास प्रतिशत उपस्थिति अनिवार्य है।

—वेदरत्न आर्य, उप मन्त्री

श्री मुलखराज भल्ला व स्वामी वेदानन्द जी के निधन पर आर्य समाज का शोक प्रस्ताव

आर्य समाज, अजमेर ने एक शोक प्रस्ताव पारित कर प्रख्यात आर्य नेता श्री मुलखराज भल्ला के निधन पर गहरा दुख प्रकट किया है। और परमपिता परमात्मा से उनकी आत्मा को शाति देने की प्रार्थना की है। एक अन्य शोक प्रस्ताव म समाज ने स्वामी वेदानन्द जी वेदवागीश जी के निधन को आर्यसमाज की अपूरणीय क्षति बताते हुए शोक प्रकट किया। प्रस्ताव म स्वामी जी को गम्भीर विद्वता एव लेखन प्रतिभा का धनी बताया गया है। और आर्यसमाज के प्रचार प्रचार के लिए की गई उनकी सेवाओ को स्मरण किया है।

भव्य ऋषि मेला

ऋषि निर्वाण पर्व के उपलक्ष्य मे परोपकारिणी सभा के तत्वावधान मे दिनाक 28 अक्टूबर से 1 नवम्बर एक भव्य ऋषि मेले का आयोजन ऋषि उद्यान, आनासागर तट, अजमेर मे किया जा रहा है। ऋषि मेले मे पधार रहे हैं आर्य जगत् के मूर्धन्य नेता वीतराग स्वामी सर्वानन्द जी महाराज, स्वामी सत्यप्रकाश जी, व स्वामी ओमानन्द जी, श्री क्षितीशजी वेदालकार, डा भवानीलालजी भारतीय, प्रो वेदव्यासजी श्री रामनाथ सहगल, ब्रह्मचारी आर्य नरेश। भजनोपदेशक श्री गुलाब सिंह राघव व श्रीमती शिवराजवती जी आर्या।

धर्म शिक्षा पढ़ाने वाले शिक्षकों का प्रशिक्षण सम्पन्न

आर्य समाज अजमेर के तत्वावधान मे आर्य समाज शिक्षा सभा के उपमत्री श्री वेदरत्न जी आर्य के सयोजकत्व मे धर्म शिक्षक प्रशिक्षण कार्य 8 अक्टूबर से 10 अक्टूबर 87 तक सम्पन्न हुआ।

प्राथमिक कक्षाओ को पढने वाले धर्म शिक्षको को श्री आचार्य गोविन्द सिंह उच्च प्राथमिक कक्षाओ को पढाने वाले धर्म शिक्षको को प्रो बुद्धि प्रकाश आर्य तथा उच्च माध्यमिक स्तर की कक्षाओ को पढाने वाले धर्म शिक्षको को श्री श्री डा कृष्णपालसिंह जी ने प्रशिक्षण एव मार्गदर्शन प्रदान किया।

प्रशिक्षण के दौरान आर्य समाज अजमेर के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य ने सभी शिक्षको से निष्ठा पूर्वक प्रभावशाली ढग से अपने कर्तव्य पालन की प्रेरणा दी।

समाज के मत्री श्री रासासिंह ने सभी विद्वानो एव प्रशिक्षणार्थियो के प्रति आभार व्यक्त किया। —प्रचार मत्री

श्री रतनलाल गर्ग से आर्य प्रिन्टर्स, अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज, अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् : 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य :
समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 3 शुक्रवार, 30 अक्टूबर, 1987
अंक : 17 पं सं.-43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभयं नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ।।

कार्तिक शु. 8 संवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

मूर्ति पूजा का अभिशाप

— आचार्य दत्तात्रेय आर्य —

भारत में और विशेषकर हिन्दुओं मे मूर्तिपूजा उनके मध्यकालीन ह्रास और पतनोन्मुखकाल का अवशेष है। इस अभिशाप तथा उससे सम्बन्धित अंधविश्वासों से महर्षि दयानन्द ने देश को मुक्त करने का जो प्रयास किया वह भी उनकी एक महान देन है।

पौराणिक युग मे प्रारम्भ हुई मूर्तिपूजा और उनकी अनेक हानियों ने हिन्दुओं और परिणामस्वरूप भारत को जिस पतन के मार्ग पर खड़ा किया उसका इतिहास भी तभी से प्रारम्भ होता है। देवी देवताओं के मन्दिरो ने न केवल मूर्तिभंजक इस्लाम के आक्रमणों को निमंत्रित किया बल्कि उनसे सम्बन्धित अंधविश्वासो और काल्पनिक चमत्कारो ने इन आक्रमणकारियो की विजय को भी निश्चित कर दिया। मथुरा, काशी और अंत मे सोमनाथ की इन तथाकथित चमत्कारी मूर्तियो के टूकड़े करने वाले गजनी को मंदिरो मे संचित अपार धन राशि तो मिली ही साथ मे उसके मुट्ठी भर सह धर्मियों को 33 करोड़ देवी-देवताओं के इस विशाल देश पर सदियो तक राज्य करने का वरदान भी मिला। सम्भवत वेदों के एक मात्र निराकार ईश्वर के सैकड़ो साकार प्रतिस्पर्धी बनाकर उनकी अनेक कुरूप विकृत मूर्तियो द्वारा ईश्वर का उपहास करने का ही हमारे देशवासियों को यह घोर दंड मिला और साथ ही अपने इन नादान भक्तो की नास्तिकता सिद्ध करने वाले आक्रमणकारियों को राज्य और सम्पत्ति का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ।

काशी शास्त्रार्थ और मूर्तिपूजा

ऋषि दयानन्द द्वारा आज से 112 वर्ष मूर्तिपूजा के गढ़ काशी मे किया गया शास्त्रार्थ धार्मिक जगत के एक बड़ी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, मूर्तिपूजा के विरोध में उनके पूर्व भी अनेक सुधारकों और संतो ने आवाज उठाई थी, किन्तु 'न तस्य प्रतिमा अस्ति" इस मन्त्रद्वारा यजुर्वेद में मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है दयानन्द की यह घोषणा काशी के पण्डितो के लिए चकित कर देने वाली एक चुनौती थी। इससे पूर्व किसी वैदिक विद्वान ने ऐसा करने का साहस नहीं किया था और न आज तक कोई वेद का पंडित वेदो मे मूर्तिपूजा सिद्ध कर सका है।

संतों द्वारा मूर्तिपूजा का विरोध

वेदो का प्रमाण तो मूर्तिपूजा के विरुद्ध है ही किन्तु हमारे देश के प्राय समस्त ईश्वर भक्त संतो ने भी उसका कड़ा विरोध किया है। गुरु नानक ने कहा था कि —

"जो पत्थर को माने देव।
उसकी बिरथा जावे सेव ।।"

संत कबीर की यह उक्ति प्रसिद्ध है —

"पत्थर पूजे हरि मिले
तो मैं पूजूं पहाड़।
पत्थर से चाकी भली
जो पीस खाय संसार।"

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध योगी ज्ञानेश्वर के अनुसार ईश्वर स्वयं कहते हैं कि—

"जज अक्रिय सी कर्म
विदेहासि देह धर्म"

अर्थात् कर्म से मुक्त ईश्वर को कर्म धारी और देह विहीन ईश्वर को देह धारी बनाना मूर्खों का काम है। संत तुकाराम तो यहाँ तक कहते हैं कि—

"ज्याला टाकिने फोडली,
त्याच्या पुढे हाथ जोडती
ज्याचा सोच कूप बाधति
त्याला देव म्हणति ।।"

अर्थात जिन मूर्तियो को हम टाकियो से तोड़कर बनाते हैं और जिन पत्थरों के हम शौचालय बनाते उन्ही को ईश्वर मानकर कैसे पूजते हैं? शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास जी कहते हैं —

"धातु पाषाण मृतिका
चित्र लेख काष्ट देवा,
तेथेदेव कैचा मूर्ख
भ्रान्ति पडली।

अर्थात हे मूर्ख सोने चादी पत्थर लकड़ी और मिट्टी की मूर्तियों में या दीवार के बने चित्रो मे ईश्वर देखना तेरा भ्रम है। मूर्तिपूजा के समर्थक कहते हैं कि मूर्ति के उपासक उसे ईश्वर' नही मानते केवल साधारण व्यक्तियों के लिए ईश्वर भक्ति का साधन मात्र समझते हैं इस तर्क का भी इन्हीं संतो ने स्वयं खंडन किया किया है। गुरु रामदास कहते हैं कि —

"आत्मा सोडूनि अनात्म्यास
ध्यानी धरती, परितो
धरिता ही धरवेना ध्यानी
येती व्यक्ति नाना, उपेची
कष्टविति मना कासावीस करूनी,
मूर्तिध्यान करिता सायसि
ते थे एकच एक दिसे,
भासू नये तेचि भासे विलक्षण।"

अर्थात आत्मिक ध्यान छोड़कर अन्य साधनो से ईश्वर का ध्यान सम्भव नही हैं। मूर्ति द्वारा उसका ध्यान करने के प्रयत्न मे हम जो नही है उसी को कल्पना मे देखते हैं और इस प्रकार अपने मन को भटका कर कष्ट उठाते हैं। संत तुकाराम इसे मूर्खों का आविष्कार कहते हैं उनके अनुसार —

'दगडाचे देव पूर्वी नव्हते
जनहे अज्ञान झाले जेव्हा
हे अज्ञानी दगडा मानिले।'

अर्थात पहले देवो की पत्थर की मूर्तियाँ नही होती थी किन्तु जब जनता मे अज्ञान फैला तब इन अज्ञानियो ने पत्थरा को मानना शुरू किया। नानक, कबीर ज्ञानेश्वर, तुकाराम और रामदास प्रसिद्ध भक्त संत थे इसलिए इस विषय मे उनके अनुभव और विचार विशेष महत्व के है। उनकी तुलना मे साधारण तो क्या बड़े से बड़े विद्वानों के तर्क भी निरर्थक है क्योंकि ये संत विद्वान न होने पर भी ईश्वर भक्ति के क्षेत्र मे अधिकृत विशेषज्ञ थे। आज भी सभ्य संसार मे मूर्तिपूजा एक दकियानूसी प्रथा समझी जाती है जिसका सबसे अधिक विकृत और विस्तृत प्रचार भारत में ही है।

धार्मिक जगत मे प्रोटेस्टेन्ट ईसाई, मुसलमान और आर्य समाजी आदि मूर्ति पूजा विरोधी धर्मो के अनुयायियो की संख्या करोड़ो से अधिक है। अत यदि बिना मूर्ति के संसार के ये बहुसंख्यक लोग ईश्वर की उपासना और ध्यान कर सकते हैं तो क्या हिन्दू धर्म के अनुयायी ही बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इतने घटिया है कि उन्हे ईश्वर भक्ति के मार्ग पर चलना सीखने के लिए छोटे बच्चो के समान लकड़ी और पत्थरों के इन रेगनो की आवश्यकता है?

(शेष पृष्ठ 6 पर)

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य   प्रबन्ध संपादक : रासासिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   ☎ कार्या : 21010

-: मननीय :-

—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय—

आर्यसमाज के आरम्भकाल मे कुरीति निवारण के लिए घोर लडाइया लडनी पडी। अब नई-नई कुरीतिया बढ रही हैं और सुधार के लिए वह जोश नही है। विधवा पुनर्विवाह का जब तक विरोध होता रहा आर्यसमाजी लडते रहे। अब विरोध नही है, न कानून की ओर से न बिरादरी की ओर से। परन्तु विधवा लडकी और मृत लडकी व लडके मे अब भी वही भेद है। आर्य-समाज की वर्तमान मनोवृत्ति यह है कि हम समाज सुधार का काम पूरा कर चुके। विवाह आदि सस्कारो में आडम्बर बढते जा रहे हैं। जिनके पास है उन्हे धन का घमंड है और वह उसका प्रदर्शन करना चाहते हैं। निर्धन लज्जावश अनुकरण करने के लिए बाध्य हैं। इस विषय मे ईसाई हमसे बहुत आगे हैं। और उनकी सामाजिक कठिनाइयां बहुत कम हैं।

सम्पादकीय........

अग्ने नय सुपथा......

अभी-अभी 22 अक्टूबर को देश विदेश की समस्त आर्यसमाजो ने अनेक समारोह आयोजित कर ऋषि निर्वाण दिवस मनाया है। परन्तु आज ये समारोह औपचारिकता मात्र रह गये हैं। इस अवसर पर प्रत्येक आर्य-समाजी को आत्म-निरीक्षण करना चाहिये, अपने पूर्व वर्ष के कार्यों का लेखा जोखा करना चाहिये कि हमने वर्ष भर मे क्या खोया है ? क्या पाया है ?

आज भी देश मे छुआछूत, प्रान्तीयता, भाषावाद, जातीयता आदि की सकीर्णताए बदस्तूर जहर उगल रही हैं। दहेज, बाल-विवाह, गुरुडम, मूर्तिपूजा, अन्ध विश्वास, शराबखोरी आदि की बुराइया दिन दूनी रात चौगुनी सिर उठा रही हैं। देश के राजनैतिक दल एक दूसरे की उठापटक तथा सत्ताधारी दल अपनी कुर्सी को येनकेन प्रकारेण बचाये रखने मे तल्लीन हैं। देश धर्म, कौम की किसी को कोई चिन्ता नही है। स्वार्थ हर व्यक्ति के रक्त मे घुल मिल गया है। रिश्वत खोरी, बेईमानी, भ्रष्टाचार, कालाबाजारी आदि देश द्रोहात्मक दुष्वृत्तिया पनपती जा रहे हैं। नाना प्रकार के मत-मतान्तर, अवतार पनप रहे हैं। ऐसी विषम परिस्थितियो मे आर्यसमाज और उसके कर्णधारो का उत्तरदायित्व और भी बढ जाता है।

हमने "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का उद्घोष किया है परन्तु अभी सम्पूर्ण अर्थों मे हम स्वय ही आर्य नही बन पाये हैं। आर्यसमाज के प्रति स्वामी श्रद्धानन्द सी तडप, प लेखराम जैसी लगन, महात्मा हसराज जैसी त्यागवृत्ति प गुरुदत्त जैसी निष्ठा, लाला लाजपतराय जैसी आस्था आज के आर्यों मे दुर्लभ है। आज भी आर्यसमाज ही एक ऐसी आशा की किरण है, ऐसी शक्ति का स्तम्भ है जो यदि अपनी शक्ति का आत्म साक्षात्कार कर ले तो, बहुत कुछ कर सकता है। विश्वहिन्दू परिषद्, विराट हिन्दू समाज, हिन्दू मच, हिन्दू रक्षा समिति आदि सगठन अच्छाई और बुराई, सत्य और झूठ के सह-अस्तित्व के आधार पर भले ही सामयिक धार्मिक एकता लाने का प्रयास करें परन्तु अततोगत्वा वह सगठन 'मेले की भीड' से बढकर कुछ नही होगा। आर्यसमाज डके की चोट "सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने" का आह्वान करते हुए एक भाषा, एक धर्म एक कौम, एक राष्ट्र की आधार भूमि पर वेदो की गगा का अमृतपान करवाकर, बुराइयो एव अध-विश्वासो पर करारी चोट कर अविद्या का खण्डन और विद्या का मण्डन कर देश, धर्म, कौम एव मानवता का त्राण कर सकता है।

अत आर्य वीरो उठो, जागो और आगे बढो। देश की कोटि-2 जनता आपकी ओर निहार रही है। हम आपस के भेदभाव को भुलाकर, दलबन्दी एव गुटबन्दी के दायरे से निकल कर, लोक-कल्याणकारी 'सुपथ' की ओर अग्रसर हो। यही प्रभु से प्रार्थना है।

—रासासिंह

हिन्दू धर्म वेदों पर आधारित नहीं है

— पं राजेन्द्र, अलीगढ़ —

हजारो वर्षों से उपेक्षित तथा शताब्दियो से न केवल त्याज्य अपितु निन्दित वेदो के पुनरुद्धार का श्रेय इस युग मे यदि किसी को प्राप्त है तो वह एक मात्र दयानन्द है। यह ठीक ही है कि मध्यवर्ती काल मे वेदो के भाष्य भी हुए उन ग्रन्थो मे कहीं-कही गुणगान भी होता रहा। किन्तु उनका जो स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया वह अपूर्ण और विकृत था। फलत हम वेद वर्णित ईश्वर ज्ञान-कर्म-उपासना, जीवन के चार अवलम्ब—धर्म अर्थ काम, मोक्ष वर्णाश्रम व्यवस्था, सभी से धीरे-धीरे विमुख होकर अनेकानेक सम्प्रदायो के जाल मे फस गये।

आज जिस ढाचे पर बहु सम्प्रदायमूलक हिन्दू कहा जाने वाला धर्म खडा है, वह वेदो से इतना ही दूर है जितने ससार के अन्य सम्प्रदाय। आज चाहे अपनी आत्मप्रवचना के लिये कोई कह ले कि हिन्दू धर्म वेदो पर आधारित है किन्तु यह सत्य से बहुत परे है। हिंदुओ के सभी मत-मतान्तर और उनके सिद्धान्तो का मूल पुराण हैं, वेद नही। इनका ईश्वर, उपासना विधि जप-तप, वर्णाश्रम सस्कार तीर्थ पर्व सब ही पुराणानुमोदित हैं। इनके अवतार जिन्हे यह ईश्वर समझते हैं, वेद के सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, अजन्मा, सृष्टिकर्ता और कर्मफल दाता परमात्मा से सर्वथा भिन्न हैं। इनकी उपासना विधि अर्थात् विभिन्न जड मूर्तियो की अर्चना, उनका नाम कीर्तन, जप-तप, कथा-वार्ता इन ही कल्पित ईश्वरावतारो पर आधारित हैं। अनेक देवी-देवता भूत-प्रेत, नदी, पहाड, वृक्ष, सभी इनके उपास्य देव हैं। इनके तीर्थ स्थान आचारहीन पन्डे-पुजारियो के व्यापार केन्द्र हैं – जहा भोली जनता को ठगकर यह लोग अपनी जीविका चलाते हैं। हिन्दू पर्वों की दुर्दशा, आज किसी से छिपी नही है। इन अवसरो पर मद्य-भग आदि का खुला प्रयोग, अश्लील गाली-गलौज, कीचड, धूल, मिट्टी का सर्वत्र उपयोग पशु-बलि अवतारों का नाट्य मडलिया के मात्र रूप म घृणित प्रदर्शन, द्यूतक्रीडा यह सब इन पर्वों के कार्यक्रम है। यह सब होते हुए इसे वेदमूलक कहना न केवल वेदो का उपहास अपितु उनका अपमान है और अनादर है। आज हमारे भोले शिक्षित-अशिक्षित जिसे सनातन धर्म कहकर मन बहलाव कर लेते हैं—यही उनका रेखाचित्र है जिस सक्षेप मे ऊपर प्रस्तुत किया गया है। यह अभागे ऋषि दयानन्द अनुमोदित वैदिक धर्म को 'नवीन' और अपने को 'सनातन' कहते हैं। यह है वेदो की उपेक्षा का दुष्परिणाम जिसे ऋषि दयानन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा।

वेदो पर जैन-बौद्ध मतो ने कुठाराघात किया, शकराचार्य न जिन्हे भ्रम से वेदोद्धारक समझा जाता है, यद्यपि नाम वेदो का लिया किन्तु उनकी आड मे प्रचार उपनिषदो, वेदान्त और गीता का ही किया। यह प्रस्थानत्रयी, इनके वेद, दर्शन और स्मृति हैं जो इनके अद्वैतवाद के आधार है। वेद इनके मत मे केवल यज्ञयागादि मे प्रयुक्त होने वाले कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं - अर्थात् इनका ब्रह्म विद्या से न कोई सम्बन्ध है न यह विद्या वेदो में है। उपर्युक्त प्रस्थानत्रयी पर शाकर भाष्य इसी का प्रतिपादन करते हैं। उन्होने उपनिषदो के ही श्रुति नाम से जिन्हे वह ब्रह्मविद्या का मूल कहते हैं, सर्वत्र प्रमाण दिये हैं। गीता भी इसी सिद्धान्त का खुला प्रतिपादन करती है।

यही अवस्था वैष्णवाचार्य —रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद, माध्वाचार्य के द्वैतवाद, निम्बकाचार्य के द्वैताद्वैत की है जो वैष्णव शाखाओ के प्रवर्तक हैं। इन्होने भी यत्र-तत्र वेदो की प्रशसा की है किन्तु विशेषता अपने ही साम्प्रदायिक सिद्धान्तो को दी है और हेय सिद्ध करने का यत्न किया है।

आर्यसमाज की वेदी से कही जाने वाली कथाओं, प्रवचनो औरव्याख्यानो मे जितनी चर्चा उपनिषद् और गीता की होती है उतनी वेदो की प्राय नही होती। उनमे जितने प्रमाण उपनिषद् और गीता के दिये जाते हैं उतने वेदों के नही होते। यही अवस्था अनेक आर्य विद्वानो के लेखों और ग्रथो मे आप पाएगे। वेदो का नाम अवश्य लिया जाता है किन्तु अभी उपनिषद और गीता हमारे मस्तिष्क पर छाये हुए हैं।

ऋषि दयानन्द वेदवादी थे वेद और केवल वेद ही उन्हे स्वत प्रमाण थे, वह आजीवन उसी मे निमग्न और रत रहे। आर्यसमाज पर वेद और वैदिक धर्म प्रचार का महान् उत्तरदायित्व है। उसने अब तक जो कुछ किया है, यद्यपि वह अपना महत्व रखता है परन्तु कार्य की महानता की दृष्टि में रखते हुए वह अभी नगण्य है। यह तभी सम्भव है जब हम अपनी सारी शक्ति वेद प्रचार पर केन्द्रित कर दें। हमने अपनी सीमित शक्ति को शाखा प्रशाखाओ मे विभक्त करके इस कार्य को जो क्षति पहुचाई है—आर्यसमाज की वर्तमान शिथिलता उसका ही दुष्परिणाम है

सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ आर्य समाज द्वारा नवीन अभियान की आवश्यकता

— स्वामी अग्निवेश द्वारा सती प्रथा का विरोध —

सवाल तथाकथित सती प्रथा को लेकर पूरे देश मे एक बहस चल रही है इस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

जवाब बहस! बर्बरता पर कहीं बहस होती है। मैं आर्य समाजी हूं और आर्यसमाज की तो स्थापना ही सती प्रथा बाल विवाह नरबलि छुआछूत और पाखंड को समूल नष्ट करने के लिए हुई है। सती प्रथा न तो शास्त्रसम्मत है और न ही विवेकसम्मत। यह तो स्त्री पर पुरुष प्रधान समाज के कारण उत्पन्न एक मध्ययुगीन विकृति है और भारतीय समाज व हिन्दू धर्म का कलंक है।

सवाल लेकिन पुरी के शंकराचार्य स्वामी श्री निरंजनदेव तीर्थ ने तो इसे पूर्णतया शास्त्रसम्मत और वेदों के अनुकूल बताया है। इसके समर्थन में वह फांसी पर तक चढने को तैयार हैं।

जवाब मैंने श्री निरंजनदेव तीर्थ का बयान अखबारों में पढा है और मुझे खेद है कि उन्होंने शंकराचार्य जैसी महत्वपूर्ण व गरिमायुक्त गद्दी पर बैठने के बावजूद ऐसा वक्तव्य दिया है कि पूरे हिन्दू धर्म का सिर शर्म से झुक जायगा। एक तरफ तो हम यह बखान करते हैं कि हिन्दू धर्म सबसे ज्यादा तार्किक और मानवीय है दूसरी तरफ सती जैसी बर्बर प्रथा को धर्मसम्मत बताते हैं।

सवाल लेकिन उन्होंने तो चुनौती दी है कि कोई भी व्यक्ति उनसे गोवर्धनपीठ (पुरी) में आकर शास्त्रार्थ कर ले।

जवाब देखिए जब राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरोध में अभियान चलाया था और तत्कालीन वायसराय लार्ड विलियम बैंटिक ने सती प्रथा निरोधक अधिनियम पारित किया तब भी तत्कालीन पुरातन-पंथियों परम्परापंथियों और निरंजनदेव तीर्थ जैसे धर्माचार्यों ने इसे हिन्दू धर्म में हस्तक्षेप बताते हुए विरोध किया। तब लार्ड बैंटिक ने उन धर्माचार्यों से सती प्रथा के वेदानुकूल होने का प्रमाण मांगा। प्रमाण में ऋग्वेद का एक उदाहरण तोड़-मरोड़ कर पेश किया गया। इस मंत्र में पति की मृत्यु के बाद पत्नी के लिए अग्रेगक्ष का प्रयोग है लेकिन वायसराय के सामने उसे अग्नेमक्ष करके दिखाया गया। इसके बाद सरकार ने मूल पाण्डुलिपियों में इस मंत्र को देखा और सभी समर्थकों की अपील को रद्द कर दिया। बाद में तमाम तर्कों-कुतर्कों के बावजूद तत्कालीन पंडित वेदों में सती प्रथा का समर्थन नहीं सिद्ध कर सके।

सवाल लेकिन शंकराचार्य की शास्त्रार्थ की चुनौती ?

जवाब हम तो शास्त्रार्थ की परम्परा का सम्मान करते हैं। रही चुनौती की बात तो पुरी के शंकराचार्य श्री निरंजनदेव को मेरी चुनौती है कि वह अपनी गुफा गोवर्द्धन पीठ से निकल कर प्रबुद्धजनों के बीच में दिल्ली के रामलीला मैदान में आकर शास्त्रार्थ कर लें।

सवाल मान लीजिए यदि शंकराचार्य ने सती प्रथा को वेदों में सिद्ध कर दिया ?

जवाब पहली बात तो वेदों में सती प्रथा का समर्थन सिद्ध हो नहीं किया जा सकता। दूसरा यदि एक क्षण के रूप में आपकी बात मान भी लें तो महर्षि दयानन्द का अनुयायी होने और आर्यसमाजी होने के बावजूद ऐसे वेद का बहिष्कार कर दूंगा जिसमें सती प्रथा का समर्थन किया गया है। हम वेदों को ब्रह्म मानते हैं लेकिन ब्रह्म स्वरूप मानवीय विवेक मेरे लिए सर्वोपरि है। वेद को भी मैं इसीलिए स्वीकारता हूं क्योंकि मेरे विवेक ने उसे स्वीकार किया है। मैं आर्यसमाज में अपने विवेक के साथ आया इसलिए जो बात मेरा विवेक स्वीकार नहीं करेगा उसे बिल्कुल नहीं मानूंगा।

सवाल लेकिन कुछ लोगों का विवेक सती प्रथा को स्वीकारता हो तो ?

जवाब विवेक ज्ञान और तर्क की कसौटी के बाद ही मान्य होता है। वैज्ञानिक चेतना और तर्क से शून्य मनुष्य का विवेक अपने आसपास के सामाजिक परिवेश और परम्पराओं के अनुरूप ढल जाता है। और वह अंध श्रद्धा का रूप ले लेता है। सती प्रथा नरबलि शिशुहत्या छुआछूत आदि इसी श्रेणी में आते हैं।

सवाल समाज में नारी की स्थिति को लेकर शास्त्रों की क्या राय है ?

जवाब वैदिक साहित्य में नारी को समाज में पुरुष के समान दर्जा प्राप्त है। शास्त्रों में गार्गी और मैत्रेयी जैसी विदुषी महिलाओं का उल्लेख है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने लिखा है कि स्त्री का धर्म रसोईघर का काम करना नहीं है, बल्कि ब्राह्मणी को अध्ययन शिक्षण और सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहना चाहिए युद्ध-प्रेमी वीर स्त्रियां रणभूमि में सेनापति का भूमिका निभा सकती है जैसे दशरथ के साथ कैकेई गई थी। यह तो मध्य युग में पुरुषों ने अपनी श्रेष्ठता स्थापित करते हुए स्त्री का दर्जा गिरा दिया और मध्ययुगीन पंडितों व आचार्यों ने स्त्री के लिए विधान व नियम बना कर उसे घर में कैद कर दिया। मनुस्मृति ने तो एक कदम आगे जाकर स्त्री श्रेष्ठता की वकालत करते हुए लिखा है कि यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता। लेकिन बाद में मनुस्मृति में भी तोड़-मरोड़ करके स्त्रियों के विरुद्ध सूक्त लिख दिए गए।

सवाल कुछ लोगों का तर्क है कि स्वेच्छा से सती होने में स्त्री की महिमा बढती है वह पूज्यनीय हो जाती है। फिर यह स्त्री पर अत्याचार क्यों जब तक जबरदस्ती न की जाए।

जवाब अजीब बात है। स्वेच्छा में कोई स्त्री सती नहीं होती। यदि किसी लड़की के अन्दर बचपन से यह भावना ठूंसी जाए कि सती होना देवी बनना है उसके सामने सती परम्पराओं का बढा-चढा कर गुणगान किया जाय ऐसे में यदि अचानक वह स्त्री विधवा हो जाए और पति वियोग में एकाएक आवेश में आकर वह विधवा के लांछित जीवन की अपेक्षा आत्महत्या करके देवी बनने की बात मुंह से निकाल दे तब भी उसे समझाने की बजाय उसकी जय-जयकार होने लगे तो इसे आप स्वेच्छा की संज्ञा देंगे ? यदि शुरू से ही सती परम्परा को गौरवान्वित न किया जाए पति वियोग में विवेक से शून्य कोई स्त्री आत्महत्या का निर्णय भी करे तो जय-जयकार की बजाय उसे समझाया जाय व हिम्मत बधाई जाए उसके सामने भावी जीवनका अच्छा चित्र खींचा जाए तो मेरा दावा है कि कोई भी सती नहीं होगी। रहा महिमा की बात तो भारतीय परम्परा ने सच्चा सती सावित्री को माना है जिसने जिन्दा जलने की बजाय पति का भी जिला लिया।

सवाल शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ ने तो विधवा समस्या का कारण राजा राममोहन राय का पाप बताया है।

जवाब श्री निरंजनदेव तीर्थ आखिर चाहते क्या है ? क्या विधवा समस्या का एक मात्र हल पति के शव के साथ स्त्री को आग में झोंक देना है। राजा राममोहन राय जैसे महान समाज सुधारक पर प्रत्येक भारतीय को गर्व है। उनके महान अभियान को पाप की संज्ञा देना शंकराचार्य को शोभा नहीं देता। स्वयं आदि शंकराचार्य ने पाखंड के विरुद्ध एक व्यापक सुधार अभियान चलाया था। समय-समय पर सामाजिक व धार्मिक विकृतियों के खिलाफ ऐसे अभियानों की जरूरत पड़ती है। इन्हें पाप की संज्ञा देना गलत है।

(नवभारत टाइम्स से साभार)

कट्टरपंथ की गिरफ्त में निर्धन मुसलमान

इस्लामी पुनरुत्थान कहीं भी मुख्यतः दलितों का आंदोलन नहीं बना है। अन्य देशों की भांति मुस्लिम देशों में भी गरीब लोग अपनी दैनन्दिन रोजी-रोटी की फिक्र में रहते हैं। कट्टरपंथ उन मध्यम वर्गीय मुसलमानों द्वारा शुरू किया गया है जो प्रारंभ में आधुनिक और पश्चिमी तौर तरीकों से प्रभावित होते हैं परन्तु लौकिक सुख या आध्यात्मिक पूर्णता पाने में असमर्थ होकर कुण्ठित हो जाते हैं। यह कहना है विख्यात इस्लाम विशेषज्ञ कैरेन इलियट हाउस का। हाल ही में एशियन वाल स्ट्रीट जनल में छपे उनके एक लेख के कुछ भावांश यहां प्रस्तुत हैं —

दुनिया के प्रायः मुस्लिम बहुल देश आज कट्टरपंथ की गिरफ्त में हैं। ये सारे देश बहुत ही असुरक्षित महसूस करते हैं। इन देशों में बढ़ते कट्टरपंथ पर काबू पाने में दोनों महाशक्ति स्वयं को अक्षम समझ रही है।

मुस्लिम देशों में बढ़ते कट्टरपंथ का कारण मजहब और राजनीति के बीच के अन्तर का पतन समाप्ति है। यह सोच इस्लाम की मूल अवधारणा पर आधारित है। मूल रूप से इस्लाम में किसी भी धर्मनिरपेक्ष तत्व को अस्वीकार किया जाता है तथा मजहबी मुल्लाओं और आयतुल्लाओं को ही एक साथ राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक नेता माना जाता है।

इस्लाम के अन्दर दो फिरके हैं—शिया और सुन्नी। सुन्नियों की अपेक्षा शिया ज्यादा कट्टरपंथी होते हैं। परन्तु दोनों ही मजहब और राजनीति के बीच किसी अंतर को स्वीकार नहीं करते हैं। दुनिया के सभी मुसलमानों में 90 प्रतिशत सुन्नी हैं। ईरान को छोड़कर किसी भी देश में शिया बहुमत में नहीं है।

ऐसे कई प्रमाण हैं कि सभी इस्लामिक देशों में निम्न वर्ग के लोग बुरी तरह प्रताड़ित किए जा रहे हैं। सभी इस्लामी देशों में मध्य वर्ग के लोग ही कट्टरपंथी हैं जबकि निम्न वर्ग जो बहुमत में है कट्टरपंथी के दल-दल से निकलकर धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र में खुलकर सांस लेना चाहता है। मजहब की आड़ में इस्लामी देशों का मध्य वर्ग ही सत्ता पर हावी है तथा उसने मजहब और राजनीति को इस हद तक मिला दिया है कि वहां न धर्मनिरपेक्षता है न प्रजातंत्र कुछ है तो वह है कट्टरपंथी अधिनायकवाद।

इसका कारण हमें इस्लाम में मिलता है जिसकी स्थापना 7वीं शताब्दी में एक अरब व्यापारी मोहम्मद ने की थी। उसी ने मजहब और राजनीति को एक-दूसरे से पूरी तरह मिला देने की शुरुआत की थी। उसने अपने मजहब का प्रचार सिर्फ शब्दों से नहीं बल्कि सैन्य विजयों और तलवार के बल पर धर्म-परिवर्तन करके भी किया।

दूसरी ओर इंडोनेशिया जैसे कुछ ऐसे भी देश हैं जिन्होंने मजहब और राजनीति के बीच एक दूरी बना रखी है। यह कारण है कि वहां लोग सुख-शांति से जी रहे हैं। जबकि ईरान इराक सऊदी अरब, मोरक्को पाकिस्तान ट्यूनिशिया बहरीन आदि देशों में कट्टरपंथी के कारण वहां की जनता त्राहिमाम कर रही है। ईरान के शाह और राष्ट्रपति अनवर सादात जैसे लोगों को इस्लामी कट्टरपंथी का विरोध करने की भारी कीमत अदा करनी पड़ी है। कट्टरपंथी मुसलमान संघर्ष करने में इसलिए भी नहीं हिचकिचाते हैं क्योंकि मजहबी मान्यताओं के अनुसार ऐसा संघर्ष करने से उन्हें जन्नत का पासपोर्ट मिल सकता है।

(पाञ्चजन्य से साभार)

ऋषि कौन

— परिपूर्णानन्दवर्मा —

कलियुग में सिर्फ एक व्यक्ति को महर्षि की उपाधि मिली स्वामी दयानन्द सरस्वती को इसलिए कि उन्होंने वेदों को एकदम नये रूप में हिन्दू समाज के सामने प्रस्तुत किया। किन्तु इसी युग में उनसे पूर्व वेदों का भाष्य करने वाले आदि शंकराचार्य को भी महर्षि नहीं कहा गया है। स्वामी दयानन्द जी ने वेदों की व्याख्या अभूतपूर्व रूप में अपने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इस प्रकार की है।

जिसमें सभी मनुष्य सत्य विद्या को जानते हैं अथवा प्राप्त करते हैं अथवा विचारते हैं अथवा विद्वान होते हैं अथवा सत्य विद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं उनको वेद कहते हैं।

वृहदारण्यक उपनिषद में (2 1 19) 22 वैदिक महाब्राह्मण ग्रंथ का उल्लेख है जिसके अनुसार वेद मंत्रों को प्रकट करने वाले या विधि निर्धारक को ऋषि कहते हैं। इस दृष्टि से भी स्वामी दयानन्द ऋषि हुए।

पारदर्शी दिव्य दृष्टि वाला ज्ञान के द्वारा जो मंत्रों का प्रथम प्रवक्ता हो संसार की अंतिम सीमा तक का ज्ञान रखता हो उसे ऋषि कहते हैं। रत्नकोष के अनुसार ऋषियों की सात श्रेणियां हैं ब्रह्मर्षि देवर्षि महर्षि काण्डर्षि श्रुतर्षि तथा राजर्षि। शास्त्र के अनुसार व्यास आदि महर्षि थे भेल अत्रि परमर्षि कण्वद इत्यादि देवर्षि थे वशिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि थे जैमिनी आदि काण्डर्षि थे तथा ऋतुपर्ण आदि राजर्षि थे। बाद में वैदिक साहित्य के अनुसार वैदिक ऋचाओं के साक्षात्कार करने वाले पुरुष तथा स्त्रियां भी ऋषि कहे गये। ऋग्वेद के अनुसार कुत्स अत्रि रैभ अगस्त्य कुशिक वशिष्ठ व्यश्व आदि ऋषि हैं। वृहदारण्यक उपनिषद ने विश्वामित्र भरद्वाज गौतम जमदग्नि कश्यप अत्रि को ऋषि लिखा है। राजर्षि कोई नहीं है। अथर्ववेद ने इस सूची में अंगिरा गविष्ठर कक्षीवान मधातिथि त्रिशोक मुद्गल तथा उशना काव्य जोड़ दिया है। राजर्षि कोई नहीं है।

ऋतुपर्ण राजा थे। ऋतुपर्ण के बाद जनक का नाम ही राजर्षि में आता है। प्राचीन भारत में एक से एक महान नरेश तथा धर्मप्रचारक राजा हो गये पर किसी को भी राजर्षि इसलिए नहीं कहा गया कि वे वेदज्ञ नहीं थे। जनक के यहां याज्ञवल्क्य ऋषि भी उपदेश लेने गये थे। और उनके दरबार में रत्न के रूप में रह गये थे। श्री मद्भगवद्‌ गीता में श्री कृष्ण ने ऋषियों में अग्रणी कपिल को कहा है जिन्होंने सांख्य दर्शन की रचना की। व्यास को गीता में केवल मुनि कहा गया है। व्यास का अर्थ है सम्पादक। इसीलिए गीता से लेकर पुराणों के अनेक सम्पादक व्यास कहलाये जो वेद तथा ब्रह्मसूत्र के वेदव्यास से भिन्न हैं। महाभारत में युधिष्ठिर को राजन कहा है राजर्षि नहीं।

इधर बहुत वर्ष पूर्व जब श्री पुरुषोत्तम दास टण्डन को राजर्षि की उपाधि प्रसिद्ध सन्त तथा महात्मा देवरहा बाबा ने दी तब भी काशी के पण्डितों ने आपत्ति की थी। राजनीति वालों को यह उपाधि देने पर। किन्तु सन्त देवरहा बाबा के अधिकार को चुनौती देने का साहस नहीं हुआ।

अब उसी काशी नगरी में विद्वानों की सभा ने राजनीतिज्ञों को राजर्षि की उपाधि देना शुरू किया है तब। कौन जाने वह महर्षि की उपाधि भी बांटना शुरू कर दे। ऐसी उपाधि देने वाली मण्डली में एक भी ऋषि की व्याख्या में नहीं आता। न कोई सन्त है। विद्वत सभा अब एक राजनैतिक प्रपंच बन गयी है। यदि उनमें एक भी वेद का द्रष्टा हो व्याख्याकार हो तथा स्वामी दयानन्द की तरह विधि निर्धारक हो तो उसे कुछ बोलने का अधिकार होता अन्यथा अब यह मण्डली हिन्दू धर्म के विरुद्ध एक व्यापक आघात तथा बदनामी कराने पर तुली है जिससे हमारी प्राचीन सभ्यता धर्म तथा शिष्टाचार पर गहरी चोट पहुंचेगी और महर्षि या राजर्षि की उपाधि धर्म व ईश्वर उपाधि की श्रेणी में आ जायगी।

(दैनिक जागरण से साभार)

पुरुषार्थ बनाम भाग्य

— डॉ० देवशर्मा वेदालंकार —

कर्म योनि एव भोगयोनि–ये दो योनिया प्रसिद्ध हैं इनमे मनुष्येतर पशुपक्षी आदि जीव भोगयोनि के अन्तर्गत आते हैं जो केवल पूर्व कर्मों का फल ही भोगते हैं, उस योनि मे किये गये कर्मों का फल वे नही प्राप्त करते। कर्मयोनि में मनुष्य की गणना होती है, क्योकि इस जन्म मे मनुष्य जहा एक ओर पूर्वजन्मकृत कर्म फल भोगता है वही दूसरी ओर वर्तमान एव भावी जन्मो के लिए जाति, आयु एव भोग का निर्धारण भी करता है। कर्म करना मनुष्य का सहज स्वाभाविक गुण है, प्रतिपल वह कोई न कोई कर्म अवश्य करता है यदि वह शुभ कर्म नही करेगा तो अशुभ करेगा, लेकिन वह खाली नही बैठ सकता। इतना अवश्य है कि मनुष्य, कर्म करने मे स्वतन्त्र है जैसे कि कोई विद्यार्थी परीक्षाभवन मे बैठकर प्रश्नो का उत्तर सही लिखे या अशुद्ध लिखे वह उत्तर लिखने मे स्वतन्त्र होता है, उसी प्रकार मनुष्य भी शुभ कर्म करे या अशुभ, वह पूर्ण स्वतन्त्र होता है। लेकिन फल प्राप्त करने मे वह स्वतन्त्र नही होता। जैसे परीक्षक सही या गलत उत्तरो के अनुसार विद्यार्थी को उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण करता है उसी भाति परम पिता परमात्मा भी हम मनुष्यो के शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप सुख या दु ख रूप फल प्रदान करता है। परमात्मा की यह न्याय व्यवस्था नियत एव अपरिवर्तनशील है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ (कर्म) के आधार पर सुख दु खात्मक फल प्राप्त करता है। यहा विचारणीय बिन्दु यह है कि क्या सभी कर्म पुरुषार्थ कहाते हैं? नही, मनुष्य का प्रत्येक कर्म पुरुषार्थ कोटि मे नही आता और न ही पारिभाषिक अर्थ मे वह कर्म होता है—"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता" (गीता 4-6)। हम प्रत्येक कर्म को पुरुषार्थ समझ लेते हैं भले ही वही कुकर्म या अकर्म ही क्यो न हो। एक विद्यार्थी परीक्षाभवन मे परीक्षा देते हुये उत्तीर्ण होना चाहता है। इस निमित्त समुचित ढग से परीक्षा देना, परीक्षा नियमो का पालन करना–यह तो पुरुषार्थ है। लेकिन परीक्षा उत्तीर्ण करने के उद्देश्य से नकल-करना, गुरुजनो को धमकी देना, अन्य अवैधानिक तरीके अपनाना कर्म तो है लेकिन पुरुषार्थ नहीं। इस भाति अविवेक के कारण प्रत्येक चालाकी, मक्कारी, झूठ फरेब आदि क्रियाओ को भी हम लोग पुरुषार्थ समझ बैठते हैं और उन बुराईयो मे उलझे रहते हैं। अत यह मानना चाहिये कि कर्तव्य परायणता तो पुरुषार्थ है शेष अपुरुषार्थ—जिनका परिणाम सदा दुखद होता है।

योगदर्शन मे भगवान् पतजलि लिखते हैं - कि पूर्वजन्म के कर्म समूह जाति आयु और भोग इन तीन रूपो मे फलीभूत होते हैं "सति मूलेत-द्विपाकोजात्यायुर्भोगा" अर्थात् कर्म का मूल रहने पर उन कर्मों का परिपाक जाति आयु और भोग के रूप मे आविर्भूत होता है। कोई मनुष्य अपने पूर्व कर्म के आधार पर वर्तमान जीवन मे मनुष्य योनि मे जन्म लेता है और भविष्य मे भी मनुष्य, कुत्ता, बिल्ली आदि के रूप मे पैदा होगा, इस योनि विशेष को ही "जाति" कहते हैं। कोई जीव एक माह तक, कोई 1 वर्ष तक, कोई दस, बीस, पचास और सौ वर्षों तक जीवित रहता है। इतने वर्ष तक जीवित रहना जीव की "आयु" होती है। और इस जीवन काल मे वह जीव नाना प्रकार की सुख दु खात्मक अनुभूतिया ग्रहण करता है यह जीव का भोग है। इस प्रकार जीवात्मा अपने पूर्व सचित कर्मों के आधार पर सामान्य रूप से जाति आयु और भोग को प्राप्त करता है। लेकिन यह त्रिविध फल जीवन का विस्तार है जीवन की चरम परिणति नहीं, क्योंकि जीवन स्वय एक अलग उद्देश्य रखता है। जीवात्मा का लक्ष्य है—"कर्तृत्व ज्ञातृत्वभोक्तृत्ववानणु जीव इत्युच्यते"— जिसमे कर्तृत्व ज्ञातृत्व एव भोक्तृत्व गुण रहते हो उसे जीव कहते हैं जाति आयु आदि विविध फलो का भोक्ता तो जीव है ही, इसके अलावा ज्ञातृत्व एव कर्तृत्व भी उसमे रहते हैं। और यह भी शास्त्रसम्मत है–ऋतेज्ञानान्न मुक्ति–ज्ञान के बिना जीव की मुक्ति नही होती। यहा ज्ञान का अर्थ है–अज्ञान का नाश अथवा आत्म तत्त्व का बोध। यह अज्ञान नाश अथवा आत्मबोध कर्मों के बिना सभव नही अत नये कर्म तो जीव को करने ही होगे। अतएव यह कहा गया है कि जीवन का मुख्य उद्देश्य स्वतन्त्र कर्म करना एव आत्मबोध प्राप्त करना है। यदि यह न माने तो फिर मनुष्य को कर्म स्वातन्त्र्य एव उसके द्वारा मुक्ति पद की प्राप्ति कैसे सभव होगी?

यहा एक प्रश्न पैदा होना स्वाभाविक है कि जब पूर्व कर्मों के द्वारा जाति आयु भोग–तीनो पहले से ही नियत है तब फिर उन्हे बदलने का प्रयास करना सर्वथा व्यर्थ है जो होना होगा वह होकर ही रहेगा। यदि हमारे भाग्य मे पत्नी की मृत्यु और दूसरी पत्नी से विवाह लिखा है तो वह होकर ही रहेगा। यदि हमारी आयु चालीस वर्ष की पूर्वत निश्चित है तो हम उतने वर्ष ही जियेंगे भले ही हम कुछ भी कर लें। सन्त तुलसीदास जी भी यही कहते है–"हानिलाभ जीवन मरण, यश अपयश विधि हाथ"। अत अपनी आयु एव भाग्य को परिवर्तित करने के लिये प्रयत्न व्यर्थ है।

इसका समाधान यही है कि यद्यपि यह ठीक है कि जाति आयु भोग अथवा हानि लाभ जीवन मरण आदि फल हम अपने पूर्व कर्मों के परिणाम स्वरूप प्राप्त करते है लेकिन इसका आशय यह कदापि नही कि वर्तमान जन्म के नये कर्मों से इन फलो की इयत्ता मे परिवर्तन नही किया जा सकता। यदि केवल पूर्व कर्म ही सब कुछ हो और नये कर्मों का कोई महत्त्व न हो तब तो फलो की 'इयत्ता' उतनी ही माननी पडती। लेकिन हम पहले ही कह चुके है कि जीव का कर्तृत्व गुण कभी समाप्त नही होता जब वह नये कर्म करेगा तो उनके फल भी अवश्य मिलेंगे। ऐसी दशा मे पूर्व कर्म के फलो की इयत्ता मे भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इसे हम निम्न उदाहरण से भलीभाति समझ सकते हैं—

मैंने जुलाई 87 मे अध्यापन कार्य किया अगस्त 87 मे एक हजार रु वेतन मिला। यह वेतन मेरे पूर्व माह के कम का फल है। इसे हम भोग भी कह सकते हैं क्यो कि यह वेतन हमारे सुख दु ख का विधायक है। अब मैं इस एक हजार रु की राशि को–जो कम से कम एक माह के सुख साधन जुटाने के लिये पर्याप्त है–चाहूं तो जुआ खेलकर एक ही दिन मे समाप्त कर दू और चाहूं तो बुद्धिमत्ता पूर्वक खर्च करके दो और तीन माह तक के लिये सुख सामग्री जुटा सकता हूं। इस भाति मैं अपने दुष्कर्म या सुकर्म द्वारा एक हजार रु से प्राप्त होने वाले भोग को घटा भी सकता हूं और बढा भी सकता हू।

एक दूसरा उदाहरण लेते हैं–मैंने एक अच्छी प्रतिष्ठित दुकान से नई साइकिल खरीदी। उसने हमे दो वर्षों की गारन्टी दी कि दो वर्षों तक इसमे कोई गडबड नही होगी। अब यह हम पर निर्भर है कि साइकिल को मे कैसे रखता हूं। चाहू तो दस दिन बाद ही कार से टक्कर मार कर साइ-किल को नष्ट भ्रष्ट कर दू और चाहूं तो उसकी नियमित देखभाल करते हुये पाच और सात वर्षों तक उसे ठीक रक्खू, उसका कुछ भी नही बिगडता। ठीक इसी भाति हम अपने कर्मों से प्राप्त आयु एव भोग की इयत्ता मे परिवर्तन कर सकते हैं सयमी जीवन एव सदाचरण से आयु एव भोग को सौ एव सौ से भी अधिक वर्षों तक बढाया जा सकता है। इसीलिये वेदादि शास्त्रो मे भी आयुवृद्धि सुखादिवृद्धि के साधन वर्णित है।

सक्षेप मे–"कर्मप्रधान विश्व रचि राखा"–इस सूक्ति के अनुसार हमे अपने कर्मों मे पूरा–2 ध्यान देते हुये अपने जीवन का मार्ग प्रशस्त करना चाहिये केवल भाग्यवादी बनकर पूर्वकृत कर्मों का सहारा लेना और आगे के लिये अकर्मण्य बने रहना अपने अविवेक को सूचित करना है। निरन्तर कर्म करते रहना ही सच्चा जीवन है— 'चरैवेति चरैवेति'।

ऋषि निर्वाण दिवस समारोह

आर्य समाज, अजमेर मे दीपावली के पावन पर्व पर युग प्रवर्तक एव राष्ट्रीयता के प्रथम उन्नायक महर्षि दयानन्द सरस्वती का 104 वा निर्वाण दिवस बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अभियान्त्रिकी विभाग के रीडर डॉ आनन्द प्रकाश की अध्यक्षता मे समारोह पूर्वक आयोजित हुआ जिसमे श्री आचार्य दत्तात्रेय आर्य, प्रो देवशर्मा वेदालकार प्रो बुद्धिप्रकाश जी आर्य तथा डॉ कृष्णपालसिह जी ने महर्षि के अनुपम व्यक्तित्व एव कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए भाव-विभोर होकर श्रद्धा सुमन अर्पित किये।

—नवीन कुमार शर्मा (प्रचार मत्री)

महर्षि - महिमा

सावलसिंह चवरिया "सौमित्र"

सत्य से जन्मे हुए तुम सत्य में लयमान !
बन गया जीवन तुम्हारा सत्य का अभिधान !

एक मूषक ने जगाया उग्र ऊहापोह,
जन्म के सम क्रान्ति लाया, सत्य का विद्रोह,
बाध पायी थी नही, पितु मोह की जजीर !
मातु की ममता बहाती रह गई दृग-नीर !

तुम छुपाये चीती गंगा, बन गये चट्टान !
था तुम्हारे सामने, इस विश्व का कल्याण !

व्यष्टि के व्यक्तित्व मे, बाधे समष्टि विवेक,
तुम युगो के बाद आये, एक केवल एक !
क्रान्तिदर्शी दृष्टि झांकी, पार युग के पार !
सृष्टि की सुख-शान्ति का सपना लिए साकार!

देश के अन्तिम पतन मे तुम प्रथम उत्थान !
पूर्व के उगते अरुण, मध्याह्न के दिन मान !

वेद की गगा मरुस्थल मे गई थी सूख !
था तिमिर वह व्याप्त, भूपर थी न एक मयूख !
थे घुटन मे मनुजता के छटपटाते प्राण,
कर रहा था विश्व, वैदिक वायु का आह्वान !

तुम उदय के साथ लाये प्राण का पवमान !
पा गये जिससे पुन निष्प्राण भी नव प्राण ! !

वच लिए अभिशाप सारे, तज दिये वरदान !
विश्व को अमृत पिलाकर, खुद किया विष-पान!
फूल बाटे विश्व को पा शूल के प्रतिदान !
हैं तुम्हारे अनगिनत, अहसास पर अहसान !

भूल सकता कौन तुमको देव, श्रद्धावान ?
तुम हुए माँ भारती के क्रान्ति पुत्र, महान !

आर्य स्पेशल ट्रेन का भव्य स्वागत

श्रद्धानन्द दलितोद्धार सभा दिल्ली के ओर से श्री रामलाल मलिक के नेतृत्व मे भारत भ्रमण एव प्रचार पर निकली आर्य स्पेशल ट्रेन के यात्रियों का अजमेर पहुचने पर आर्यसमाज अजमेर की ओर से रेलवे पर स्टेशन भव्य स्वागत किया गया। वैदिक धम की जय हो आर्यसमाज अमर रहे, ऋषि दयानन्द की जय के उदघोषो से स्टेशन गूज उठा।

श्री रासासिंह के नेतृत्व मे आचार्य गोविन्दसिंह श्री नवीन शर्मा श्री स्वामी सदानन्द श्री किशनसिंह आदि आर्य सज्जनो तथा स्वयसेवको ने इस आयोजन मे सहयोग दिया।

सती कांड की निन्दा

आर्य समाज जीन्द शहर (हरियाणा) ने सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित कर रूपकवर सती काड की निन्दा की है। और सती प्रथा को एक बबर प्रथा बताया है।

—इन्द्रदेव शास्त्री

मातृ मन्दिर रजत जयन्ती समारोह

मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल वाराणसी का रजत जयन्ती समारोह 30-31 अक्टूबर, 1 नवम्बर 1987 को होगा।

— डॉ पुष्पावती (अध्यक्ष)

मूर्ति पूजा का ... (शेष पृष्ठ 1 का)

ऋषि दयानन्द और मूर्तिपूजा

आधुनिक भारत के राजाराम मोहन राय आदि जिन धार्मिक और सामाजिक सुधारकों ने मूर्तिपूजा का निषेध किया है उनमे ऋषि दयानन्द का एक विशेष स्थान है। स्वामीजी ने धार्मिक दृष्टि से ही नहीं अपितु राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से भी मूर्तिपूजा की अनेकों हानियां बताई हैं। उदाहरण के लिए मूर्ति और मन्दिरो मे जिस प्रकार धन और राशि का अपव्यय होता है उसे लोगो की दरिद्रता और अन्य कठिनाईयो को दूर करने मे उपयोग किया जा सकता है। मूर्ति और मन्दिरो के नाम पर अनेक अनाचार लडाई झगडे होते हैं। मूर्तियों को ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष का साधन समझने के कारण लोग आलसी और पुरुषार्थ विहीन बन जाते हैं। नाना प्रकार की शक्लो नामो और भिन्न भिन्न प्रतिफलो की मूर्तियों के कारण धार्मिक एकता नष्ट होकर परस्पर विरोधी मत और सामाजिक अनेकता उत्पन्न होती है जिससे देश को बडी हानि होती है। मूर्तियो के चमत्कारो के भरोसे विजय के स्थान में आक्रमणकारियों से पराजय मिलती है जिसके परिणामस्वरूप देश की स्वतन्त्रता धन और राज्य सब पर शत्रुओ का अधिकार हो जाता है। पत्थर व उसकी कृत विकृत शक्लो को यदि कोई हमारे नाम से पुकारे तो हम इसे अपना अपमान समझकर क्रोधित हो जाते हैं तो भला पूज्य ईश्वर के बदले ऐसी मूर्तियो को ईश्वर के नाम से पुकारना या सम्बोधित करना कितना अपमान जनक है। मन्दिरों और मूर्तियो के दर्शन के लिए लम्बी लम्बी यात्राएं करके वहा अनेक दुख और कष्ट होते हैं तथा धन व समय नष्ट होता है वहा यदि हम अपना समय और ये साधन दूसरो की भलाई और उपकार मे लगाए तो कितना लाभ होगा। मन्दिरो मे चढाये धन का बहुधा पुजारियों द्वारा मद्यमांस के सेवन तथा लडाई झगड़े और यहा तक कि व्यभिचार जैसे कुकर्मों मे उपयोग होता है। माता पिता आदि जीवित मूर्तियो के स्थान मे निर्जीव मूर्तियो की सेवा और सत्कार करना एक प्रकार की कृतघ्नता है। मन्दिरो मे मूर्तियो की चोरी और तोड फोड के कारण आत्मग्लानि तथा अनावश्यक दुख और कष्ट भोगना पडता है। अनेक मन्दिरो मे देव दासियो पुजारियो तथा अन्य स्त्रीयो की कुसंगति से व्यभिचार फैलता है। मन्दिर के पुजारी जिन सुगन्धित पदार्थों और सुन्दर फूलो को तोड़कर मूर्तियो पर चढाते हैं वे पुष्प तथा अन्य पदार्थ शीघ्र नष्ट ही नहीं होते बल्कि पानी के साथ नालियो मे सडकर रोग और दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार मिट्टी मे मिलकर जल वायु दोनो दूषित हो जाते हैं और कभी-कभी उनमे कीडे आदि उत्पन्न होकर रोग फैलाते हैं।

श्री रतनलाल गर्ग आर्य प्रिन्टर्स, अजमेर में मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज, अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द 162

सृष्टि सम्वत · 1972949087

। ओ३म् ।

पाक्षिक पत्र
"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव हैं, सत्य हमारा कर्म ॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 रविवार, 15 नवम्बर, 1987
अक 18 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात् ।
अभय नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

मार्गशीर्ष कृ 9 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

तथाकथित भगवानों का षडयन्त्र

किस प्रकार से तथाकथित भगवान अन्य प्रमुख-प्रभाव शाली लोगो को अपने अनुसार बनाते है यह एक अदभुत रहस्य पूर्ण बात है यथा रौनैल्ड रीगन एव मारगेट थैचर जैसी विश्व विभूतियो को ऐसे तथाकथित प्रभु येन केन प्रकारेण प्रभावित करके अपना वचस्व ससार मे स्थापित कर लेत है। यदि भारत मे प्रधानमन्त्री इनसे यज्ञ कराने हेतु निवेदन करें ताकि किसी भी प्रकार आसन्न सकट समाप्त हो सके तो फिर अन्य साधारण व्यक्ति तो इन भगवानो के स्वत ही भक्तजन बन जावेंगे।

यदि किसी म अधिक विशेष नही अपितु थोडी सी चतुराई-चालाकी रूपी जादुई सदृश ज्ञान हो तो वह अपने जादू से अन्यो को प्रभावित कर लेता है जैसे की सोने की अगूठी बना देना, आग मु ह मे रखना अथवा पानी को तल मे परवर्तित करना आदि।

एसे भगवान अपने देश एव विदेश मे अपने तथाकथित चमत्कारो तथा एसे ही अन्य कारनामो से जनता जनार्दन को विश्वास म लेकर उनसे मन चाहा काय सपन्न कराने म सफल हो जाते हैं जब इस प्रकार के दुश्चरित्र बल पर उन्हे आराम सुख एव ऐश का जीवन यापन सम्भव हो तो फिर वे परिश्रम रूपी कमाई की ओर क्यो ध्यान दें। दुर्भाग्य यह है कि अनेक व्यक्ति इनके जाल मे फसते रहत हैं, और इस तरह य कुत्सित खेल चलते रहते हैं। विचित्र बात यह है कि ऐसे तथाकथित अपने को भगवान कहने वालो की कोई कोई कमी नही होती, एक के बाद दूसरे स्थान ग्रहण करते रहते हैं। इस तरह से यह धार्मिक शोषण का सिलसिला अनवरत रूप से चलता जाता है। ऐसे धम और अनर्गल बातो का भडाफोड करने वाले श्री बी परमानद हैं। 57 वर्षीय श्री परमानन्द अपने व्यक्तित्व के धनी हैं। यदि वे चाहते तो उक्त प्रकार के भगवान बन सकते थ कुछ आश्चयजनक तथाकथित ऐसे ही कार्य कलापो के द्वारा अन्यो को विमोहित कर सकत थे। और उसी प्रकार अपना उल्लू सीधा करके ऐशो आराम का जीवन यापन कर सकते थे किन्तु इसके विपरीत उन्होन ऐसे भगवानो की पोल खोलकर समाज के सामने नग्न करने की ठानी और यही मार्ग चुना।

श्री परमानन्द की काय शैली बडी सरल एव विचित्र है। वे जब कभी पढत या सुनत है कि ऐसे षडयन्त्री भगवान अपने ऐस जादू क करिश्मे दिखला रहे हैं तो वे सावधानी से उनकी चाला का द... हैं समभव है कि य धत किस प्रकार से अपना झूठा वचस्व बनाते हैं। यदि किसी व्यक्ति मे थोडी सा भी जादू आदि (Magic) की जानकारी हो तो वह ऐसी बातो को सरलता से जान सकता है। वैसे श्री परमानन्द ऐसे तथाकथित भगवानो का भडा फोड दस वर्षों से करते आ रहे हैं। वैसे वे ऐसे आश्चर्यजनक एव अद्भुत खेल दिखाने वालो को इस काय मे पारगत होने के लिए एक्सपर्ट बनना होता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि मनुष्य ऐसे भगवानो के पास जाते ही क्यो हैं? क्योकि वे भ्रमवश मानते हैं कि उन तथाकथित भगवान मे विशिष्ट शक्ति है जिससे उन लोगो के कार्य एव समस्यायें हल भी हो सकती है। परमानन्द ने हसत हुए कहा, दुर्भाग्यवश मनुष्यो का इन भगवानो म अटूट अन्ध मुद्रा-भक्ति उत्पन्न हो हो जाती है। वे लोग भूल जाते हैं कि ये भगवान होकर भी फिर क्यो कर धन हरण-एव शोषण करते हैं। ऐसा अधविश्वास अपने स्वार्थ के कारण होता है। वे आगे कहते हैं "क्या मनुष्य ऐसी प्रार्थनाये प्रभु से अपने स्वार्थ सिधि के लिए नही करता जैसे प्रभु मेरे रोग को हटा दो तो मैं प्रसाद बाटू गा अथवा 100/-दान दू गा चुनाव मे जीत हो ऐसा 2 करू गा आदि 2।" क्या यह भगवान को रिश्वत नही है? यदि मनुष्य सच्चे अर्थों में भगवान को मानता है तो फिर जो कुछ उसकी इच्छानुसार होता है वही ठीक और उपयुक्त हैं ऐसा मानना चाहिये।

परमानन्द इस प्रकार के व्यक्ति चाहे वे साधु हो अथवा भगवान कहलाते हो अति विरोधी है। श्री परमानन्द न विशेष रूप स देश की एव विदेश की अनेक यात्रायें की 4000 वक्तव्यो म विज्ञान के आधार पर वार्ताए सुनी समझी हैं। श्री परमानन्द न तथा उनके अनेक साथी जिनमे वैज्ञानिक दार्शनिक विचारशील लोग थे, न्यूयार्क से सन् 1976 मे एक पत्रिका "The Sceptical Inqmrer" निकाली प्रकाशित की। इस पत्रिका का अध्ययन अनेक विद्वानो धार्मिक एव दार्शनिक लोगो ने किया। परमानन्द को इस मासिक पत्रिका प्रकाशन हेतु किस बात ने आकर्षित किया? वे कहते है कि जब मै ऐसी Mircle मे बडा विश्वास करता था तथा मैं भी इस कला मे पारगत होना चाहता था। इस कार्य के लिए मैंने 19 वर्ष मे अपना घर छोड दिया। किन्तु कोई भी मुझे भगवान की वास्त विकपरिभाषा न दे सका। छ माह के इस विश्वास के साथघर लौट कर आया कि ये सब धोखा है और Miracle जैसी चीज कुछ भी नही कि ऐसे भगवान बनने वाले मात्र धोखा देते हैं और वे विशेष परिस्थिति मे Mircle करना जान जाते हैं विशेष कुछ नही-धोखा है इस। विश्वास एव मान्यता को सिद्ध करने लिए वे उदाहरण देते हैं "मैं जब 8 वर्ष का था, प्रोफेसर काजीकल्लम जो मेरे पिता के मित्र थे, ने एक आश्चर्यजनक खेल दिखाया। उसने मैं, मेरे मित्र को अपने घर पर बुलाया और हमने उन्हे अपने घर के टैंक बगीचे मे स्नान करते पाया। जैसे ही हम उनके पास पहुँचे उन्होने हमारे उपर पानी उछाल कर फेंका। आश्चर्य कि वह पानी केला बन गया बाद म उन्होंने कहा कि यह मैं आपके टैंक मे नही कर सकता।

साई बाबा को लो जो कि अपन हाथ के पानी को पेट्रोल म बदल देने हैं किन्तु जब हमनें उन्हे चेलेन्ज दिया कि हमारे बताये द्वारा ऐसा करके दिखाये तो चुप रहे। सच तो यह कि ऐसे चमत्कार दिखानें वाले स्वय क्या दूसरो से भीख-दान मागतें है अर्थात सब धोखा ही धोखा है।'

सत्य साई बाबा भारत क प्रसिद्ध अनक तथाकथित भगवानो मे से एक हैं। जिन पर पहले परमानन्द का भी विश्वास था। किन्तु जब श्री लका के डाक्टर ए क कोवूर नामक ने सन् 1976 म उन्हे दावे क साथ सिद्ध करन को कहा तो वे हक्के बक्के रह गये-सब धोखा। उन्ही

शेष पृष्ठ 5 पर

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान सपादक रामसिंह संपादक · वीरेन्द्र कुमार आर्य ☎ कार्या · 21010

मननीय

— पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय —

हमारी पद्धति में यान्त्रिक युग की भावनायें बड़े वेग से आ रही हैं। उन सूक्ष्म विचारधाराओं के परीक्षण की आवश्यकता है जो साधारण जनता को अन्दोलन में डाल रही हैं और हमारा पुरोहित वर्ग उन पौराणिक रूढ़ियों को प्रोत्साहन दे रहा है जिनके उन्मूलन के लिए 'यज्ञ' को सीमित करने की आवश्यकता है।

सम्पादकीय—

नीड का निर्माण फिर-फिर, नेह का आह्वान फिर-फिर

प्रति वर्ष दीपावलिका पर्व (शारदीय नवसस्येष्टि पर्व) पर प्रत्येक आर्य समाज "महर्षि दयानन्द निर्वाणोत्सव" का आयोजन करता है। क्योंकि मृत्युजयी दयानन्द ने भौतिक देह का 30 अक्टूबर 1883 ई० को दीपावली पर्व के ही दिन परित्याग किया था। अतः इस दिन आर्य समाज निर्वाणोत्सव का आयोजन कर महर्षि दयानन्द के प्रति श्रद्धासुमन अर्पित करती है उनके गुण का श्रवण, स्मरण और स्तुतिगान करते हैं। वैदिक परम्परा मे मृत्यु दिवस या पुण्यतिथि मनाने की परम्परा नही है, अतः हम इसे बलिदान दिवस भी कह देते हैं और आर्यजनो को ऋषि के देश जाति धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए विषपान के कारण हुए अपूर्व गौरव पूर्ण बलिदान से प्रेरणा लेते रहने, धर्म रक्षाहित सर्वस्व अर्पण कर देने तथा आत्मालोचन एव आत्म निरीक्षण करने का आह्वान भी करते रहते हैं।

अभी पिछले दिनो ऋषि का 104 वा निर्वाणोत्सव मनाया गया। रस्मी आयोजन हुए। शब्दो के घटाटोप मे मूलशकर की मूल भावना को भुलाकर के दयानन्द को दया और आनन्द दोनो को भूलकर केवल वाचिक श्रद्धाजलिया एव गुण कीर्तन कर अपने कर्तव्य की इति श्री समझ लेते है इस कारण इन रस्मी आयोजनो से हम कोई नई स्फूर्ति नया जोश और उत्साह अथवा सरफरोशी की तमन्ना प्राप्त नही हो पाती। उर्दू शायर की ये पक्तिया सभवत मेरे मतव्य को उजागर करेंगी।

"शुक्र करता हूँ कि गैरो मे नही कोई गिला
शर्म आती है कि अपनो से शिकायत है मुझे।
"नश्तर को लेके हाथ मे फस्साद ने कहा
रग रग मे है करम मैं लगाऊ कहा कहा?
पूछता रहता है अक्सर इस सुलगती आग से,
इक नशेमन के लिए, यह गुलिस्ता बचेगा क्या?

आत्मालोचन के इस अवसर पर हम अपने अन्दर टटोल कर देखें कि आज हमारा विशाल सगठन क्यो शिथिल हो गया? गुटबाजियो और दलबन्दियो के रोग हमारे अन्दर क्यो पनप रहे है? पदलिप्सा का घुन हमे क्यों खाये जा रहा है? हमारी प्रमाणिकता क्यो अविश्वसनीयता का शिकार हो रही है? अखाडो पर राख जमकर क्यो कोरा धुआ बाहर निकल रहा है? नई पीढी हमारी ओर क्यो आकर्षित नही हो रही है? हमारा नेतृत्व क्यो अकर्मण्य होकर रह गया? पौराणिकता हमारे अन्दर भी क्यो घुसपैंट कर रही है? नई पीढी के विद्वान आर्य समाज के प्रचार-प्रसार मे क्यो आगे नही आ रहे? हमारा सदाचार और आदर्श व्यवहार क्यो शकित हो रहा है? हमारे उत्सवो समारोहो जलूसो और आयोजनो मे सजीवता क्यो नही आ रही है? इन सब सवालो का एक ही उत्तर है कि हम निर्माण पथ से भटक गये है। आर्यत्व के सस्कारो का निर्माण आयजनो का निर्माण, आर्य परिवारो का निर्माण आर्योचित आदर्शों का निर्माण, आर्य जीवन का निर्माण। प्रत्यक आयजन जीवित और जाग्रत आर्य समाज का रूप बने। आन, बान, शान मे निराला आर्य पन हो। व्यक्तित्व मे चुम्बकीय आकर्षण हो, आर्य सगठन का निर्माण हो। जो प्रेम, सदाचार दया करुणा परोपकार सच्चरित्रता, सिद्धान्तनिष्ठा सेवाभाव रग-2 मे रमा हुआ हो। अत हमे इस निर्वाणोत्सव के निर्माणोत्सव म बदलने का सकल्प लेना होगा।

—रासासिंह

आर्य वीर

लाला लाजपतराय

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा सस्थापित आर्य समाज ने जहा एक ओर पराधीन भारत मे सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्रो मे महान सुधारात्मक कार्य किया था, वही दूसरी ओर स्वाधीनता की लडाई मे भी बढ चढकर भाग लिया था। आर्य समाज के जिन प्रमुख व्यक्तियो ने परतत्र भारत की बेडियो को काटने मे अपना सर्वस्व स्वतन्त्रता की देवी का अर्पण कर दिया था उनमे लाला लाजपतराय जी का नाम अग्रगण्य है।

लालाजी ने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ एक आर्य समाजी प्रचारक के रूप मे किया था।

उनके क्रातिकारी मित्र श्री विपिन चन्द्रपाल ने लिखा है कि लालाजी को मैने सबसे पहले 1887-88 म एक आर्यसमाज युवक प्रचारक के रूप मे देखा था-लालाजी आर्य समाज को अपनी माता और महर्षि दयानन्द को अपना धर्म पिता कहा करते थे।

लालाजी सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। प्रसिद्ध पत्रकार श्री फतेहचन्द शर्मा आराधक के शब्दो मे– "लाला लाजपतराय एक ही समय में सब कुछ थे। शिक्षाशास्त्री भी, राजनीतिज्ञ भी, नेता भी नागरिक भी, विचारक भी और प्रचारक भी।"

आप एक उच्चकोटि के विचारक थे। इसका प्रमाण आपकी पुस्तक दी आर्य समाज है, जिस सकट का सामना आज आर्य समाज कर रहा है, उसकी भविष्यवाणी आपने अपनी पुस्तक मे बहुत पहले ही कर दी थी। आपने लिखा था-"मैं जहा यह चाहता हू कि आर्य समाज सबसे पहले हिन्दुओ के लिए कार्य करे और बाद मे अन्य ससार के लिए वहा मैं यह कभी नही चाहूंगा कि आर्य समाज हिन्दू धर्म के विशाल समुद्र मे विलीन हो जाय। हिन्दू धर्म या और अन्य किसी म उसके विलीन हो जाने पर मुझे बडा खेद होगा। आर्य समाज का स्वतन्त्र अस्तित्व उसकी उपयोगिताओ के लिए आवश्यक है।"

जीवन के अतिम वर्षो म लालाजी आर्य समाज के प्रति थोडे उदासीन हो गये थे। और उनकी उदासीनता उचित भी थी। उचित क्यो थी? इस सदर्भ श्री विपिनचन्द्रपाल के निम्न शब्द विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

"लाला लाजपतराय बडे अच्छे आर्यसमाजी थे किन्तु उन्हे अच्छे मित्र नही मिले थे। इस सस्था के बहुत थोड व्यक्तियो ने इतना भारती बलिदान किया होगा जितना लाला लाजपतराय ने किया किन्तु उन दिनो पजाब के आर्य समाजी नेताओ ने पजाब के गवर्नर को यह कहा था कि लाला लाजपतराय का हमसे और आर्य समाज से कोई सम्बन्ध नही। लालाजी को जितना दुःख अपने मित्रो की कायरता पर हुआ उतना नौकरशाही के दमन से नही।"

आर्य जाति के गौरव, ऋषिवर के अमर शिष्य, अमर हुतात्मा लाला लाजपतराय को उनके बलिदान-दिवस 17 नवम्बर के अवसर पर पडितराज जगन्नाथ के निम्न शब्दो मे श्रद्धांजलि सादर समर्पित हैं- तोयै रल्पैर पि करुणया भीममानौ निदाघे, मालाकार व्यरचि भवता या तरोरस्यपुष्टि।

सा कि शक्या जनयितुमिह प्रावृषेण्येन वारां धारा सारानपि विकिरता विश्वतस्तो वारिदेन॥

अर्थात हे माली भयकर झुलसाने वाली गर्मी के दिनो मे पानी के छोटे-छोटे घडो से सींचकर उस वृक्ष को जो तूने जीवनदान दिया। उसकी तुलना मूसलाधार जल बरसाती हुई वर्षा ऋतु की घनघोर घटाए नही कर सकती। क्यो कि इस सुखमय समय के दर्शन तुम्हारी कृपा से ही हो रहे हैं।

—वीरेन्द्र आर्य

परमात्मा का स्वरूप

— डा० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती —

(आर्य समाज अजमेर में दिया वेद प्रवचन)

नम शम्भवाय च मयोभवाय च नम शंकराय च
मयस्करायच नम शिवाय च शिवतराय च

ईश्वर के इस मन्त्र में शम्भव, मयोभव, मयस्कर, शंकर, शिवतम, शिवतराम के नाम ईश्वर के आये हैं, तथा पांच मिनट की सध्या में 20 25 नाम परमात्मा के आते हैं।

सत्यार्थ प्रकाश मे परमात्मा के अनेक नाम महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बताये हैं। परमात्मा के नाम गुण कर्म स्वभाव बताते हैं। व्याख्यान देने पर व्याख्याता, न्याय देने पर न्यायाधीश कर्म बताता है तो स्वामीजी बडे स्पष्ट वक्ता हैं, ये गुण बता रहा है। आर्य समाज मे काले, गोरे पीले तीनो का प्रभाव रहा है पीले चीनी, काले हब्शी व गोरे अमरीकी है।

परमात्मा के सभी नाम उसके गुण कर्म स्वभाव को बताते है। नही है निर्गुण तथा है सगुण का परिचायक है क्योंकि सगुण भी है तो निर्गुण भी हैं महर्षि स्वामी दयानद पहले व्यक्ति थे जिन्होने स्पष्ट किया कि परमात्मा निर्गुण भी है तो सगुण भी जैसे प्रभु तुम अवतार नही लेते हो निर्गुण रूप बनाता है। प्रभु तुम सच्चिदानन्द हो यह ईश्वर का सगुण रूप बताता है आर्य धर्मावलम्बी वेदानुकूल वेद मत्रो पर आधारित सगुण व निर्गुण ईश्वर को मानते हैं, जबकि आर्येत्तर निर्गुण नही सगुण ईश्वर को मानते है।

स पर्य्यगच्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरऽ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य ॥ अकायम् अर्थात् ईश्वर का शरीर नही है। परमात्मा को कोई टेलीविजन पर प्रदर्शित नही कर सकता। जिसका फाटो है वह परमात्मा नही है। जिसे आखो से देखा वह कुछ भी है परन्तु परमात्मा नही हो सकता है। जो दीखे, जो स्वप्न मे आये वह मस्तिष्क का विक्षेप हो सकता है पुनस्मृति हो सकती है, पर वह भूत प्रेत नही हो सकता। आखो म जिसे देखा वह परमात्मा नही। मेरे परमात्मा को कोइ तीर नही मार सकता।
अस्नाविरम शुद्धम् अपापविद्धम्
कवि मनीषी परिभू स्वयम्भू अर्थात क्रान्ति दर्शक-मनीषी तथा स्वयम् होने वाला है। अर्थात परमात्मा अपने आप बना है उसे किसी ने नही बनाया वह स्वयम्भू अर्थात् स्वय होने वाला स्वय ही है वह परिभु है।

न मेरे जन्मने का कोई दिवस है न उसके जन्मने का कोई दिवस है। तू मुझे अपने राज्य से नही निकाल सकता तथा मै तुझे नही निकाल सकता। क्योकि तेरा शासन क्षेत्र अनन्त है। परमात्मा दण्ड दे सकता है पर किसी को काला पानी नही भेज सकता। आर्य कौन है? आर्य वह है जो कही भी बैठ कर पूजा कर सके क्योकि उसका परमात्मा वहां है। आर्य समाज का व्यक्ति कहीं भी किसी भी समय पूजा कर सकता है जबकि आर्येत्तर पूजा के लिये ढूढता मन्दिर मस्जिद गिरजा। मेरा अत्यन्त प्रिय वेद वेद की उपासना अतिप्रिय है। मेरा परमात्मा को पाने के लिए कोई हज नही करना होता तथा न ही काशी प्रयाग जाना पडता है। मै जहा हू मेरा प्रभु वही है। परमात्मा जहा है पूरा है अर्थात हर स्थान पर विद्यमान है सवम वै पूर्णम् परमात्मा प्रत्येक स्थान क्षण म पूरा है। वेद की विशेषता तुलसीदास सूरदास शेक्सपियर या कालीदास की नही बल्कि सभी के लिये वेद की समान विशेषता है।

वेद पारायण की विधि वेद मन्त्रो के साथ आहुति देने की पद्धति आर्येत्तर पद्धति है। वेद पारायणयज्ञ व्यर्थ हैं। वेद का पारायण आवश्यक है वेद मे रुचि रखने वाला को वेद पारायण करना चाहिय। वेद न मिले तो कोई पुस्तक ले लो उसका पारायण शुरू करो। वेद पारायण से सबसे बडा लाभ सस्कृत का ज्ञान है। वेद की बडी विशेषता है वो है प्राचीनता, देश का कोई समय ऐसा नहीं जब वेद न हो जब आर्यावर्त आर्यावत था इसे वदा पर अभिमान था। महाभारत से पूर्व कोई पुस्तक ऐसी न थी जिसका सम्बन्ध वेद से न हो। स्वामी दयानन्द कहते है ब्रह्मा से जैमिनी तक वेद व वद के चारो तरफ समस्त साहित्य है। दर्शन निरुक्त उपनिषद व्याकरणादि की रचना वेद को समझने के लिये की गई। हमारी आस्था ईश्वर मे, ईश्वर की सृष्टि मे, वेद के ज्ञान म, ईश्वर की व्यवस्था म सदा रहे। आर्य विचार-ईश्वर का का ज्ञान वेद व उसकी बनायी सृष्टि मे है। ईश्वर म विश्वास करे व ईश्वर की सृष्टि को मिथ्या समझे वह नास्तिक है। ब्रह्म सत्यम् जगत मिथ्या से वेद बिलकुल उल्टा कहता है।

वेद का पहला मन्त्र है ईषेत्वा उर्जेत्वा। हे मेरे ईश्वर तू मुझे अन्न व इष का अर्थ है अन्न यजुर्वेद का पहला मन्त्र है परमात्मा तू मुझे इष व उज दे मै तुझ इष व उज के लिये याद करता हू। परमात्मा की सृष्टि मे अन्न के साथ-साथ उर्जा है। सप्त पदी विवाहोपलक्ष्य मे अपनाई जाती है

पहला पद इष के लिये व दूसरा पद उर्ज के लिय है।

ओउम् अभ्यादा नये पडवष्टये।

उद्योग में इष कच्चा माल है। सबसे पुराना वैदिक अन्न यव (जौ) है जिसके पास यव (जौ) अधिक है वह यवमन्त अर्थात यवमान है। दूसरा अन्न धान है धन शब्द की उत्पत्ति धान से है जिसके पास धन वह धनवान जिसके पास यव है व यवमन्त व जिसके पास गौ है वह गोमन्तक है तथा जिसके पास अश्व है वह अश्वमन्तक है। तथा जिसके पास कुश (घास) है वह कुशवान है, कुशनवान नही है।

कुशा-घास चारा। वद की दृष्टि स सुख के भौतिक साधन यव (जौ) ईश कुश (घास चारा) है, तथा वद के अनुसार सुख का आन्तरिक साधन बुद्धि (मेधा) है।

ओ३म् या मेधा देव गणापितर श्चोपासत तयामा यद्य मेधयाग्ने मेधाविन कुरुस्वाहा हम बुद्धि चाहिय, आपस मे सौमनस्य चाहिये, प्यार चाहिय।
समानो मत्र समिती समानी समानम् मन सह चित्तमेषाम् समान मन्त्रम निमन्त्रये व समानेन वो हविषाजुहोमि तथा —

संगच्छध्व सवदध्व सवोमनासि जानताम्
देवा भाग यथा पूर्वे स जानाना उपासते।

हमारा बोलना कार्य करना व विचार करना एकसा हो, हमारे घर मे सारे काम मिलकर मतैक्य म करें। वद चाहता है हम एक साथ बोले अच्छा बोल मीठा बाले, भद्र बोल ओ३म भद्र कर्णेभि शृणुयाम भद्र पश्येम् अक्षभि हम काना से अच्छा सुने आखो से अच्छा देखे, अथववद का मत्र है आ-म् सुभूतो कर्णो भद्र श्रुता कर्णो भद्र श्लोक श्रुयात।

मरे दो काना से अच्छा सुनु भद्र सुनने वाले हो। दूसरा की अच्छाई ही हम सुने, भद्र सुनने वाले हो कान बुराई सुनन वाले न हो विरोध के लिये विरोध न हो। वद मव्यक्ति परिवार समाज व देश के लिए समान रूप से बात कही है वद सबका है किसी वग विशेष का नही हम भूमि पुत्र है अथर्ववेद का पृथ्वी सूक्त राष्ट्रीयता का पाठ पढाता है। तच्चक्षुर्देवहितपुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत पश्येम शरद शतम्, जीवेम् शरद शतम् शृणुयाम् शरद शतम् प्रब्रवाम शरद शतम् अदीनास्याम शरद शतम् भूयश्च शरद शतात।

प्रस्तुति : नवीनकुमार शर्मा

चिता सें लौटाकर पुर्नविवाह कराने वाली ऋचाएं

यह देखकर अचम्भा और सदमा होता है कि आज भी हिन्दुओ मे यह माना जा रहा है कि सती-प्रथा निर्विवाद रुप से शस्त्रोक्त है और यह बहुप्रचलित रही हैं। सिफ सती-प्रथा ही नही, हिन्दुओ के तमाम इस तरह के विश्वासो को यदि शास्त्रो या अन्य प्रमाणो की कसौटी पर परखा जाए तो वे अधिक से अधिक अधसत्य ही ठहरते है। लेकिन कोई धूर्त या मूख 'फलावेद/प्रमुख शास्त्र मे ऐमा कहा गया है' से शुरु कर किसी भी मानवविद्रोही विचार को वर्षों के लिए प्रचलित कर सकता है।

चू कि सती की अवधारणा स्त्री के विधवा होने से जुडी हुई है इसलिए देखना यह होगा कि हिन्दु सस्कृति के आदिकाल वैदिक युग मे विधवाओ का क्या स्थान था। सबसे पहले तथ्य यह है कि युग मे विधवा होना कोई दुर्भाग्य कलक या विपति नही माना जाता था। तब समाज मे विधवा को केवल विधवा रहकर भी जीने का अधिकार था। एक ऋग्वेदीय ऋचा मे ऐसी स्त्रियो का उल्लेख है।

लेकिन यह कही भी अनिवाय न था कि विधवाए विधवा ही रहे। उन्हे पुर्नविवाह का अधिकार था। अथववेद मे ऐसी पुर्नर्निविवाहित स्त्रियो को 'पुनभू कहा गया हैं। ऐसे पुर्नविवाह का ठोस प्रमाण इस तरह मिलता है —

या पूर्व पति वित्वाथान्य विन्दते परम्।
पचोदन च तावजद व दातो न वि योषत ॥
समानलोको भवति पुनभु वापर पति ।
योऽज पचौदन दक्षिणाज्योतिष ददाति ॥
(अथववेद 9, 5 27 28)

"जिस स्त्री का पहला पति था यदि वह दूसरे स विवाह करती है और यदि वे पति पत्नी पचौदन (पचमेल भोजन या भात) के साथ देत हैं तो वे कभी अलग नहीं होगे। दूसरा पति अपनी इस दूसरा विवाह करने वाली पत्नी के साथ उसी लोक को प्राप्त करेगा "

इससे यह सकेत अवश्य मिलता है कि पचौदन के रुप मे पुर्नविवाह का कोई सामाजिक शुल्क प्रायश्चित शुल्क दिया जाता था। किन्तु यह एक टोकन' के अलावा कुछ न था।

कुछ लोगो का ऐसा मत है कि अथववेद मे विधवाओ के पुर्नविवाह का प्रकागतर मे एक और उल्लेख है —

उत यत पतयो दश स्त्रिया पूर्वे अब्राह्मणा ।
ब्रह्मा चेदधस्तामग्रहीन स एव पतिरेकधा ॥
ब्राह्मण एव पतिन राजन्यो न वैश्य ॥ (5, 17 8 9)

"किसी नारी के दस अब्राह्मण पति भी हो चुके हो किन्तु यदि ब्राह्मण उससे विवाह करे तो वही उसका वास्तविक पति माना जायेगा। वह ब्राह्मण ही उसका पनि होगा (पिछले) क्षत्रिय या वैश्य नही।

असदिग्ध प्रमाण होन के बावजूद वैदिक साहित्य मे विधवा पुर्नविवाह के उल्लेख इसनिए अधिक नही पाए जाते क्याकि तत्कालीन समाज म सतानोत्पत्ति स्त्री का चरम साफल्य माना जाता। उसके लिए उसका विधिवत विवाह करना आवश्यक न था क्याकि तब नियोग नामक प्रथा भी विवाह जितनी ही समादृत और प्रचलित थी। नियोग के अन्तर्गत निस्सतान विधवा (या नपु सक की पत्नी) अपने देवर या उस उद्देश्य के लिए जायज किसी अन्य नजदीकी रिश्तेदार से सतान प्राप्त कर सकती थी। नियोग-प्रथा से प्राप्त किया गया पुत्र दत्तक पुत्र से ज्यादा श्रेयस्कर समझा जाता था।

अश्वि-युगल को सम्बोधित करते हुए ऋग्वेद में एक जगह कहा गया है "तुम्हे उस तरह कौन बुलाता है जैसे विधवा अपने देवर को बुलाती है? को वा शयुत्रा विधवेव देवर (10, 40,2)। इससे देवर से विवाह या नियोग का स्पष्ट सकेत नही मिलता लेकिन निरुक्त (3/15) मे इस ऋचा की व्याख्या मे देवर को दूसरा पति माना गया है।

वैधव्य, सती-प्रथा और समाज मे विधवा के पुनर्स्वीकार के बारे मे एक महत्वपूण उल्लेख अथर्ववेद मे मिलता हैं, जिसमे नियोग प्रथा का जो स्पष्ट हवाला है?

इय नारी पतिलोक वृणाना नि पद्यत उपत्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्म पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजा द्रविण चेह धेहि ।
उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोक गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्रामस्य दिधिषोस्तवेद पत्युजनित्वमभि स बभूथ ॥
अपश्य युवति नीयमाना जीवा मृतेभ्य परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनय तदेनाम् ॥
प्रजानत्यघ्न्य जीवलोक देवाना पथामनुसचरती।
अय ते गोपतिस्त जूषस्व स्वर्ग लोकमधि रोहयैनम्।
अथववेद 18, 3, 1-4)

इन ऋचाओ का सदर्भ इस तरह है प्राचीन धर्म का पालन कर पहले मन्त्र मे विधवा अपने मृत पति के साथ लेट जाती है। तब दूसरे मन्त्र म उसका देवर या अन्य कोई निकट का सम्बन्धी उसे चिता पर से उठने के लिए कहता है। तीसरे मन्त्र मे वापस घर ले जाया जाता है और अन्त मे जो भी योग्य पुरुष उससे विवाह की कामना करे उसके बारे मे कहा जाता है कि यही तेरा पति है।

प्राचीन धर्म का पालन कर पतिलोक की कामना करती हुई यह स्त्री मृत पति को त्याग कर तेरे पास आई है। इस धर्म को पालन करने वाली स्त्री को तू इस ससार मे सतान और धन दे। हे स्त्री! तू जो इस मृत पति के पास लेटी है उठकर उसके पास से चली आ। ससार मे लौटकर तेरा पाणिग्रहण करने वाले (अपने-दूसरे) पति की सतान को प्राप्त हो। श्मशान की ओर जीवित ले जाई गई और मृत, मनुष्यो के बीच से वापस लाई गई युवती को मैंने पुर्नविवाह किया देखा है। जो शोकजनित अधियारे से घिरी हुई थी उस घर की ओर जाने वाली इस स्त्री को यहा समक्ष लाया हूँ। हे अवध्य स्त्री! ससार को खूब जानती हुई और देवताओ की राह पर चलती हुई, यह जो तेरा गोपति (नया पति) है उससे प्रेम कर। इस तरह इस गोपति को स्वग का पात्र बना।' (हिन्दुस्तान से (साभार)

प्रतिनिधि आर्य

—देवनारायण भारद्वाज

कुछ अधिक बनो या बनो नही, मानव हो सच्चे बन जाओ।
निधि दयानन्द के बन न सको, प्रतिनिधि ही सच्चे बन जाओ ॥

ऋषि-मुनि पडित सन्त मनीषी,
मानव के विविध विशेषण थे,
यदि मुल मनुज हो मिट जाये,
तो व्यर्थ हुए विश्लेषण ये, ॥
जीवित की शोभा आभूषण,
मृत हेतु व्यर्थ परिवेशन ये।
अनुशासन स्नेह सगठन बिन,
सब अर्थहीन अधिवेशन ये।
स्वामी समान यदि बन न सको, सेवक ही बन जाओ।
निधि दयानन्द के बन न सको, प्रतिनिधि ही सच्चे बन जाओ ॥

सत युग त्रता द्वापर बीते,
जब आर्य धर्म का था प्रकाशन
कलयुग के आरम्भ काल तक,
था वेद यज्ञ का ही विकास ॥
मतभेद द्वंद्व उमडे ऐसे,
हो गया महाभारत विनाश।
ऋषि दयानन्द ने आकर के,
था रोक दिया ये ध्वस ह्रास ॥
ऋषि के अनुयायी बन न सको, न्यायी ही सच्चे बन जाओ।
निधि दयानन्द के बन न सको, प्रतिनिधि हो सच्चे बन जाओ ॥

रामायण पर एक प्रतिक्रिया ऐसी भी

राम और सीता

— सीताराम गोयल —

टी वी सीरीयल रामायण मे सीता का चित्रण जो किया गया है उससे सती के जुर्म को कानूनी सहायता मिलती है। मेरा सुझाव है कि दूरदर्शन इसके साथ दूसरे विचार जो कि बंकिमचन्द्र की रामायनेर आलोचना मे दिये गए है, भी प्रस्तुत करे।

प्रसिद्ध बगाली लेखक की इच्छा है कि साधु सतो के हिन्दू औरतो पर कटाक्ष के मूल मे जाना चाहिए जिसमें हिन्दुस्तानी औरत मनुष्य प्रधान समाज के अधीन व उनकी शिकार रही है। खासकर पुराने काल के कवियो ने औरत को नीचा गिराया है उसको सीधी साधी अल्प बुद्धि तथा पति व सुसराल वालो पर पूर्ण रूप से आश्रित जताया है इसलिये लेखक ने खोज कर पश्चिमी हिन्दी प्रभावी लेखको के विचार साथ मे रखे हैं जिसमे वाल्मिकी रामायण पर कठोर आलोचना की है तथा युरोप म जो विचार का विषय बना हुआ है। इस खोज मे सीता का जो चित्रण उभरा है वह वास्तव मे हृदय विदारक है। उस काम मे कवियो ने छोटी मोटी कहानियो मे स्त्री के चरित्र पर आघात किया हैं तथा अपने कर्तव्य म गिर गये थे। औरत अपने आप मे ऊचे स्तर व वास्तविक मान मर्यादा पर रही हैं।

सीता की पुनरावृति मे कभी भी गुलामी व मीथ रूप का भासनही होता है। उसने अपने दिमाग स्वेच्छा से जो सही था निर्णय लिए थे। वह भी सही है कि कभी 2 राम के मोहनी रूप से आकर्षित हुई। लेकिन वो चाहती थी की पिता के राज को ठुकराने तथा वन जाने के आदेशो का पालन न करें।

राम के पिता के आदेशो का भीरुता से पालन करनें पर उसको धक्का लगा लेकिन उसको विश्वास था की उसके साथ होने से राम अपनी वीरता पर गौर करऔर राज पानें के लिए अयोध्या वापस लौटेगें। इसीलिए वह राम के साथ वन में भी गई। लेकिन राम ने इस रुख पर ध्यान नही दिया। इसके उपरान्त दडाकरन्य में राम जीव जन्तुओ व जगलवासियो से मोह करने लगे।

सीता जिसने राजकुमारी का जीवन जिया उसको यह वनवास-मौत की जिन्दगी ने ऊबा दिया था। तथा उसने रावण के साथ जो कि राम जैसा खबसूरत नही था फिर भी मनुष्य से उपर था साथ रहना चाहा। वह एक वर्ष मे लका मे रही तथा वहा के वैभव का आनन्द लिया। राम अपने जगली वीरो की सहायता से सीता के आनन्द के समय मे कमी कर सका तथा रावण पर विजय पाई। सीता जब राम के पास आई उसने कोई दु ख व पछतावा प्रगट नही किया। जब मनुष्य श्रेष्ट ने उसको जिन्दा जलाने का आदेश दिया तो उसने बड़ी हिकारत की निगाह से देखा। वह बड स्वाभिमान से भरी तथा उस कमजोर डरपोक से निगाह मिलाई लेकिन मनुष्य श्रेष्ट प्रधान के सामने झुकी नही।

बंकिम चद्र के लेख उनकी किसी पुस्तको मे आसानी से मिल सकते हैं। दूरदर्शन को तो केवल उनके आधार पर टी वी लेख तैयार करना होगा। यह आलेख व प्रदशन भावी पीढियो के लिए बहुत ही उत्साह वर्धक रहेगा क्योकि वो आगामी काल मे राज्य करेगें। अब समय आ गया है अब की औरत के स्वाभिमान को बचाया जा सके जिसको बहुत हद तक वाल्मिकी तथा तुलसीदास जैसे लोगो मे काफी नुकसान पहुँचाया है। यहा तक की जवान औरत को मरनें वाले के साथ जलना पडा। अब तक जिन्दगी मे जवानी रहती है उमके आकर्षण को पूरा भोगना चाहिये और स्वर्गीय सुख के लिए बलिदान न कर देना चाहिए। (टाइम्स आफ इण्डिया से साभार)

दयानन्द वैदिक शोधपीठ, अजमेर

महोदय,

दयानन्द वैदिक शाधपीठ अजमेर शीघ्र ही वैदिक विज्ञान, धर्म दर्शन संस्कृति शिक्षा, शिल्प एव इतिहास-प्रचारिका एक षाण्मासिक शोध-पत्रिका के प्रकाशनार्थ कृतसकल्प है उत्तमकोटि के शोध-निबन्धो के लिए समुचित दक्षिणा की व्यवस्था है। शाध-निबन्ध 10-20 पृष्ठ का होना चाहिए। भाषा हिन्दी तथा टकण कार्य सुस्पष्ट होना चाहिये। ये शोध-निबन्ध दिनाक 15-12-87 तक अनिवार्य रूप से अधोहस्ताक्षरकर्त्ता शोधपीठ के अध्यक्ष के पास पहुच जाने चाहिए। विलम्ब से प्राप्त होन वाले निबन्धो को इस अक म प्रकाशित करना सम्भव न हो सकेगा। निबन्ध की कोटि तथा प्रकाशनार्हता का निर्धारण तदर्थ गठित समिति करेगी। स्तरावर तथा अमर्यादोचित निबन्धो को समुचित डाक-व्यय प्राप्त होने पर वापस भेजना सम्भव हो सकेगा।

सरक्षक
आचार्य दत्तात्रेय आर्य
निदेशक

प्रधान-सम्पादक
(डा) बाबूराम शास्त्री
आचार्य एम ए, पी एच डी, डी लिट.
प्रोफेसर एव अध्यक्ष

शोक प्रस्ताव

आर्य समाज अजेमर ने अपने सभासद तथा हैदराबाद सत्याग्रही श्री मूलचन्द तवर के दिनाक 29 अक्टूबर को हुए असामयिक निधन पर दु ख प्रकट किया है और परम पिता परमात्मा से उनकी आत्मा को चिरशाति एव सद्गति प्रदान करने की प्रार्थना की है।

सम्मेलन

आर्यसमाज बांसवाडा मे 6 नवम्बर से 8 नवम्बर तक वनवासी सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसी अवसर पर आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की अतरग सभा का अधिवेशन 8 नवम्बर को सम्पन्न हुआ। इसमें सभा के शताब्दी समारोह सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण निर्णय लिए गए।

शुभ विवाह

आर्यसमाज शिक्षा सभा क उपमत्री श्री वदेरत्न आर्य की सुपुत्री सौ मजुला का विवाह शिमला निवासी चि विनय से 4 नवम्बर को सानन्द सम्पन हुआ।

'आर्य पुनर्गठन' परिवार की ओर से नवदम्पति को हार्दिक शुभ-कामनाए।

भगवानो का षडयन्त्र : [पृष्ठ 1 का शेष

डाक्टर साहब नें उन्हे एक लाख देनें को कहा फिर भी चुप लगा गयेइतना ही नही परमानन्द स्वय नें भी साई बाबा को अनेक बार ललकारा किन्तु वे तो उनका (परमानन्द) नाम सुन कर ही चले जाते थे। वे तो अपने 5000 भक्तो के बीच मे आश्रम मे ही कुछ करते रहते थे। परमानद ने अनेक भाषणो के अतिरिक्त अनेक पत्रिकायें-पर्चे प्रचारित किये जिनमे श्री साईबाबा की पोल एव धोखा धडी के विषय मे बताया। वे भी साई बाबा को अपनें इस घृणित धन्धे मे बडा धोखेबाज कहतें हैं। इतना ही नही परमानन्द नें तो इस भगवान के विरुद्ध कानुनी कार्यवाही भी की। अधिक क्या कहे, साई बाबा को गत वर्ष गोल्ड कन्ट्रोल एक्ट के विरुद्ध कोर्ट म दावे मे घसीटा गया क्योकि वे अपने भक्तो को हवा-पानी से सोना बनाकर दते थे। (इम प्रिन्ट से साभार)

श्री रासासिंह के नेतृत्व मे आर्य स्पेशल ट्रेन के स्वागतार्थ स्टेशन पहुँचे आर्यजन

आर्य समाज शिक्षा सभा अजमेर की बैठक सम्पन्न

स्थानीय दयानन्द कॉलेज, डी. ए. वी. स्कूल, छियाबास संस्थान तथा अन्य दस विभिन्न शिक्षण संस्थाओं की प्रबन्धकारिणी संस्था आर्य समाज शिक्षा सभा की कार्यकारिणी की एक विशेष बैठक रविवार 1 नवम्बर, 1987 ई० को सभा के प्रधान न्यायमूर्ति जस्टिस श्री वी. पी. बेरी की अध्यक्षता मे दयानन्द कॉलेज सभागार में सम्पन्न हुई।

आर्य समाज शिक्षा सभा की प्रबन्ध समिति ने तीन लाख के नवीन भवन निर्माण एवं दयानन्द कॉलेज मे अजमेर विश्वविद्यालय को स्थान देने के प्रस्तावों को स्वीकृति प्रदान की।

इस बैठक में डी ए वी मैनेजिंग कमेटी, दिल्ली के अध्यक्ष प्रो वेदव्यासजी, श्री दरबारीलाल व श्री रामनाथ सहगल तथा बम्बई के कैप्टेन देवरत्न आर्य ने भी भाग लिया।

दयानन्द कॉलेज ट्रस्ट स्थापित

आर्य समाज शिक्षा, अजमेर के अन्तर्गत संचालित दयानन्द कालेज तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं की अचल सम्पत्ति की सुरक्षा हेतु दयानन्द कॉलेज ट्रस्ट की स्थापना की गई है। ट्रस्ट के सात ट्रस्टी सर्व सम्मति से नामजद किए गए हैं। जिनमे न्यायमूर्ति जस्टिस श्री वी पी बेरी, डी ए. वी मैनेजिंग कमेटी, दिल्ली के प्रधान प्रो वेदव्यासजी व मंत्री श्री दरबारीलालजी, श्री दत्तात्रय वाब्ले श्री रासासिंह, कैप्टेन देवरत्नजी आर्य, बम्बई, श्री मेजर प्रभाकर वाब्लेजी के नाम शामिल हैं।

रविवार 1 नवम्बर को हुई ट्रस्ट की प्रथम बैठक में आर्य समाज शिक्षा सभा की सम्पत्ति की सूची प्रस्तुत की गई जिसमें लगभग चार करोड़ के छोटे-मोटे भवन हैं। बैठक मे इन सभी का रख-रखाव, नक्शा व रजिस्टर सुव्यवस्थित रखने का निश्चय किया गया।

वार्षिकोत्सव

आर्य समाज विज्ञान नगर द्वारा तृतीय वार्षिकोत्सव व यजुर्वेद पारायण यज्ञ ५ से ८ नवम्बर तक धूमधाम से मनाया गया।

—केवल कृष्ण शास्त्री

हैदराबाद के सत्याग्रहियों की संगोष्ठी

अजमेर। नवम्बर। आर्यसमाज अजमेर के तत्वावधान में हैदराबाद के सत्याग्रहियों की समस्याओ के विषय मे विचार-विमर्श करने हेतु एक संगोष्ठी का आयोजन समाज भवन मे किया गया। संगोष्ठी मे श्री ब्रह्मदत्त स्नातक (जनसम्पर्क अधिकारी सार्वदेशिक सभा) ने सत्याग्रहियो को समस्याओ के समाधानार्थ अपने सुझाव दिए।

गोष्ठी में सर्वश्री फैय्याज अली व बक्षीलाल, शाहपुरा, मदनलाल बलवन्तसिंह, जगन्नाथप्रसाद व स्वामी देवारामजी आदि सत्याग्रही सम्मिलित हुए।

संचालन श्री नवीन कुमार शर्मा ने किया।

आर्य समाज अजमेर द्वारा प्रकाशित साहित्य

1 देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन—मूल्य 0.50 पैसे
2 हमारी राष्ट्रीयता का आधार—मूल्य रु. 1 00
3 आचार संहिता—मूल्य 0 50 पैसे
4 दी आर्य समाज हिन्दू विदाउटहिन्दूइज्म (अंग्रेजी)—विशेष रियायती दर रु 75 00
5 आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं मूल्य—50 रु.

अन्य प्रकाशन—

1 आर्य समाज (हिन्दी मूल्य सजिल्द20 00 रु अजिल्द 16 00 — ले लाला लाजपतराय
2 धर्म शिक्षा (भाग 1 से 11 तक)—पूरे सैट का मूल्य रु 32 00
3 दयानन्द कथा संग्रह—मूल्य रु 3 00
4 परिचय निर्देशिका (समस्त देश-विदेश की आर्य शिक्षण संस्थाओं का परिचय)—मूल्य रु. 1200

सत्यार्थ-प्रकाश ग्रंथ माला—15 भाग

[प्रत्येक समुल्लास पर स्वतंत्र ट्रैक्ट]

1 ईश्वर एक नाम अनेक
2 आदर्श माता पिता
3 शिक्षा और चरित्र निर्माण
4 गृहस्थाश्रम का महत्व
5 सन्यासी कौन और कैसे हों?
6 राज्य व्यवस्था
7 ईश्वर और वेद
8 जगत् की उत्पत्ति
9 स्वर्ग और नरक कहां है?
10 चौके चूल्हे मे धर्म नहीं है
11 हिन्दू धर्म की निर्बलता
12 बौद्ध और जैन मत
13 वेद और ईसाई मत
14 इस्लाम और वैदिक धर्म
15 सत्य का अर्थ तथा प्रकाश

विशेष—सभी ट्रैक्ट आर्य जगत् के चोटी के विद्वानो के द्वारा लिखित एवं ग्रन्थमाला का सम्पादन आर्य समाज अजमेर के प्रधान प्रो. दत्तात्रेय आर्य ने किया है। ग्रन्थमाला के पूरे सैट का मूल्य 8/- रुपये है।

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा आर्य प्रिन्टर्स अजमेर मे मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोडने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

दयानन्दाब्द : 162
सृष्टि सम्वत् · 1972949087
वर्ष : 3 सोमवार, 30 नवम्बर, 1987
अंक 19 प स-43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात्।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।।

मार्गशीर्ष शु 10 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

सती प्रथा विरोधी पदयात्रा में–

अजमेर आर्यसमाज का जत्था भी भाग लेगा

अजमेर। सती प्रथा तथा नारी उत्पीडन के विरोध मे आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध सन्यासी स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व मे दिल्ली से दिवराला तक आयोजित पदयात्रा मे आर्य समाज अजमेर का भी एक 51 सदस्यीय जत्था भाग लेगा। इस आशय का निश्चय आचार्य दत्तात्रेय आर्य प्रधान, आर्य समाज अजमेर की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुई आर्य समाज के पदाधिकारियो की बैठक मे लिया गया।

यह ज्ञातव्य है कि स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व मे यह हजारो आर्य सत्याग्रहियो एव आर्यवीरो की पदयात्रा दिल्ली से 5 दिसम्बर को प्रारम्भ होकर 23 दिसम्बर को दिवराला पहुचेगी। इसमे सम्मिलित आर्य पदयात्री-गण सतीप्रथा तथा नारी उत्पीडन के विरोध मे जन जागरण तथा महिलाओ के प्रति सम्मान एव कल्याण की भावना जाग्रत करते हुए सरकार से 'रूपकवर काण्ड' मे सम्मिलित दोषी व्यक्तियो के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने की पुरजोर माग करेंगे।

आर्यसमाज, अजमेर की ओर से श्री रासासिह मत्री, आर्य समाज, अजमेर के सयोजन मे एक समिति का भी गठन किया गया है। श्री रासासिह ने अजमेर क्षेत्र के जत्थे मे सम्मिलित होने के इच्छुक व्यक्तियो से आर्य समाज, अजमेर से सम्पर्क करने का अनुरोध किया है। अजमेर का जत्था पदयात्रा मे जयपुर से सम्मिलित होगा।

जत्थे के सत्याग्रहियो के व्यय का वहन आर्य समाज, अजमेर करेगा।

पदयात्रा कार्यक्रम—स्वामी अग्निवेश के पत्रानुसार पदयात्रा का कार्यक्रम इस प्रकार है। 5 दिसम्बर को पदयात्रा जत्था दिल्ली से चलकर 17 दिसम्बर को आमेर पहुचेगा। 17 दिसम्बर को 5 बजे साय आमेर से चलकर 18 दिसम्बर की सुबह जयपुर मे, सती विरोधी विशाल सभा के आयोजन मे सम्मिलित। 19 दिसम्बर को जयपुर के उपनगर विश्वकर्मानगर मे पडाव। वहा से आगे चौमू, समोदा, अजीतगढ होते हुए स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान दिवस पर 23 दिसम्बर की सुबह दिवराला मे प्रवेश।

सचाई सिर पर चढ़कर बोलती है

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

विश्व प्रसिद्ध लेखक एव विचारक बर्नार्ड शा का कथन है–"सच बोलना दुनिया का सबसे बडा मजाक है।" कितना वास्तविकतापूर्ण है—उनका यह व्यग्य! आज के युग मे सत्य का पूर्णतया लोप हो गया है। लोग सच बोलने मे, लिखने मे डरते हैं। आज सत्य का आलम्बन लेना एक बडा 'महगा सौदा' हो गया है। किन्तु फिर भी कभी-कभी कुछ लोग अपनी अतरात्मा की आवाज पर सत्य को प्रकट करने पर विवश हो जाते हैं। ऐसे ही एक सज्जन इग्लैण्ड की प्रसिद्ध चर्च के धर्माधिकारी डा जैनकिन्स हैं।

श्री जैनकिन्स मानते है कि ईसाई धर्म सम्बन्धी जो चमत्कारिक बातें ईसाई लेखक लिखते हैं, वे सत्य पर आधारित नही है और वास्तविकता से उनका दूर का भी नाता नही है। वे इन लेखको को ऐसे धर्मप्रचारक मानते हैं, जो अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु नाना प्रकार की युक्तियो व तकनीकों के द्वारा अपनी धार्मिक चमत्कारिक बातो को येन-केन-प्रकारेण सिद्ध करते हैं।

श्री जैनकिन्स आगे कहते है कि वस्तुत ये सारी चमत्कारिक बातें मात्र एक ढोग हैं और इस सदर्भ मे चर्च का इतिहास तो अत्यन्त भयावह है। आप कहते हैं कि भगवान के नाम पर जो अलौकिक एव अद्भुत चमत्कारो की बातें की जाती हैं वह सब धोखा है, शैतान लोगो की शरारत है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नही है।

डा जैनकिन्स को अपने उपर्युक्त क्रातिकारी विचारो के कारण चर्च की तथाकथित धमसभा के कट्टरपथियो की आलोचना का भी शिकार होना पडा है। अपनी इस आलोचना की प्रतिक्रिया मे डाक्टर साहब का कथन है—"लगता है कि धर्म के विषय मे लोग सच्चाई को आख बन्द कर स्वीकार करने की बात करत हैं, और यह अत्यन्त भयानक स्थिति है।"

आशा है कि प्रबुद्ध जन और विशेषकर हमारे ईसाई बन्धु दुर्हम के विशप डा जैनकिन्स के तर्कों पर आधारित उपर्युक्त विचारो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

ईसाईमत और विशप जोन राबिन्सन

ईसाई धर्म व ईसा के तथाकथित करिश्मो के विषय मे प्रश्नचिन्ह पैदा करने वाले विशप डा जैनकिन्स से पूर्व इग्लैण्ड के ही एक अन्य विख्यात विशप जोन राबिन्सन ने भी। 62 मे 'अानेस्ट टू गॉड' नामक अपनी पुस्तक मे अनेक तर्क पूर्ण प्रश्न इस सदर्भ मे उठाये थे।

श्री राबिन्सन लिखते हैं कि वर्तमान वैज्ञानिक युग मे चौथे आसमान मे स्थित तथाकथित ईश्वर के प्रति आस्था उत्पन्न करना सम्भव नही है। विशप महोदय आगे लिखते हैं कि मानव को अब तथाकथित स्वर्गीय पिता की मान्यता से ऊपर उठना होगा और यह मानना ही होगा कि ईसामसीह सदेह चौथे आसमान पर नही गए।

यह सत्यान्वेषी विशप अन्य साधारण ईसाईयो की भाति यह स्वीकार करने पर भी उद्यत नही कि ईसा स्वय ईश्वर अथवा ईश्वर का इकलौता पुत्र था। और विशप की दृष्टि मे बाबा आदम तथा माता हव्वा का स्वर्ग से अवतरण होना केवल कार्टूनो का विषय ही हो सकता है।

विशप 'मरियम के कुमारी रहते मा बनने' की मान्यता को भी एक कपोल कल्पना समझता है। इस सदर्भ मे पूछे जाने पर उसका कहना है 'भले ही लोग मुझे नास्तिक कहे, किन्तु मैं इस प्रकार के विश्वास रखने मे असमर्थ हू। बाईबिल मे इस सम्बन्ध मे जो प्रमाण एव साक्षिया अकित की गई हैं, वह अपर्याप्त हैं। ... बाईबिल ने यह भी स्पष्ट निर्देश नही किया कि ईसा स्वय परमात्मा था।"

निदेशक : दत्तात्रेय आर्य प्रधान संपादक : रासासिह संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य कार्या · 20011

हमारा लक्ष्य

—: पं० बिहारीलाल शास्त्री —

न त्वहं कामये राज्य, न स्वर्गं, न पुनर्भवम् ।
कामये दु खतप्तानां प्राणीनामार्ति नाशनम् ।।

भावार्थ —हम न राज्य चाहते है, न स्वर्ग, न मोक्ष, मात्र अंधविश्वास से पीडित जनता को स्वस्थ सत्य मार्ग पर हमे लाना है।

सम्पादकीय—

अफसोस ! इन्हें तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदों का

आर्यसमाज के इतिहास मे एक समय ऐसा था जब वेदो के प्रचार प्रसार, वैदिक धर्म के दुन्दुभि गर्जन तथा शास्त्रार्थों के चर्चे एव अंधविश्वासो, बुराइयो पर करारी चोट मारने का वातावरण गरमाया रहता था। आर्यसमाजो मे वेद प्रचार की धूम रहती थी। उपदेशक, भजनीक तथा सन्यासीगण एक निराला दीवानापन लेकर महर्षि के सदेश तथा आर्यसमाज के मतव्यो को पहुचाने मे एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करते थे। लोग वेदोपदेश सुनने को उतावले रहते थे प्यासे रहते थे। राष्ट्रीय जीवनधारा मे आर्य समाज ने क्रान्ति का बिगुल बजाया जागरण और चेतना का शखनाद फू का। सर्वत्र यही बात गू जा करती थी—

'आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म्' हमारा देव है सत्य हमारा कर्म।।"

ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि आर्यसमाज का अदने से अदना सेवक भी भाषण सुन-सुन कर तथा उस वातावरण म रह-रह कर पक्का सिद्धान्तवादी हो जाता था भले ही वह कम पढा लिखा क्यो न हो। सत्सगो मे भी भीड करती थी। देर रात तक खुले मैदानो मे आर्यसमाजो के जलसे हुआ करते थे। आर्य विद्वानो कवियो भजनीको तथा प्रचारको म बिना दक्षिणा का लोभ किये मिशनरी भावना रहती थी। सब दु ख सहकर या जान की बाजी लगाकर वे आर्य जन आर्यसमाज की आन बान और शान को कायम रखते थे। आर्यो मे परस्पर प्रेम और सत्य का व्यवहार था। मनसा वाचा-कर्मणा वे एकरस रहते थे। **पर अफसोस आज** महर्षि दयानन्द सरस्वती के इस सदेश को भूला दिया कि वेद सब सत्य विद्याओ का पुस्तक है, वेद का पढना-पढाना सुनना-सुनाना सब आर्यो का परमधर्म है। आज समाज की क्या स्थिति है ? कहते हुए बहुत दु ख होता है। गत दिनो आर्यसमाज मे उत्तर प्रदेश के एक 86 वर्षीय पुराने आर्य सन्यासी श्री स्वामी ब्रह्मानन्द जी (बिदकी) स मिलना हुआ। उन्होने मेरी बात सुनकर एक पुराना उर्दू गीत मुझे बताया जो आज हमारे हाल पर सटीक उतरता है। मुझे विश्वास है कि वर्तमान आर्यजन इस कविता म व्यक्त भावो से प्रेरणा ग्रहणकर स्वय आर्य बनकर वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार म सहायक बनेंगे।

समाजो मे मगर अब रात दिन तक्रीर होती है,
न वो तकरीर होती है न वो तहरीर होती है।
रवा गदन पर को अपियार की शमशीर होती है।
जो होनी है तो हर एक बात बेतासीर होनी है।
न वो लेखक रहे हममे न वो तक्कार बाकी है,
कि इस गुलशन के गुल मुरझा गये, अब खार बाकी है।
यही लीडर रहे तो हो चुका विस्तार वेदो का
इन्हे तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदो का ।। 1 ।।
जिन्हे ससार मे ससार क उपकार करना था,
जिन्हे दुनिया में वैदिक धर्म का विस्तार करना था।
अनाथो और अछूतो का जिन्हे उद्धार करना था,
जिन्हे निज देश और जाति का बेडा पार करना था।
उन्हे देखो तो बाहम वसरे पैकार बैठे हैं,
वजूद अपना मिटाने के लिये तैयार बैठे है ।। 2 ।।
यही लीडर रह तो हो चुका विस्तार वेदो का
इन्हे तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदो का।
जमाना रश्क करता था कभी वह प्यार था हमम,
धर्म के नाम मे हर एक मानिशो गम खार था हमम।
गजब अब आर्यों म वो उलफत नही मिलती,
न वो श्रद्धा न वो हिम्मत नही मिलती।
निकलते थे जो हम वेदो का अलम रखकर,
फरिश्ते भी फिदा होते थ उस पर
जोश मजिर पर जला देते थे दुश्मन के खरमन को कलम रखकर,
हटाते ही न थे पीछे कभी आगे कदम रखकर ।। 3 ।।
यही लीडर रहे तो हो चुका विस्तार वेदो का
इन्हे तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदो का।
ऋषि किस्मत से अगर भारत मे फिर एक बार आ जाय,
रूखे अनवर मुसाफिर आके फिर एक बार दिखलाये।
हमारे इस दम्भ को देखे और इस आचार आ जाये,
तो सच कहता हू गैरत से विलाही मौत मर जाय।
पदो की लालसा से रोज लडते और लडाते हैं
अदायें शासका की हैं मगर सेवक कहाते है ।। 4 ।।
यही लीडर रहे तो हो चुका विस्तार वेदो का
इन्हे तो खून करना है दयानन्द की उम्मीदो का।

—रामसिंह

धर्मपरिवर्तन के लिए विदेशी सहायता

इस तथ्य की पुष्टि म अनेको प्रमाण मिल चुके हैं कि विभिन्न विधर्मी सगठन अपनी तथाकथित समाज सेवा सम्बन्धी योजनाओ की आड म प्राप्त विदेशी धन (सहायता) का 90 प्रतिशत भाग धर्मपरिवर्तन तथा अन्य राष्ट्र विरोधी कार्यों म व्यय करत है।

तमिलनाड का मीनाक्षीपुरम हो या उत्तरप्रदेश का आजमगढ बिहार व राजस्थान का आदिवासी बहुल क्षेत्र हो या फिर समुद्रतटीय प्रदेश गोआ — इस पैसे की काली छाया को आप देख सकत है।

मानवता क नाम पर अवैध बच्चो के तथाकथित 'पवित्र गृहो' के सचालक इन 'गृहो' द्वारा ईसाई-प्रचारको की एक नई पौध तैयार करत हैं। मिशनरी सस्थाओ का सेवा-धर्म एक ढोंग है। इनकी सेवा का एक ही उद्देश्य है—धर्मपरिवर्तन। और धर्मपरिवर्तन का अर्थ है राष्ट्रीयता परिवर्तन। इनका लक्ष्य है 'ईसाइस्तान'। और य अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु 'मानव सेवा' के मुखौटे का प्रयोग कर रह है।

क्या लैम्बियर और ब्रूना के हत्यारे कभी मानवता के पुजारी हो सकते हैं? अरब म आए पैट्रो-डालर का उपयोग धर्मपरिवर्तन और साम्प्रदायिक दगो के लिये होता है। इसके अनेको प्रमाण है। मेरठ का तो अभी हाल ही का मामला है।

अभी गत 25 नवम्बर को केन्द्रीय ग्रह राज्य मत्री श्री चिदम्बरम ने लोकसभा म बताया कि सन् 1986 म विभिन्न सगठनो ने 434 करोड रुपये विदेशी सहायता के रूप में प्राप्त किये। कितनी विशाल धनराशि है यह! जिसके अधिकाश भाग का दुरुपयोग राष्ट्रविरोधी कार्यों मे होता है।

सरकार वस्तुस्थिति को जानती है, समझती है। समय-समय पर इस विदेशी सहायता के दुरुपयोग सम्बन्धी प्रमाण भी उसके सम्मुख प्रस्तुत किए गए हैं। परन्तु वोटो की राजनीति म फसी धर्म निरपेक्षता की दुहाई देने वाली सरकार सब कुछ जानत हुए भी इस विषय मे कोई भी उचित कार्रवाई नही करना चाहती।

आचार्य बृहस्पति का कथन है—**प्रभिव्यसन पूर्व सात्वा व्यसन प्रतीकार** कायम् (चतुर्थ अ 26) अर्थात् शासको को भावी आपदाओ का ज्ञान होना चाहिए, उनके निराकरण की सामर्थ्य भी उसमे होनी चाहिए। किन्तु खेद है कि वर्तमान सत्ताधारियो मे उपयुक्त गुणो का सर्वथा अभाव दृष्टिगोचर हो रहा है।

—वीरेन्द्र आर्य

विधवा पुनर्विवाह वेदोक्त

— डॉ० कृष्णपालसिंह —

महर्षि विधवा पुनर्विवाह की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है तथापि इसका अधिक प्रचार उस समय शूद्रो मे ही था अन्य त्रिवर्ण मे अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यो में विशेषकर नियोग की व्यवस्था का अधिक सम्मान था। इस सम्बन्ध मे महर्षि दयानन्द ने पूना प्रवचन के बारहवें प्रवचन मे कहा है कि 'विधवा विवाह का प्रचार केवल शूद्रो मे था। द्विजो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों मे नियोग का प्रचार था' इतना होने पर भी विधवा पुनर्विवाह सभी के लिए सामान्य वेदोक्त व्यवस्था थी जिसका उल्लेख हम इसी लेख मे आगे करेंगे।

विधवा पुनर्विवाह का अधिकार तर्कपूर्ण तथा बुद्धिगम्य—

जैसा कि हम मानव समाज मे व्यावहारिक रूप में देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी पत्नी के मृतक हो जाने के पश्चात् अपनी इच्छानुसार दूसरा विवाह करने का अधिकार समझता है। इसमे किसी प्रकार का कोई विरोध भी नहीं करता है। उसी प्रकार विधवा स्त्रियो को भी अपने पति के मरणोपरान्त दूसरा विवाह विवाह करने का अधिकार पुरुषो समान ही प्राप्त होता है किन्तु समाज मे ऐसा व्यावहारिक रूप मे देखने मे बहुत ही कम आता है। परमेश्वर की इस सृष्टि में स्त्री-पुरुष सभी बराबर हैं क्योकि वह न्यायकारी है, उसमे पक्षपात नाम मात्रा मे को भी नही है। इसी दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने पूना प्रवचन मे कहा है कि जब पुरुषो को पुर्नविवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियो को दूसरे विवाह के करने क्यो रोका जावे।' इस महर्षि की युक्ति के आधार पर प्रत्येक स्त्री को स्वपति के मृत्योपरान्त [यदि वह चाहे तो] पुनर्विवाह करने का पुरुषो की तरह समान अधिकार प्राप्त होता है जो कि तर्क पूर्ण एव बुद्धिगम्य है।

वर्तमान समय मे सामाजिक व्यवस्था ऐसी रूढिपथ पर आरूढ हो गयी है कि पुरुष की एक पत्नी की मृत्यु के पश्चात् दूसरी पत्नी तथा उसके भी दिवगत हो जाने पर तीसरी पत्नी भी करने का अधिकार है। इस प्रकार वह पुरुष अपनी इच्छानुसार पुर्नविवाह करके अनेक स्त्रियाँ प्राप्त कर सकता है जबकि स्त्री के लिए यह व्यवस्था समाज के दकियानूसी ठेकेदारो ने नही प्रदान की है। जो कि स्त्री जाति के प्रति घोर अन्याय है। अधर्म है। जैसा कि महर्षि ने पूना प्रवचन मे कहा है 'पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियाँ कर सकता है। देश, काल पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नही रहा। क्या यह अन्याय नही ? क्या यह अधर्म नहीं ? इसलिए इस अन्याय एव अधर्म के दुर्ग का विनाश करने के लिए स्वामी जी ने स्त्री शिक्षा तथा विधवा पुनर्विवाह का प्रवतन किया।

महर्षि दयानन्द के समय मे विधवाओ की बहुतायता थी और उनके ऊपर समाज के व्यक्तियो का व्यवहार अच्छा नही था उन्होने इस विधवा सख्या वृद्धि के कारण को खोजने का प्रयास किया और यह पाया कि देश मे बाल विवाह का अधिक प्रचार है और इसी कारण से विधवाओ की सख्या अधिक है। जैसा कि कहा है कि 'बालविवाह प्रचलित न होता तो विधवाओं की सख्या कभी इतनी न होती। इस लिए उन्होंने बालविवाह को रोकने तथा विधवाओ के कल्याण के लिए सामाजिक नवचेतना का सूत्र पात किया और विधवा आश्रम की स्थापना की, शिक्षा, समान अधिकार आदि का वेदों के आधार पर सर्वत्र प्रचार किया।

स्त्री का मृतपति के साथ जलकर भस्म होना वेदादिशास्त्र विरुद्ध—

भारतीय सस्कृति में स्त्री को बहुत ही सम्मान प्रदान किया गया है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है कि जहाँ स्त्री की पूजा होती है अर्थात् सत्कार होता है उसमें पुरुष देव् सज्ञा रख के आनन्द से क्रीडा करते हैं। किन्तु जिस घर मे स्त्रियों का सत्कार नही होता वहाँ सब क्रिया निष्फल हो जाती हैं। और जिस घर में अथवा कुल मे स्त्री शोकातुर होकर दु ख पाती है वह कुल शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। जिस कुल मे स्त्री आनन्द उत्साह और प्रसन्नता से भरी (पूर्ण) रहती है वह कुल सर्वदा बढता रहता है। इस लिए ऐश्वर्य की कामना वाले पुरुषों का चाहिए कि सत्कार और उत्सव के समय मे भूषण वस्त्र, भोजनादि से स्त्रियों का नित्य सत्कार करें।

इस प्रकार जहाँ महर्षि मनु ने स्त्रियो को अपूर्व सम्मान प्रदान किया है वहाँ वर्तमान समय मे उन्हे अपमानित कर तथा अमानवीयता के द्वारा अग्नि मे धू धू कर जलाकर भस्मी भूत किया जा रहा है। यह एक महान् दुर्भाग्य एव अमगल का सूचक है। वैदिक वाड् मय मे कहो भी किसी ऋषि मुनि ने यह व्यवस्था नही दी है कि पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री को उसके साथ चिता मे दाह कर देना चाहिए। इसके विपरीत वेदादि शास्त्रो मे पति की मृत्यु के उपरान्त यदि वह स्त्री चाहे तो पुनर्विवाह अथवा नियोग कर सकती है।

यद्यपि सायणाचार्य ने अथर्ववेद 18/3/1 के आधार पर सती प्रथा को वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है तथापि यह उनको खीचतानी ही है। मन्त्र मे कही सती होने का उल्लेख नही है। मत्र निम्न प्रकार है—

इयं नारी पतिलोक वृणाना
निपद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम।
धर्म पुराणमनुपाल यन्ती
तस्यै प्रजा द्रविण चेह धेहि॥ अथर्व 18/3/1

उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ करते हुए प क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने लिखा है कि हे मनुष्यो ? यह नारी पति के लोक को चाहती हुई और अपन पुरातन धर्म को निरन्तर पालती हुई मरे हुए पति को स्तुति करती हुई तुझको प्राप्त होती है। उस स्त्री को सन्तान और बल यहाँ परधारण कर।'

इस मत्र को महर्षि दयानन्द ने —ऋ भा भू मे नियोग प्रकरण मे व्याख्यान किया है। इस प्रकार अथर्ववेद 18/3/2 जो कि क्वचित् पाठ भेद से ऋ 10/18/8 मे आया है। इस मत्र का व्याख्यान सत्यार्थ प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास तथा ऋ भा भू मे नियोग प्रकरण मे किया है। इन मन्त्रो मे कही भी स्त्री को पति के साथ जलने का उल्लेख नही है। अथर्व वेद 18/3/2 का मत्र तो विधवा स्त्री को जीव लोक मे रहने का उपदेश दे रहा है। जैसा कि सायणाचार्य ने लिखा है कि मृत पति के पास बैठी हुई विधवा स्त्री यदि जीवित रहना चाहे तो उसे उठा कर जीव लोक मे ले आये।

ऋ 10/18/8 के भाष्य मे सायणाचार्य ने आश्वलायन गृह्यसूत्र का विनियोग दिखाते हुए लिखा है कि जो विधवा स्त्री पति के पास साथ मरण का निर्णय अथवा निश्चय करके लेटी हुई है उसे उसका देवर, अथवा अन्य कोई भृत्य आदि उठाकर जीवलोक अर्थात् पुत्र पौत्रो वाले घर मे ले आवे।

इस प्रकार सायण ने जहाँ अथर्ववेद 18/3/1 मे सती के पक्ष को समर्थन प्रदान करने का प्रयत्न किया वही ऋ 10/18/8 तथा अथर्व 18/3/3 मे उसके विरुद्ध भाष्य लिखकर सती के पक्ष को त्यागना पडा अर्थात् उस पक्ष का खण्डन किया है।

विधवा का पुर्नविवाह वेदोक्त—

डा रामनाथ वेदालकार ने अपने लेख मे अथर्ववेद के एक मत्र को उद्धृत करते हुए विधवा के पुनर्विवाह को वेदोक्त दर्शाया है। मत्र निम्न प्रकार है—

अपश्य युवति नीयमाना
जीवा मृतेभ्य परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत्
प्राक्तो अपाचमिनय तदेनाम्॥ अथर्व वेद 18/3/3

मत्र का अर्थ करते हुए उन्होने लिखा है कि मैंने विधवा युवती को जीवित मृतो के बीच से अर्थात् श्मशान भूमि से ले जायी जाती हुई तथा पुर्नविवाह की जाती हुई देखा है। क्यो कि यह पति विरह जन्य दु ख रूप और अन्धकार से आवृत्त थी, इस कारण इसे पूर्व पत्नीत्व से हटाकर दूसरा पत्नीत्व मैंने प्राप्त करा दिया है। इस प्रकार वेद मे विधवाओ के सुखमय तथा सम्मानित जीवन व्यतीत करने के लिए और पुर्नविवाह के लिए अनुमोदन किया गया है। अत सती समर्थक एक भी मत्र वेदो मे उपलब्ध नही होता है।

पता—दयानन्द कालेज अजमेर ❋❋❋

'वैज्ञानिकों की दृष्टि में ईश्वरीय अस्तित्व

— डा. वेदशर्मा वेदालंकार —

मानव जाति का इतिहास मानो सुख-शान्ति एव परमतत्व की प्राप्ति के प्रयासो का इतिहास है। कोई भी मनुष्य अपनी वर्तमान स्थिति से पूर्णतया सन्तुष्ट नही रहता, फलत सच्ची सुख शान्ति को पाने के लिए अनवरत प्रयत्न करता रहता है। यह शान्ति प्राप्ति की भावना ही मनुष्य को व्यक्तिगत इच्छाओ व महत्वकांक्षाओ से ऊपर उठकर कुछ असाधारण कर्म करने को सप्रेरित करती है। इसी सद्प्रयास मे सलग्न मनुष्य अन्ततोगत्वा महान् कर्म पु ज, कर्मस्रोत परमात्म-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। परमात्मा स्वय तो निरन्तर कर्म-रत रहता ही है साथ ही सप्रेरक शक्ति भी है। अतएव महान दार्शनिक अरस्तु ने ईश्वर को 'आद्य-प्रेरक' माना है। प्रभु की इसी प्रेरणा से मनुष्य कभी-कभी मानव जीवन, एव इस दृश्यमान जगत् तथा इसके सघटक तत्त्वो की गवेषणा के लिए व्याकुल हो उठता है।

मानव जीवन एव विश्व की प्रहेलियो को सुलझाने की प्रक्रिया मे हम इसके नियामक प्रभु को विस्मृत कर देते हैं। यह ठीक उसी प्रकार से जैसे कि चैतन्य शक्ति को भुलाते हुए हम माया शरीर का विश्लेषण करें। अत सृष्टि को मानना और परमात्मा को नकारना दुराग्रह मात्र है। आधुनिक युग मे वैज्ञानिको एव दार्शनिको की भी स्पष्ट उद्घोषणा है कि इस समग्रसृष्टि की सोद्देश्य रचना किसी आध्यात्मिक सत्ता के द्वारा की गई है। सकल चराचर मे एक ऐसी अध्यात्मिक शक्ति है जिसकी चेतना का प्रवाह एवं नैरन्तर्य सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इग्लैण्ड के जेम्सवाड एव अमेरिका के सी ए स्ट्रोग का कथन है कि परमात्म-तत्त्व ही विश्व की मूलभूतभूमि है। लेकिन इस तथ्य का निरूपण तो सृष्टि के प्रारम्भ मे ही भारतीय मनीषियो ने अपनी तप पूता वाणी से कर दिया था। ईशोपनिषद् के प्रथम मत्र मे आधुनिक वैज्ञानिको की भाति सुस्पष्ट कथन आता है—'ईशावास्यमिद सर्वं यत्किञ्च-जगत्या जगत'' अर्थात् इस सकल चराचर जगत् मे वह चैतन्य ब्रह्म तत्त्व समाहित है। समस्त विशेषो मे एक ही सत्ता सामान्य अनुस्यून है। स्थूल सृष्टि के भीतर एक सूक्ष्म सत्ता व्याप्त है, यह सृष्टि ईश्वर का आवास स्थान है सारा जीवन, सारा जगत् ईश्वरमय है, मगलमय है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी शरीर को ब्रह्मपुर अर्थात् ब्रह्म का घर कहा है।

लेकिन यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम ऋषियो की ऋतभाषा एव प्रज्ञा प्रसूत वाणी का तब तक सम्मान नही करते जब तक कोई विदेशी उसकी प्रशसा नही कर देता। यह तो सत्य है कि हमे सत्य को ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिये रूढिवादी नही होना चाहिये तथापि पाश्चात्यो की प्रत्येक बात को वैज्ञानिक सत्य मानकर अन्धानुकरण करना मूर्खता है यह एक प्रकार की मानसिक दासता ही है कि हम पाश्चात्यो द्वारा प्रमाणित किये जाने पर अपने गौरव को पहिचानते हैं। जब शापनहावर आदि ने उपनिषदो की अद्भुतता एव अमूल्यता का कथन किया, एमरसन ने गीता की सार्वभौमता का घोष किया—तब हमने भी अनुभव किया हमारे उपनिषद् ग्रन्थ महान ज्ञान राशि है। यह हमारे लिए शोभनीय नही है। अत आज इस बात की आवश्यकता है कि हम अपने सद्ग्रन्थो का अध्ययन करें। तैत्तिरीय उपनिषद् की उद्घोषणा है— 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभि सविशन्ति तद विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म'' अर्थात् ब्रह्म से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और उसी मे विलीन हो जाते उसी को जानो वही ब्रह्म है। इसी तथ्य को प्रेसीडेन्ट ईलियट इस रूप मे लिखते हैं कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान शाश्वत शक्ति है जो ज्ञानमय है और समस्त सृष्टि को प्रतिपल सचालित करता है।

अब तो शनै शनै वैज्ञानिक लोग जिन्हे अनीश्वरवादी माना जाता है वे भी ईश्वरीय सत्ता को तर्क की कसौटी मे कसकर स्वीकार करने लगे हैं। उनके मत से परमाणुओ को व्यवस्थित होकर अणु बनने मे और अणुओ से जीवित कोशिकायें उनसे मानव पर्यन्त उच्च उच्चतर उच्चतम जीवित देह बनने तक प्रत्येक स्तर पर एक सृजनात्मक माध्यम के अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक है। विकास एक सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसमें सुव्यवस्थित एव सगठित करने तथा पूर्ण बना देने वाला एक माध्यम अन्तर्निहित है। ऊर्जाओं को दिशा निर्देशन एव पारस्परिक सहयोग पैदाकरने वाली एक मूल शक्ति है। वैज्ञानिक दृष्टि से पदार्थ ऊर्जा के रूप में परिणत हो सकता है ऊर्जा ही क्रियान्वयन का कारण होती है, लेकिन यह ऊर्जा क्या है ? इसे दिशा निर्देश कौन करता है ? वैज्ञानिक लोग इसे रहस्यमय तथा आध्यात्मय मानते हैं। सारे भौतिक जगत् के मूल मे आध्यात्मिक ऊर्जा विद्यमान है जिसे कोई अद्भुत दैवी तत्त्व दिशा प्रदान करता है। इस भाति वैज्ञानिक, दार्शनिक एव वैदिक ऋषिगण तीनों एक ही निष्कर्ष पर आ जाते हैं कि ईश्वर की सृष्टि सरचना ही मूल शक्ति है और यही इसे सुस्थिर एव सचालित भी करती है।

इस स्थूल जगत् का सचालक, नियामक परमपिता परमात्मा ही है—इस सत्य की अनुभूति के लिए मनुष्य को योग की भाषा मे समाधिस्थ होना पड़ेगा। निर्विकल्पक समाधि या असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा ही अध्यात्मप्रसाद अर्थात् सकल पदार्थों का यथातथ्य ज्ञान उदित होता है। और इस ज्ञान की उपलब्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा से होती है। यह आध्यात्मिक तत्त्व या ईश्वर तत्त्व मनुष्य के जीवन की गति का कारण होते हुए भी अपरिमेय है। अन्तर्ज्ञान या अन्तर्दृष्टि तर्क से भिन्न है लेकिन तर्क का विरोधी नही। जहा तक अवरुद्ध हो जाता है वहाँ अन्तर्दृष्टि सहायक होती है। इसीलिये तो कठो मे कहा है-नैषा तर्केणमतिरापनेया' अर्थात आत्मतत्त्व का ज्ञान तर्क द्वारा सभव नही होता। गीता का यह कथन "इन्द्रियाणि पराण्याहु इन्द्रियेभ्य पर मन। मनसस्तु परा बुद्धि यो बुद्धे परतस्तु स – यही बताता है कि इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से भी परे आत्म तत्त्व है। केनोपनिषद् के मत मे उस ब्रह्म तत्त्व तक न तो चक्षु, न वाणी और न ही मन पहुच पाता है। कठो मे मत्र। आता है "पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षदा वृत्तचक्षुरमृतत्व मिच्छन्' अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियो को बहिर्मुख बनाया है अत मनुष्य बाहर की ओर ही देखता है, अन्दर आत्मा को नही देखपाता। कोई बुद्धिमान् पुरुष अमृतत्व की इच्छा करता हुआ अपनी चक्षुरादि इन्द्रियो पर सयम कर आत्मा को देख पाता है। इस भाति अन्तर्दृष्टि से ही परमतत्त्व साक्षात्कार सभव है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलता है सृष्टि के प्रारम्भ मे वेदभगवान् द्वारा उद्घोषित तत्त्व को ही शनै शनै आज का वैज्ञानिक युग स्वीकार कर रहा है कि इस दृश्यमान स्थूल जगत् का एक चैतन्य नियामक तत्त्व है। जिसे ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है। वैज्ञानिको, दार्शनिको एव पूर्व ऋषि महर्षियो का समवेत उदघोष है— "ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्"।

ऋषि बोधोत्सव मेला

हर वर्ष की भाति इस वर्ष भी 15, 16, 17 फरवरी 1988 को महर्षि दयानन्द जन्म स्थान टकारा मे ऋषि मेला मनाया जा रहा है। टकारा जाने वाले ऋषि भक्तो के आवास का तथा भोजन का प्रबन्ध टकारा ट्रस्ट की ओर से नि शुल्क किया जाता है।

—रामनाथ सहगल

सनातन धर्म का स्वरूप

— डॉ (श्रीमति) महाश्वेता चतुर्वेदी,

धम सनातन होता है जिसे धारण किया जाता है धारणाद्धमित्याहु धर्मो धारयते प्रजा (मनुस्मृति) सनातन धम ने सारे मनुष्यो को एक समझा है किसी को पीडा पहुचाना सनातन धम की शिक्षा नही है। इसकी शिक्षा है– सर्वे भवन्तु सुखिना अर्थात सब सुखी रह कोई दुखी न हो।

विचार वैविध्य के कारण मनुष्य जाति मे अनक मत सम्प्रदाय और मजहब बन गये। सनातन धम किसी का अहित नही चाहता। यथा शक्ति अपने अपने मतो के अनुसार लोकहित के कम करते हुए ईश्वर भक्त जन कल्याणोमुख रहते है। सनातन धम ने अ य मत सम्प्रदाय व धम वालो पर अत्याचार नही किया। धम पारलौकिक है उसके विषय मे एकात बात नहीं कही जा सकती। सासारिक कम सामाजिक काय और व्यवहार समुचित होने चाहिये—

हि दु हो मुसलमाँ हो
या सिख हो कि ईसाई।
मजहब अलग अलग हो
मगर है सभी भाई।
मजहब अलग अलग हो
मगर चाल एक हो।
स्वदेश तरक्की का
बस नेक ख्याल हो।

प्रत्येक धम को मानन वाला स्वदेश प्रम एव मानव धम स अनुप्राणित होकर ही सबका भला कर सकता है।

एक वस्तु का स्वरूप सब मनुष्यो की आखें एकसा नही देख सकती। अत सब मनुष्यो का धार्मिक विचार समान होना सम्भव नही है। अत ममता तर का द्वष छाड कर सबका हित करना चाहिये। केवल सनातनधर्मी आय ही ऐसा है जिनने न किसी मुल्क को लूटा न किसी की स्त्रिया और धन छीना और ना ही किसी क पूजा स्थानो या कब्रो को भग्न किया।

महमूद के सग आने वाला मुसलमान यात्री अलबेरुनी सनातन धम से बहुत प्रभावित हुआ था उसके अनुसार क्या हुआ हो तरह हिदुओ म भी अनेक मत है ? व आपस म वाद विवाद करते है किन्तु कोई आपस म लडता नही है। जैन बौद्ध शव शक्त सन्त सम्प्रदाय आयसमाजी और पौराणिक सब अपनी-अपनी बुद्धि क द्वारा काय करत है कोई विरोध नही होता।

वल्कि सनातन धम ससार क सभी धर्मो का स्रोत है। सनातन धम के अनुसार ग्यारह धम तथा ग्यारह अधम है। धम के दश लक्षण है—
धति क्षमा दम अस्तय शौच इद्रिय निग्रह धी विद्या सत्य तथा अक्रोध

धति क्षमा दमोऽस्तय शौच मिद्रिय निग्रह ।
धी विद्या सत्यमक्रोधा दशक धम लक्षणम ॥ (मनु स्मृति)

ग्यारहवा धम है अहिंसा ।

अहिंसा का लक्षण –

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा । योग दशन 2/30 केवल पशु आदि न मारना हा अहिसा नही है अपितु वर त्याग का नाम अहिंसा है सवथा सवदा सवभूतानामनभिद्रोह अहिंसा तया (योग दशन)

- ❋ धति—धय का त्याग कभी न करना चाहिये।
- ❋ क्षमा—सहनशक्ति। किन्तु असामथ्य का नाम क्षमा नही है।
- ❋ दम—मन की वत्तियो का निग्रह करना ही दम है।
- ❋ अस्तेय—का अभिप्राय चोरी याग स है।
- ❋ शौच—दो प्रकार का है शारीरिक और मानसिक।
- ❋ इद्रिय निग्रह—सारी इद्रियो को न्याय पूवकवश मे रखना।
- ❋ धी—बुद्धि बुद्धि बलवती हो ऐस काय करने चाहिय।
- ❋ विद्या—यथाथ दशन ही विद्या है।
- ❋ सत्य—तीन प्रकार का है सत्य भाव सत्य वचन तथा सत्य क्रिया।
  मदान्तरम तद व ह्रम तत्य म
  जो हृदय म हो वही वचनो स प्रकाशित कर वही सत्य है।
- ❋ अक्रोध—क्रोध के आधीन होन से अनेक अनथ हात ह अत उसका त्याग करना चाहिय।

धम के तीन स्कन्ध

त्रयो धम स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनदानमिति (छान्दोग्य उप)
अर्थात धम के तीन स्कध है—यज्ञ अध्ययन दान।

- ❋ यज्ञ—यज्ञ स वायु शुद्धि होती है जिसस प्रचर अन्नवद्धि होती है—
  यज्ञन यज्ञमयजत देवा (ऋग्वेद)
- ❋ अध्ययन—समान रूप स बालक बालिकाओ को पढाना।
- ❋ दान—विद्यावद्धि के लिये द्रव्य व्यय करना कला-कौशल का उन्नति के लिये धन लगाया जाय तथा दीनो की सहायता करना दान है

धम के इन ग्यारह लक्षणो को धारण करन वाला ही धार्मिक है चाह वह किसी देश जाति एव धम का हो पशु पक्षी कीड मकोड स्वभावत ही अपने कत्तव्य का पालन करत हैं। मनुष्य उन्ह प्रशिक्षण देकर अपना काय करा लेता है। बन्दर स्वय अपन नाटकीय कर्मो को दिखाकर रोटी नहीं कमा सकता। शेर अपन खेल स्वय नहा दिखा सकता मानव अपने बुद्धि कौशल से नाना प्रकार का क्रीडा म कलात्मक और रचनात्मक काय कर सकता है। वेदो न आदि सृष्टि मे हा कला कौशल का उपदेश दिया है—

अदो यद्दारु प्लवत्ति सिन्धोपारे अपूरुषम (वेद)

हे मनुष्य जो यह काठ समुद्र के किनारे तर रहा है उसमे यत्र बना अनेक कला कौशल और विज्ञान वेद ने हा सिखाये। रथ एव चरखा का आविष्कार सव प्रथम भारत मे हुआ ज्ञान और विज्ञान क सूत्रो क व्याख्या विवका और ज्ञानी मनुष्य हा कर सकत है। इसी प्रकार शान्ति और सुव्यवस्था का प्रसार भी मानव कर सकता है

व्यापक धम की परिभाषा मे मानव मात्र का काय क्षत्र समाहित है। ससार मे अशान्ति का कारण धम के विपरीत चलन है सनातन धम के स्वरूप को समझना ही पर्याप्त नही अपितु उसे आचरण म ढालना भी आवश्यक है जिससे प्राणी मात्र का हित सम्भव हो व ह्री शासन व्यवस्था आन्तरिक दुर्भावनाओ को समाप्त नही कर सकती वल्कि सनातन धम के प्रसार से ही मानव का अन्तजगत और वहिर्जगत शान्तिमय धार्मिक मय ओर कल्याणप्रद हो सकता है

पता प्रोफसर [illegible] श्यामगज [illegible]

पाठको से निवेदन

सदस्यता शुल्क शीघ्र भेजें

हमारे अनेक सदस्या न अभी तक अपना ग्राहक शुल्क नहीं भेजा है। ऐसे सदस्य महानुभावो से विनम्र निवेदन है कि पत्र का वार्षिक शुल्क मात्र 15/रु धनादेश द्वारा शीघ्र भेजा कर कष्ट कर ताकि हम आर्थिक समस्या से मुक्त हो पत्र का नियमित प्रकाशन करत रह सक।

सहयोग की कामना मे।

— व्यवस्थापक

वेदामृत —

वसुधैव कुटुम्बकम्

अय विचर्षणिर्हितः पवमान सचेतति ।
हिन्वान आप्य बृहत् ।। 12 ।। (सामवेद, पवमान पर्व)

ऋषि —जमदग्नि = चलती फिरती आग ।

(अयम्) यह (विचर्षणि) दूरदर्शी (बृहत्) महान् (आप्यम्) बन्धुत्व [की लहर] को (हिन्वान) प्रेरित करता हुआ (हित) चाहे ठहरा ही हुआ है । (पवमान) बहुत-सा (सचेतति) प्रतीत होता है ।

मनुष्य की बुद्धि सकुचित है । वह आज का हित देखता है, कल का नही । निकट की भलाई पर ध्यान देता है, दूर की भलाई पर नही । वास्तव मे भलाई का क्षेत्र न समय से सीमित हो सकता है न देश से । हित करना हो तो किसी व्यक्ति-विशेष का, या वश-विशेष अथवा देश-विशेष का, अन्य व्यक्तियो, अन्य वशो, तथा अन्य देशो से अलग हो कर नही किया जा सकता है । मनुष्य जाति एक साथ उठेगी और एक ही साथ बैठेगी । सकुचित दृष्टि के लोग इस महान तत्व को नही पहचानते और इसी से वे दु खी हैं । सच तो यह है कि इस विश्व के सभी प्राणी—मनुष्य, पशु, पक्षी यहाँ तक कि वनस्पति और औषधि आदि भी विस्तृत बन्धुत्व के नाते एक बड़े परिवार के सदस्य हैं । जीवन-रस की एक लहर इन सब जीव-बन्धुओ को बिन्दु बना-बना कर मोतियो की एक सुन्दर माला मे पिरोये हुए है । सजीव ससार एक बडा समुद्र है जो निरन्तर ठाठें मार रहा है ।

आत्म-दर्शन इसी महान तत्त्व का दर्शन होता है । वही "विचर्षणि ' - सर्वद्रष्टा है जिस ने इस [illegible] पहचाना ' [illegible] अपना तथा [illegible] हितकारी हो सकता है । [illegible] रहा [illegible] त [illegible] की लहर पर सवार हुआ [illegible] रता-सा [illegible] है, वह स्वय पवित्र है और अपने पवित्र विचार से स [illegible] का सचार करता है । उस की गति और स्थिति — दोनो अवस्था [illegible] हृदय की आर्द्रता काम करती रहती है । वह परोपकार मे दृढ है, अचल है । उसे उस के कर्त्तव्य के पथ से कौन डिगा सकता है ? वह चट्टान की तरह मजबूत है उस का जीवन सज्जीवन का प्रचार है, सचार है । वह बहती नदी है, खडा हुआ पानी नही । "तदेजति तन्नैजति ' । "अचल गति वाले ' की उपासना करते करते वह स्वय अचल हो गया है, गतिमान् हो गया है ।

"अयम्" यह जन अर्थात् मैं । क्या मैं "विचर्षणि' हूँ ? "हित ' हूँ ? "पवमान" हूँ ? इस महान् बन्धुत्व की व्यापक लहर का साक्षि मैं हूं । इस लहर को अपनी गति-मति से हिलाता हूँ ? प्रेरित करता हूं ?

वेद कहता है— हाँ ! मेरे हृदय ! तू भी तो "हाँ" या 'न" कह ।
वेद-वाणी ! मेरे हृदय की वाणी बन जा ।

—प चमूपति (सोम सरोवर मे)

तू स्वयं ही शक्ति का आगार !

—लाखनसिंह भदौरिया 'सौमित्र'—

यह दुराशा है कि कोई साथ देगा !
पाँव फिसले तो न कोई हाथ देगा !
विश्व-विघ्नो मे चरण आग बढे तो—
सृष्टि का कण कण झुका निज माथ देगा।

आज अपनी शक्ति को पहचान साथी,
निज पगो पर कर प्रगति-अभियान साथी
जब चुनौती ले चरण आगे बढेंगे—
साथ तब होगे स्वय तूफान साथी ।

तू स्वय ही शक्ति का आगार है रे !
सन्निहित तुझ मे सृजन-सहार है रे !
तू हुआ दिग्भ्रात है निज ज्योति खोकर-
इसलिए पथ मे घिरा अधियार है रे ।

अमरता भयभीत अमरो के लिए है ।
आदमी तो काल को कर मे लिए है ।
मृत्यु का अस्तित्व ही होता नही—
जिन्दगी ही मौत को जिन्दा किए है ।

पता भोजपुरा, मैनपुरी (उ प्र)

दरबारी लाल सम्मानित

नई दिल्ली—12 नवम्बर, भारतीय बाल-शिक्षा परिषद द्वारा राष्ट्रीय बाल-शिक्षा सम्मेलन के अवसर पर डी ए वी कॉलेज प्रबन्धकर्त्ता समिति के सगठन सचिव श्री दरबारी लाल का नई दिल्ली के सीरीफोर्ट सभागार मे सावजनिक अभिनन्दन किया गया । उप राष्ट्रपति श्री शकर दयाल शर्मा समारोह के मुख्य अतिथि थे । रक्षा मन्त्री श्री कृष्ण चन्द्र पत ने भी सम्मेलन को सबोधित किया । —जगन्नाथ (विशेष अधिकारी)

यज्ञशाला स्थापित

आर्य समाज उदयपुर के तत्वावधान मे हिरन मगरी सेक्टर 4 उदयपुर मे दिनाक 24-10-87 को एक यज्ञशाला का भव्य उदघाटन समारोह महात्मा श्री आर्यभिक्षुजी महाराज के नेतृत्व मे सम्पन्न हुआ । —मन्त्री

पत्र बोलते हैं—

दयानन्द के उत्तराधिकारी उत्तर नहीं देते

लेखको के प्रमाद, प्रेस की असावधानी आदि कारणो से महर्षि दयानन्द के ग्रन्थो मे अनेकत्र अशुद्धिया रह गई हैं । उन्हे दूर करने का प्रयत्न विद्वान समय समय पर करते रहे हैं । सन् 1986 के सितम्बर मास मे कति-पय अधिक महत्वपूर्ण भूलो का निर्देश करते हुए मैंने परोपकारिणी सभा को एक प्रस्ताव भेजा कि वह इस कार्य के निमित्त 5 विद्वानो का नियुक्त करे । एकएक की बजाय अनेक विद्वानो के एक साथ बैठ कर करने से अच्छी प्रकार यह काम होगा और महर्षि की उत्तराधिकारिणी सभा के तत्त्वावधान मे होने से उसकी प्रामाणिकता भी होगी । नवम्बर मे परोपकारिणी सभा की बैठक हुई । मेरे प्रस्ताव पर क्या निश्चय हुआ यह जानने के लिए बार बार पत्र लिखने पर फरवरी 1987 मे उत्तर मिला कि भूल से मेरा प्रस्ताव सभा की बैठक मे प्रस्तुत होने से रह गया [illegible] अप्रेल में होने वाली बैठक मे अवश्य प्रस्तुत किया जायेगा । 7 अप्रेल '87 को बैठक हुई । तब से अब तक—आठ मास तक — बराबर पत्र लिखते रहने पर भी उत्तर नहीं मिला । मैं केवल इतना ही जानना चाहता हूँ कि मेरा प्रस्ताव सभा मे विचारार्थ प्रस्तुत हुआ या नही । यदि हुआ तो उस पर क्या निश्चय हुआ । और यदि नही हुआ तो क्यो नही । जहाँ पत्र का उत्तर देने की औपचारिकता [illegible] नही होता, वहा से और क्या आशा हो सकती है ?—सबको [illegible] हूँ ।

—विद्यानन्द सरस्वती
डी–14/16 माडल टाउन, दिल्ली

दूरदर्शन का 'रामायण' धारावाहिक

स्वय को आर्य कहने वाले दयानन्द के भक्तो की दूरदर्शन धारावाहिक 'रामायण' के प्रति अति आस्था देखकर मेरे मन मे आश्चर्य एव विषाद के सम्मिलित भाव उत्पन्न होते हैं

जिस पौराणिक अलौकिक चमत्कारो की रामायण या रामचरित मानस की आलोचना आर्यसमाज के मच से की जाती है, उन्ही चमत्कारो से युक्त रामायण को ये लोग अति श्रद्धा भाव से दूरदर्शन पर देखते हैं ।

स्मरण रखिए ! रामानन्द सागर की रामायण 'वैदिक रामायण' नही है, पौराणिक रामायण है ।

ऋषि ने हमे हिन्दू से पुन 'आर्य' बनाया था । पौराणिक गप्पो से भरी रामायण के प्रति हमारी आस्था से लगता है कि शायद हम पुन हिन्दू बन गए हैं ।

—नवीन कुमार शर्मा
487/24, सब्जी मडी,
केसरगज, अजमेर ।

आर्यसमाज की दिवराला पदयात्रा

महोदय,

समाचार पत्रो मे प्रकाशित समाचारो के अनुसार स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व मे सती प्रथा के विरोध मे आर्य समाज द्वारा दिल्ली से दिवराला तक पदयात्रा का आयोजन किया जा रहा है ।

मेरे निजी विचार मे यह पदयात्रा सस्ती पब्लिसिटी बटोरने का एक साधन मात्र है, 'साप निकल जाने पर लकीर पीटने से क्या लाभ ?'

आखिर ये लोग चूदडी समारोह रोकने क्यो गए ?

क्या मैं आप (श्री वीरेन्द्र) जैसे तेज-तर्रार सम्पादक से इस सदर्भ मे सम्पादकीय टिप्पणी की आशा रखू ?

—मांगे राम शर्मा
देहरादून (उ प्र)

श्री रतनलाल गर्ग द्वारा आर्य प्रिन्टर्स अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन, केसरगज अजमेर से प्रकाशित किया ।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द · 162
सृष्टि सम्वत् 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र
"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म ॥"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम्
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष : 3 मंगलवार, 15 दिसम्बर, 1987
अंक 20 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥

पौष कृ 9 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

मैक्समूलर - विवेकानन्द - दयानन्द

— स्वामी विद्यानन्द सरस्वती —

'आर्य जगत्' के 30 अगस्त 1987 को प्रकाशित सस्कृत विशेषांक के प्रारम्भ में 'ब्रह्मवादिन्' में लिखे स्वामी विवेकानन्द के एक लेख का कुछ अंश प्रकाशित हुआ है। स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—

"मैक्समूलर का भारत पर कितना अनुराग है! मेरा अनुराग यदि उसका एक प्रतिशत भी होता तो मैं अपने को धन्य मानता। मैंने उनसे कहा— 'आप भारत कब आ रहे हैं? भारतवासियों की चिन्तन-राशि को आप ने लोगों के सामने यथार्थ रूप में उपस्थित किया है।' वृद्ध ऋषि का मुख उज्ज्वल हो उठा।

इस लेख से स्पष्ट है कि स्वामी विवेकानन्द के अनुसार मैक्समूलर—

1 ऋषि थे।

2 उन्होंने भारत की चिन्तनराशि को यथार्थ रूप में उपस्थित किया।

3 उनका भारत पर इतना अनुराग था कि उसका एक प्रतिशत पाकर भी विवेकानन्द अपने आपको धन्य मानते।

यह विवेकानन्द का कहना है परन्तु स्वयं मैक्समूलर का अपने विषय में क्या विचार था यह उसके निम्न लेखों से पता चलता है—

मैक्समूलर के शब्दों में A large number of Vedic hymns are childish in the extreme, tedious, low and common place' (Chips from a German workshop, Ed 1866 p 27) अर्थात् वैदिक सूक्तों की बड़ी सख्या बिल्कुल बचकानी, जटिल निकृष्ट और मामूली है।

जिस उद्देश्य से मैक्समूलर ने वेदों का अनुवाद किया, उसके विषय में उसने अपनी पत्नी को लिखा—

This edition of mine and the translation of the Veda will, hereafter, tell to a great extent on the fate of India It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years" (Life and Letters of F Maxmueller, Vol I, chap XV, p 34)

अर्थात् मेरा यह सस्करण और वेदों का अनुवाद भारत के भाग्य को दूर तक प्रभावित करेगा। यह उनके धर्म का मूल है और उन्हें (भारतीयों को) यह दिखाना कि यह मूल कैसा है गत तीन हजार वर्षों में इस से उत्पन्न होने वाली सब बातों को मूलसहित उखाड़ फेंकने का एकमात्र उपाय है।

भारत सचिव (Secretary of State for India) के नाम 16 दिसम्बर 1868 को लिखे अपने पत्र में मैक्समूलर ने लिखा—

शेष (पृष्ठ 6 पर)

दिवराला पदयात्रियों पर लाठी प्रहार से आर्य जगत में भारी रोष

राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उप-प्रधान आचार्य दत्तात्रेयजी आर्य द्वारा विरोध व्यक्त

आर्य समाज के वरिष्ठ नेता तथा हरियाणा के भू पू शिक्षा मन्त्री स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व में सती प्रथा तथा नारी उत्पीडन के विरोध में आयोजित पद यात्रा को अचानक दिवराला से 25 मील दूरी पर ही रोक दिये जाने तथा महिलाओं और बच्चों सहित पद यात्रियों पर पुलिस द्वारा लाठी चार्ज के समाचार से समस्त आर्य जगत में रोष की लहर सी फैल गई है। स्वामी अग्निवेश द्वारा 144 धारा का उल्लंघन कर दिवराला की सीमा में प्रवेश न करने तथा लगभग 100 आर्य सन्यासियों के नेतृत्व में आयोजित इस अभियान में सम्मिलित लोगों द्वारा पूर्ण शान्ति बनाये रखने के आश्वासन के बावजूद सरकार द्वारा उठाया गया यह कदम उसकी निर्बलता और अक्षमता का ज्वलन्त उदाहरण है। एक ओर सरकार सती जैसे अमानवीय कार्य के विरुद्ध कानून बनाती है और दूसरी ओर इस प्रकार के धार्मिक अंध विश्वासों के विरुद्ध जनमत जागृत करने के प्रयत्न को बलपूर्वक रोकती है यह दोनों परस्पर विरोधी नीतियां इस बात का सबूत है कि वास्तव में अपने राजनैतिक स्वार्थ की पूर्ति के लिये सत्ताधारी दल केवल दिखाने के लिये ही सती आदि कुरीतियों का निराकरण करने का दावा मात्र करती है।

कानून और व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व सरकार पर है इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो लोग इस प्रकार की पदयात्रा जैसे अपने कानूनी अधिकार का उपयोग करते है उसमें बाधा पहुँचाने वाले तत्वों को रोका जाये और यदि वे हिंसा और तनाव उत्पन्न करते हैं तो उनके विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की जाये किन्तु आर्य समाज जैसे धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन द्वारा स्वय सरकार की तथा कथित सती विरोधी नीति के समर्थन में आयोजित जन जागरण के इस अभियान का कुछ मुट्ठी भर सती समर्थक लोगों द्वारा विरोध किए जाने के कारण शान्ति और व्यवस्था के नाम पर इस प्रकार का प्रतिबंध स्पष्ट रूप से सती प्रथा के समर्थकों के लिये खुला प्रोत्साहन है। इसका परिणाम यह होगा कि कुछ असामाजिक तथा विरोधी तत्व हिंसा और अशांति का सहारा लेकर किसी भी समाज सुधार के कार्य को रोकने में समर्थ होंगी। इस पद यात्रा में आर्य समाज अजमेर की ओर से भी 51 व्यक्तियों का एक जत्था सम्मिलित है। पुलिस द्वारा पदयात्रियों पर किये गए लाठियों के प्रहार से अजमेर में इन यात्रियों के सम्बन्धी ही नहीं अन्य लोगों में भी चिन्ता और रोष व्याप्त है। आर्य समाज अजमेर के प्रधान तथा आर्य प्रतिनिधि सभा के वरिष्ठ उप प्रधान एव सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अंतरंग सदस्य आचार्य दत्तात्रेय जी आर्य ने पदयात्रियों को इस प्रकार रोके जाने और उन पर लाठीचार्ज किये जाने के विरुद्ध एक वक्तव्य जारी किया है और राज्य सरकार तथा केन्द्रीय सरकार को तार द्वारा आग्रह किया है कि वे फौरन इन पदयात्रियों पर से प्रतिबंध हटाकर उन्हें अपने अधिकार का शांतिपूर्ण उपयोग करने दें और कड़ी सर्दी के इस मौसम में खुले मैदान में डेरा डाले महिलाओं और छोटे बच्चों तथा सन्यासियों के समूह की सुरक्षा और स्वास्थ्य के लिए कदम उठाये।

मननीय

— महाकवि रविन्द्रनाथ टैगोर —

महिलाओ को सती साध्वी रखने के लिए पुरुषो ने अपनी समस्त सामाजिक शक्ति को उसके विरुद्ध खड़ाकर रखा है। इसी कारण महिलाओ के प्रति पुरुषो की कोई जवाब देही नही है। इसी व्यवहार से पुरुषो की कापुरुषता ही प्रकट होती है।

सम्पादकीय—

एक नवीन सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता

आज सम्पूर्ण समाज मे नैतिक एव मानवीय जीवन मूल्यो का तेजी से ह्रास हो रहा है। सामाजिकता की भावना कमजोर होती जा रही है। स्वार्थ परायणता विकराल रूप धारण कर समाज के ढाचे को नष्ट करने पर तुली हुई है। धर्म के नाम पर सती प्रथा और नर बलिकाण्ड जैसे घोर नारकीय जघन्य हत्याकाण्ड सुनाई पड रहे है। आये दिन बहन बेटियो को दहेज की बलिवेदी पर जीते जी जल मरने को मजबूर किया जा रहा है अथवा उन्हे अमानवीय यत्रणा और पीडाओ के जाल मे जकड कर उत्पीडित किया जा रहा है। बाल विवाह तथा अनमेल विवाह अब भी धडल्ले से बाजा गाजो के साथ सम्पन्न हो रहे है। कन्या जन्म अभी भी कई परिवारो मे अभिशाप माना जाता है। विधवाए अब भी अपने दारुण दु खमय जीवन पर आठ-आठ आँसू बहा रही हैं। कई मा और बहनो को डायन, चुडैल और पैशाचिनी कहकर पत्थरो से मारा जा रहा है अथवा जिन्दा ही आग का भट्टी मे झोका जा रहा है। पर्दा हट कर भी पुन अपना प्रभाव जमा रहा है। य समस्त सामाजिक कुरीतियाँ और अधविश्वास हमारे राष्ट्रीय जीवन को खोखला कर उसे जीर्णशीर्ण बना रहे है। हम इक्कीसवी सदी के स्थान पर प्रतिगामिता के शिकार होकर पुन सत्रहवी और अठारवी सदी की बातें करने लगे है।

राजनीतिज्ञ बिना दूरदर्शिता का परिचय दिए हुए हर बात को अच्छा बताते है और केवल सतुष्टीकरण की नीति अपनाते है। वोटो की राजनीति इस सब मृत प्राय रुढियो को जीवन शक्ति प्रदान करने मे लगी हुई है।

इन्ही सामाजिक कुरीतियो और अधविश्वासो के विरुद्ध जनमत जाग्रत करने के लिये इस खतरे से सबको सजग और सावधान करने के लिये नारी उत्पीडन तथा सती प्रथा के खिलाफ आर्य समाज द्वारा जन जागरण का अभियान प्रारम्भ किया गया है। इसके अन्तर्गत दिनाक 5 दिसम्बर 87 ई से 23 दिसम्बर 87 ई तक आर्य जगत के सुप्रसिद्ध सन्यासी एव आर्य नेता स्वामी अग्निवेश तथा सार्वदेशिक सभा के प्रधान स्वामी आनन्द बोध जयन्ती के नेतृत्व म 101 सन्यासियो एव समाज सेवियो द्वारा भारत की राजधानी दिल्ली से रूपकवर दहन स्थल दिवराला तक पदयात्रा प्रारम्भ हुई है जिसका समाज के अधिकाश वर्गों ने जोर शोर से स्वागत किया है। आर्य समाज अजमेर का भी एक जत्था 51 सदस्सीयजत्था इस पद यात्रा मे सम्मिलित हुआ है।

छूआछूत की प्रबलता शहरो मे तो थोडी कम हुई है। परन्तु गाँवो मे अब भी यत्रतत्र छूआछूत की घटनाऐं होती रहती है। बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा यदा-कदा दक्षिण के राज्यो मे भी हरिजनो के मकान जलाने या उनकी हत्याओ के समाचार मिलते रहते हैं। उत्तर भारत मे आज भी कई बडे बडे प्रसिद्ध मन्दिरो म हरिजनो का प्रवेश निषिद्ध है।

शादी विवाहो मे फिजूलखर्ची दिखावा, शानशौकत, भौंड एव अश्लील हरकतो वाले गान, शराब का सेवन आदि बहुत बढ गये है। गाँवो म तथा शहरो मे भी तरहवी दसवो प्रथम मृत्यु भोज, मौसर, गगोज आदि की कुप्रथाए अभी भी अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं।

जादूमत्र, टोना छाया तत्र-मत्र टोटका झाडफूक, डोरा, गण्डा ताबीज, कडा आदि का प्रचलन भी तेजी से बढ ही रहा है। बडे बडे औषधालय खुल गये। विज्ञान तो तेजी से बढा परन्तु मनुष्यो का वैज्ञानिक एव प्रगतिशील दृष्टिकोण विकसित नही हो पया।

श्राद्ध, तीर्थ, मूर्ति पूजा, गुरुडम, सतोषी पूजा, अवतार वाद, पीर-पैगम्बरी चमत्कारा की पूजा आदि अन्धविश्वासो की शृ खला भी थमने का नाम नही ले रही है।

इन विषम परिस्थितियो मे सामाजिक क्रान्ति तथा एक और पुनर्जागरण का आन्दोलन की परमावश्यकता है। आर्य समाज जैसे सामाजिक सुधारवादी सगठन को फिर पुन दीवानापन और बलिदानी स्वरूप धारण कर इन सामाजिक बुराइयो और अधविश्वासो पर करारी चोट करनी है। शास्त्रार्थों की पुरातन परम्परा को पुन जीवित करे जिससे कि पौराणिक पण्डितगण अथवा तथाकथित धर्माचार्य लगेगा वेदो के नाम पर मनमानी व्यवस्थाए नही दे सकें तथा इन बुराइयो के विरुद्ध प्रबल जनमत जाग्रत हो सके।

नरबलिकॉड : हिन्दू धर्म पुनः मानवता की अदालत मे

वैसे तो ससार के अन्य मजहबो मतो मे भी अधविश्वास और कुप्रथायें देखने को मिलती हैं। परन्तु तथाकथित मानवतावादी (?) हिन्दू धर्म इन सब म शिरोमणि है? आडम्बरो और कुरीतियो के मामले मे ससार मे इसका कोई सानी नही है।

अभी तक 'सती' नामक कुप्रथा की चर्चा भी समाप्त नही हो पाई है कि 'नर बलि' जैसी कुप्रथा अपना भीवत्स रूप लेकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो गई है। आकडे बताते है कि गत पाँच वर्षो मे ही भारतवर्ष मे प्रति वर्ष 10 'नरबलि काड' हुए है। इससे हमारे समाज की मानवीयता के प्रति सवदनशीलता का पता चलता है।

महात्मा बुद्ध को यज्ञ जैसे पवित्र कर्म की आलोचना करने का अधिकार मध्यकालीन हिन्दू धर्म के तथाकथित ठकेदारो ने स्वय ही प्रदान किया था। क्योकि इन लोगो ने यज्ञ मे 'नर बलि' जैसे अमानवीय कृत्य को समाविष्ट कर दिया था। मोरध्वज व मकरध्वज का रोचक किस्सा भी आपने पौराणिक कथा वाचको से अवश्य सुना होगा।

गत दिनो मेरठ व राजस्थान के भीलवाडा शहर मे धन के पिपासु दरिदो ने दो मासूम बच्चो की बलि चढा दी। मेरठ के मनीश काड' ने तो ममता को भी लाछित कर दिया। धन प्राप्ति के लिए माता-पिता ने अपने सात वर्षीय पुत्र मनीश की बलि 'काली' को चढा दी।

महर्षि दयानन्द ने धर्म के नाम पर फैले सभी अधविश्वासो और कुरीतियो पर दृढता से प्रहार किया था। हिन्दू धर्म मे अन्य मतो व मजहबो की तुलना मे अधिक कुरीतियाँ और अधविश्वास पाए जाते हैं। और इसके नाम के शाब्दिक अर्थ से ही नही अपितु मान्यताओ से भी इसका एक घृणास्पद रूप उभरता है। इसलिए ऋषि के समीक्षा या विवेचन का प्रमुख विषय भी हिन्दू धर्म ही रहा।

हिन्दुओ को पुन आर्यत्व की ओर अग्रसर करना ही ऋषिवर का लक्ष्य रहा। उनके पश्चात् आर्यसमाज ने हिन्दुओ को पुन आर्य बनाने का बीडा उठाया, परन्तु परिणाम विशेष उल्लेखनीय नही रहा। और रहे भी तो कैसे? कवि के शब्दो मे—

एक लोटा हो तो छन सकता,
यहाँ तो कुए मे भाग मिलाई।

पूज्यपाद् स्वामी सत्यप्रकाश जी द्वारा हमे उपर्युक्त सदर्भ मे दो सूत्र प्राप्त हुए है। सूत्र निम्न हैं

धर्म + मिथ्याचारिता = साम्प्रदायिक धर्म

वैदिक धर्म + अधविश्वास = हिन्दुत्व

परमेश्वर से प्रार्थना है, 'काली' तथा इन जैसे अन्य देवी-देवताओ के अधविश्वास मे फसकर 'नर-बलि' जैसे अमानवीय एव बर्बर कृत्य करने वालो को हिन्दुत्व की भावना से मुक्ति दिलावे और उनमे आर्यत्व के भाव उत्पन्न करें।

—वीरेन्द्र आर्य

॥ ओ३म् ॥

आर्य समाज के सामने अपूर्व अवसर

—: प्रो—बाबूलाल गुप्ता :—

पता—भू पू संचालक शिक्षा विभाग मध्य भारत

लगभग आठ दस वर्षों पूर्व लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने हमारे सामने समग्र क्रांति की गुहार लगाई थी, यद्यपि उन्होंने स्पष्टतया यह कभी नहीं बताया कि समग्र क्रांति से उनका तात्पर्य क्या था। ईस्वी सम्वत् की उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे देश में एक महापुरुष ऐसे अवश्य उत्पन्न हुये जो इस शब्द के वास्तविक अर्थ में समग्र क्रांति के प्रस्तोता माने जा सकते हैं और जिनके उपदेशों के अनुकूल यदि लोगो ने आचरण किया होता तो इस समय न केवल हमारे देशवासी ही अपितु ससार के अन्य देशो के नागरिक भी समग्र क्राति का उपभोग कर रहे होते। उक्त महापुरुष से लेखक का तात्पर्य आर्य समाज के सस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती से है।

महर्षि दयानन्द को अभी तक प्राय लोगो ने केवल एक समाज सुधारक के रूप में ही पहिचाना है तथापि मानव जीवन का कोई अश ऐसा नही रहा जिस पर उक्त महर्षि ने प्रकाश डाला हो। महर्षि दयानन्द का प्रादुर्भाव ऐसे काल मे हुआ जब हमारा देश परतन्त्रता की बेडियो मे जकडा हुआ था। महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश मे स्वाधीनता का गुणगान निम्नलिखित स्वर्ण अक्षरो मे स्पष्ट रूप से किया है यथा 'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित, अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नही है"।

स्वतन्त्रता प्राप्ति की प्रबल उत्कराठा लोगो के हृदयो मे महर्षि दयानन्द के उपदेशो ने ऐसी अमिट रूप मे उत्पन्न करदी थी कि आर्य समाज के प्रारम्भिक काल मे विदेशी शासक आर्य समाज के सभासदो को राजद्रोही समझने लगे थे। पटियाला नरेश ने तो अपने राज्य मे रहने वाले आर्य समाजियो को राजद्रोही घोषित कर उनको दण्डित भी करना चाहा था। जब राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने सन् 1920 ई मे भारत को स्वतन्त्र कराने निमित्त असहयोग आन्दोलन चलाया था तब उसमें सच्चे मन से सहयोग देने हेतु उत्तर भारत मे जितने आर्य समाजी लोग सम्मिलित होकर जेल गए उतने अन्य किसी समुदाय के नही सम्मिलित हुए। तथापि घोर दुःख के साथ के साथ कहना पडता है कि जब अन्ततोगत्वा 15 अगस्त 1947 ई को देश स्वतन्त्र हुआ तो आर्यसमाजी लोग उसका श्रेय पाने से वंचित रह गए।

हमारा देश राजकाल की दृष्टि से स्वतत्र तो अवश्य हो गया है तथापि इस स्वतन्त्रता के युग म जितनी तीव्रगति से हमारे देशवासियो का चारित्रिक ह्रास हुआ है उतना पूर्व मे कभी हुआ हो ऐसा अनुमान भी नही लगाया जा सकता। हमारे इस चारित्रिक अध पतन का जो दुखद परिणाम होगा उसकी कल्पना मात्र से रोंगटे खडे हो जाते है। यदाकदा जब किसी क्षेत्र मे अधिक क्षति होती हुई लोगो को दिखाई दे जाती है तब केवल उसी के सुधार हेतु तात्कालिक उपाय सोचे जाने लगते हैं। जैसे किसी वृक्ष की मूल मे खाद पानी की कमी के कारण उसके पत्तो के सूख जाने पर यदि कोई व्यक्ति पत्तो पर पानी छिडक कर उनको हरा रखना चाहे तो वह अपने उद्देश्य मे कदापि सफल नहीं हो सकता ऐसे ही उक्त उपाय भी अप्रभावी सिद्ध होते है।

हमारे देश मे वर्तमान समय मे जो भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार व्यभिचारादि को महामारियो अबाध गति से फैलती जा रही है उनका मूल कारण है राष्ट्रीय स्तर पर हमारा चारित्रिक ह्रास। चारित्रिक ह्रास को पनपाने के अवसर यो तो अनायास ही उपस्थित हो जाते है परन्तु जिन नासमझ लोगों के हाथों मे देश के शासन की बाग डोर गत चालीस वर्षों से प्राय निरन्तर रही है और कब तक रहेगी इसका अनुमान लगाना भी कठिन है, इन्होंने अपनी नासमझी के कारण अनेक ऐसे साधन जनता को उपलब्ध करा दिये है और कराते चले जा रहे है कि व्यभिचार और भ्रष्टाचार अधिकाधिक बढते ही चले जावेंगे, जब तक उपर्युक्त दूषणो के उत्पन्न होने के मूल कारण को न समझा जावेगा तब तक उनको नष्ट करना असम्भव ही रहेगा। राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रान्तगत (आर्य समाजियो के अतिरिक्त) जितने भी नेता हैं उनको कल्पना मे भी नही आ सकता कि हमारे इस ओर चारित्रिक ह्रास का कारण क्या है।

ऐसी विकट स्थिति मे आर्य समाज के सामने अपूर्व अवसर है कि वह अपने सस्थापक महर्षि दयानन्द को कल्पना के अनुरूप अपना स्वरूप पहिचाने और महर्षि के बताए गए मार्ग का अनुसरण करते हुए न केवल अपना ही उद्धार करें अपितु स्वदेशोद्धार का मार्ग भी प्रशस्त करें। वर्तमान समय मे प्राय एक आर्य समाजी और अन्य धार्मिक विश्वास के अनुयायी के व्यवहारो मे कोई विशेष अन्तर दिखाई नही देता। आर्य समाज के चतुर्थ और पचम नियम प्रत्येक आर्य समाजी से यह अपेक्षा रखते है कि उसका प्रत्येक कार्य सत्य पर आधारित होगा और सप्तम नियम के अनुसार आचरण करते हुए वह पक्षपात एव द्वेषभाव से मुक्त रहते हुए सब से प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करेगा। ऐसे सुनहरे नियम किसी अन्य धार्मिक सस्था अथवा राजनीतिक दल के नही है आर्य समाजियो को यह भ्रम अपने मनो मे से अविलम्ब निकाल देना चाहिये कि वर्तमान परिस्थितियो मे आर्य समाज के उपर्युक्त नियम अव्यवहार्य अथवा प्राचीन युग की बात हो गए।

आर्य समाजी बन्धुओ को मनुमहाराज का वह शाश्वत उपदेश सदैव अपने हृदय पटल पर अकित रखना आवश्यक है कि "धर्म एव हतोहन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित। तस्मान धर्मो न हन्तव्यो, मानो धर्मो हतोवधोत् ॥'

इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द के अनुयायियो को यह भी सदैव स्मरण रखना चाहिये कि सृष्टि का सृजनकर्ता, पालनकर्ता और नियन्ता एकमेव सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ न्यायकारी परमात्मा है। जब तक हम धर्म पर आरूढ रहेंगे कोई व्यक्ति कितना ही अन्यायी, अत्याचारी और सशक्त क्यो न हो वह हमारा बाल भी बाँका नही कर सकता।

***

आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार—१९८८

सघड विद्या ट्रस्ट जयपुर द्वारा निर्धारित 1200/— रु आचार्य गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार प्रतिवर्ष गुरुकुल कागडी विश्व विद्यालय द्वारा दिया जाता है। गत सात वर्षों मे यह पुरस्कार क्रमश प्रो रामप्रसाद वेदालकार, डा भवानीलाल भारतीय, प विश्वनाथ विद्यालकार, आचार्य सत्यकाम विद्यालकार, प भगवद्दत्त वेदालकार, डा सत्यव्रत सिद्धातालकार, प्रो दत्तात्रेय वाब्ले, ला चेतनदास (मरणोपरान्त) को वेद प्रचार तथा समाजिक सेवाओ के लिए प्रदान किया गया।

आपसे निवेदन है कि यदि आपकी दृष्टि मे (कोई महानुभाव अथवा सस्था आगामी वर्ष के लिए पुरकार के योग्य हो तो उसका पूर्ण विवरण 15 जनवरी 1988 तक भेजने की कृपा करें।

—वीरेन्द्र अरोडा (कुल सचिव)
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

श्री देवीदास आर्य का बडोदा मे अभिनन्दन

बडोदा —यहा कारेला नगर में अखिल भारतीय सिन्धी आर्य सभा के तत्वावधान मे आयोजित एक सभा मे नगर की अनेक सामाजिक व शिक्षण सस्थाओ की ओर से सुप्रसिद्ध महिला उद्धारक आर्य समाजी नेता श्री देवी दास आर्य (कानपुर) का नागरिक अभिनन्दन किया गया उनकी सामाजिक सेवाओ की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी। —मत्री

सत्यार्थप्रकाश का महत्व

— स्व. प्रो. रमेशचन्द्र बनर्जी —

संसार मे जितने धर्म ग्रन्थ हैं, उनमे से केवल सत्यार्थ प्रकाश ही ऐसी पुस्तक है, जिसमे सभी धर्म-मतों की निष्पक्ष आलोचना और सच्चे धर्म की मीमांसा है। जो धार्मिक सुधारक सत्य के सच्चे प्रेमी है, जिनमें पक्षपात का लेश भी नही है, वे खुले तौर से तुलनात्मक धर्म विचार करते और सब मतमतान्तरो से सत्य का ही ग्रहण करते हैं। जो अपने मत की ही प्रशंसा करता, और दूसरो की, समीक्षा के बदले मे निन्दा करता है वह निश्चित ही दूरदर्शी नही कहा जा सकता। लोभी दूकानदार, पक्षपात के कारण सामान को ही ग्राहकों को दिखलाता, और बाजार मे जो उससे अच्छी चीजें मिलती है, उनका नाम भी नही लेता। दुनिया की सब मजहबी किताबों के सम्बन्ध मे भी यही बात है। परन्तु सत्यार्थप्रकाश ही केवल सत्य और निष्पक्ष पुस्तक है, क्योंकि उसमे सच्चा तुलनात्मक धर्म-विचार किया गया है।

ईसाई लोगो की धर्म-पुस्तक, बाइबल को देखिये इसमे यहूदी लोगो के पुरोहित पारसियो को खूब गंदी गालियाँ दी गई हैं। परन्तु पारसी लोगो के धर्म और व्यवहार का कुछ प्रमाण नही दिया गया, जिससे पाठको को पता लग जाय कि पारसी लोगो का धर्म और धर्म-पुस्तक अमुक प्रकार का है और उनमे त्रुटि क्या है।

मुसलमानो की मानवीय किताब कुरान को देखिए। "काफिरो" को कितनी गंदी से गन्दी गालियाँ दी गई है "काफिरो" को कत्ल तक कर देने की आज्ञा दी है, परन्तु यह नहीं बतलाया गया कि—काफिर बेचारे का कसूर क्या है उनके धर्म मे त्रुटियाँ कौनसी है, अथवा उसके धार्मिक सिद्धान्तो की तुलना मे इस लाभ की कितनी श्रेष्ठता है।

भारत के पुराणो मे भी ऐसी ही युक्तिहीन बातें भरी पडी है। परन्तु ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश मे क्या किया है, उन्होंने एक ओर तो युक्ति-प्रमाणो से वैदिक सिद्धान्त की स्थापना की, दूसरी ओर विविध मतमतान्तरो की न्यायपूर्ण और युक्तियुक्त समीक्षा भी की। तुलनात्मक और निष्पक्ष धार्मिक विचार का आदर्श ही स्वामी दयानन्द थे। सत्यार्थप्रकाश से जो लोग चिढते हैं और इसके लिए आर्यसमाज को कोसते हैं, वे लोग भूल जाते हैं कि यह युग तुलनात्मक विचार का ही है। जो किसी देश का इतिहास लिखने या साहित्य अथवा किसी महापुरुष के जीवन की आलोचना करते हैं, उनको तो तुलनात्मक विचार करना ही पड़ेगा। वर्तमान युग तुलनात्मक भाषा व्याकरण और विचार का युग है। ऐसी दशा में स्वामीजी ने धार्मिक विषय में तुलनात्मक विचार किया तो क्या अपराध किया। जो मनुष्य सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध मे विचारक (जज) बनकर अपनी व्यवस्था देते हैं, उन्हे इस बात का स्मरण रखना चाहिये—चाहे वह महात्मा हो अथवा कोई और। सत्यार्थप्रकाश ने धार्मिक संसार में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। इस तुलनात्मक युग मे, जब साहित्य, इतिहास, गणित, विज्ञान इत्यादि सभी विषयो मे तुलनात्मक विचार होता रहता है, सत्यार्थप्रकाश धार्मिक विषय में तुलनात्मक विचार का प्रथम मार्ग-प्रवर्तक है। एक दिन सारे संसार को इस मार्ग पर आना पड़ेगा- ज्ञान और युक्ति से काम लेना होगा। अनजान मनुष्य सत्यार्थप्रकाश की निन्दा किस बुरी तरह से करता है! एक सज्जन ने तो इसको निराशाजनक पुस्तक बतला दिया। क्योंकि इसमे खण्डन-मण्डन दिखाई देता है। परन्तु वह महाशय भूल जाते हैं कि यदि इस दृष्टि से स्वामी शंकराचार्यजी का भी विचार किया जाय तो वह भी निराशाजनक सिद्ध हो जावेंगे। क्या शंकराचार्यजी ने शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, कापालिक इत्यादि सभी अवैदिक सम्प्रदायों का खण्डन नहीं किया था।

वस्तुतः बात यह है कि जो तुलनात्मक विचार का साहस करेगा उसे खण्डन-मण्डन करना ही पड़ेगा। जिन महापुरुषो ने सत्य की घोषणा के लिए जन्म धारण किये उन्हे मिथ्यावाद की समीक्षा करनी ही पडी। जो महापुरुष लोगो को ज्ञान का भंडार दिग्दर्शन करावेगा उसे मिथ्या का खण्डन और सत्य का मण्डन करना ही पड़ेगा। सत्यार्थप्रकाश संसार का दिग्दर्शन यन्त्र है। जो सुधारक दूसरे मतो की तुलना मे अपना मत रखने से हिचकते है, उन्हे केवल स्वमतप्रकाश रूप एक देशदर्शिता दीख पडती है— मुकाबिले से वह डरते हैं परन्तु जिस महापुरुष ने साहस और शक्ति से काम लिया, जो सत्य की मूर्ति है और अप्रिय सत्य से भी नहीं डरते उसका वाक्य संसार को हिला देता और जगत् को वश मे कर लेता है। सत्यार्थप्रकाश ऐसी ही पुस्तक है, भीरु इससे डरते हैं, परन्तु संसार धीरे-धीरे इसकी ओर आता है।

***

—प्रस्तुति, प्रा धर्मेन्द्र ओझा,
वडोदरा (गुजरात)

हिन्दुओं को किस बात पर संघटित किया जाय ?

— डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती —

अपने देश मे भी और विदेशों मे भी यह बड़ा प्रश्न रहा है कि हिन्दुओ को किस बात पर संघटित किया जाय। भारत में जब-जब किसी नय सम्प्रदाय का उदभव हुआ, भारतीय जनता ने उसका विरोध किया। हममे से अधिकांश लोग सम्प्रदायो के इतिहास से परिचित नही हैं, वे बहुधा यह कहते हैं कि हिन्दू सदा से उदार रहा है। इतिहास इसके बिल-कुल विपरित है। बौद्धो और जैनो का जब प्रादुर्भाव हुआ तो भारतीयो ने उनका विरोध करने मे कोई करुणा या उदारता प्रदर्शित नही की। कल्कि अवतार जैनियो के उन्मूलन के लिये हुआ। "नैव गच्छेद् जैन मन्दिरम्' का नारा लगा। काशी विश्वनाथ के मन्दिर मे उल्लेख है कि आर्यों के इतर कोई इस मन्दिर मे प्रवेश न करे। यहाँ आर्येतर से अभिप्राय जैनियो और बौद्धो से है। अगर मस्तवाला हाथी तुम पर आक्रमण कर रहा हो और पास मे जैन मन्दिर मे शरण मिल सकती हो, तब भी जान बचाने के लिये उस मन्दिर मे न जाओ। शंकर स्वामी ने देश मे बौद्धो के प्रति इतना विषाक्त वातावरण तैयार कर दिया था कि न केवल बौद्ध धर्म भारत से विलीन हो गया, दुःखी और संकटग्रस्त नीचे तबके के बौद्धों ने कालान्तर मे देश के पूर्वी अंचलों में मुसलमान बन जाने मे ही अपना कल्याण माना। पूर्वी पाकिस्तान बनने का मूल कारण बना। पूर्वी भारत मे जिन-जिन प्रदेशों (पूर्वी बंगाल, आसाम आदि-आदि) मे बौद्धों का प्राचुर्य था, वे सब मुसलमान बन गये। कहना अनुचित न होगा कि हिन्दुओं ने (भारतीय ब्राह्मणों और क्षत्रियों ने) ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी कि निम्न वर्ग के बौद्धों को मुसलमान बन कर ही त्राण मिला— लगभग वैसे ही जैसे आज दलित वर्ग के लोग सामूहिक ईसाई बन जाने में अपना कल्याण समझते हैं। हिन्दुओं के प्रति भी यही रही। वैष्णव और शैवो के बीच मे लगभग उतनी ही कटुता रही जैसी कि हिन्दुओं और मुस्लिमो के बीच मे आज है। उन्नीसवीं शती मे जो समाज सुधारक संस्थायें चलीं, उनके प्रति भी कटुता-प्रदर्शन हुआ। आर्यसमाज के आरम्भिक कई दशक इसके उदाहरण हैं। पर अच्छा यही है कि इस कटुता के प्रसंग को हम भूल जायें।

***

([illegible] ' [illegible] और [illegible] से)

बलिदान दिवस के उपलक्ष्य मे—

युगपुरुष स्वामी श्रद्धानन्द

— वीरेन्द्र कुमार आर्य —

एक उन्नत काय दर्शनीय मूर्ति (प्रभावपूर्ण सौंदर्य की प्रतीमा) हमसे भेंट करने आती हैं। आधुनिक सम्प्रदाय का कलाकार ईसा मसीह की प्रतिकृति घडने के लिए आदर्श के रूप मे इसका स्वागत करता है और मध्य कालिक रुचि का चित्रकार इसमे सत पीटर का रूप देखता है। इगलैंड के प्रसिद्ध लेबर लीडर (जो बाद मे चलकर इगलैंड के प्रधानमत्री भी थे) मि रैम्जे मेक्डानल्ड ने स्वामी श्रद्धानद जी के सम्बन्ध मे 1914 मे लिखा था।

महान शिक्षा शास्त्री—

स्वामी श्रद्धानद जी महाराज ने भारत के शैक्षणिक इतिहास मे एक अद्भुत और नवीन प्रयोग किया था। वह एक सफल प्रयोग था। वह तत्कालीन प्रचलित शिक्षा पद्धति के विरुद्ध विद्रोहात्मक पग था—लार्ड मकाले की बनाई हुई शिक्षा योजना का प्रत्युत्तर था स्वामी जी की शिक्षा योजना को गुरुकुल शिक्षा योजना का नाम दिया जा सकता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश मे शिक्षा के सम्बन्ध मे जो महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए है उनको मूर्तरूप देने के लिए स्वामी श्रद्धानद जी ने 16 मई 1900 ई मे गुरुकुल कागडी की स्थापना की।

गुरुकुल मे स्वामी जी ने लार्ड मकाले द्वारा सपष्ट शिक्षा नीति को एकदम विपरीत शिक्षा नीति को अपनाया था। गुरुकुल कागडा एक स्वतन्त्र विश्वविद्यालय था। सरकार से एक पैसा भी सहायता के रूप मे नही लिया था। जनता को इस बात से बहुत आश्चर्य हो रहा था कि यहा एक भी अध्यापक अग्रेज नही है। सरकारी यूनिवर्सिटियो मे प्रचलित पाठय पुस्तक भी यहा प्रयोग मे नही आती थी। अग्रेजी साहित्य और विज्ञान की पुस्तक भी गुरुकुल ने अपने आप तैयार कर ली थी। यहा के विद्यार्थी किसी भी यूनिवर्सिटी की परीक्षा मे सम्मिलित नही होते थे। गुरुकुल ने अपनी डिग्रियो को स्वतन्त्र नाम दे रखे थे और सबसे बढकर जो असम्भव काय समझा जाता था वह था माध्यम का प्रश्न। यहा शिक्षा का माध्यम अग्रेजी नही हिन्दी था। यह देश की सबसे पहली यूनिवर्सिटी थी जहा उच्च शिक्षा का माध्यम एक भारतीय भाषा हिन्दी को बनाया गया था। वस्तुत यह सरकार की खुली अवज्ञा थी एक खुली चुनौती थी—मकाले को स्वामी जी महाराज की।

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने हिन्दी माध्यम से गुरुकुल की पढाई का प्रबन्ध करके राष्टभाषा हिन्दी के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया

छुआछूत विरोधी —

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे जब छुआछूत व ऊच नीच का भाव तीव्र था तब स्वामी जी के गुरुकुल मे गौड ब्राह्मण और अछूत मेघ के पुत्र एक साथ रहते थे एक साथ भोजन करते थे। सबके एक जैसे वस्त्र एक जैसा भोजन और एक-सा रहन-सहन था। सब एक दूसरे को भाई भाई समझते थे।

स्वाधीनता सेनानी व प्रखर राजनेता —

स्वामी श्रद्धानन्द जी ने राजनीति को धार्मिक काय समझ कर ग्रहण किया। लाखा आर्य समाजियो ने उनका अनुगमन कर काग्रेस द्वारा प्रवर्तित असहयोग एव स्वदेशी आदोलना मे भाग लिया। हिन्दू महासभा स्वराज सभा और नशनलिस्ट दलो मे आर्य समाज के प्रवेश से बसन्त बहार सी आ गई। खिलाफत आन्दोलन जलियावाला बाग आदि को सवत्र आर्य समाजी भावना एक नवीन चेतना प्रदान करने लगी

यहा नही दिल्ली के घटाघर पर अग्रेजी सगीनो के समक्ष छाती खोल कर उपस्थित होने वाले संन्यासी ने जामा मस्जिद के मिम्बर से वेद के मत्रोच्चारपूर्वक हिन्दू मुस्लिम एकता द्वारा राष्टीय स्वाधीनता प्राप्ति का मार्ग बनाया। अमृतसर पहुचकर गुरु का बाग सत्याग्रह मे सम्मिलित होकर सिखो को अपने वहन समाज की सहायता का आश्वासन दिया और जल गये।

साहित्य सेवी और पत्रकार —

अपने जीवन के पूर्वार्द्ध मे स्वामी जी ने कल्याण माग के पथिक जसे हिन्दी के गौरव ग्रन्थ मे आत्मकथा रूप मे शब्द चित्रित किया अपने पतन एव उत्थान को अकित करने का यह महा प्रयास साहित्य जगत मे निरुपम है सुबह उम्मीद (उर्दू) ब्रह्मचय सूक्त की व्याख्या आचाय रामदेव के सहयोग से आर्य समाज एण्ड टस डिटक्टस (अग्रेजी) स्वामी श्रद्धानन्द जी धर्मोंदेश हिन्दू सगठन मरणोन्मुख जाति का रक्षक (अग्रेजी) आर्य समाज के इतिहास की सामग्री (जिसके आधार पर उनके सुपुत्र इन्द्र विद्या व चम्पति ने आर्य समाज का इतिहास लिखा) तथा सद्धम प्रचारक अर्जुन श्रद्धा दी लिबरेटर आदि पत्रो मे प्रकाशित उनके लेख तथा लेख मालाए उनके साहित्यानुराग के प्रमाण है। अमृतसर काग्रेस के स्वागताध्यक्ष के रूप मे पढा गया अभिभाषण तथा भागलपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति के रूप मे पढा गया अभिभाषण तात्कालिक समस्याओ के प्रति उनकी जागरूकता के प्रतिबिम्ब है। वे अग्रेजी हिन्दी और उर्दू के सिद्धहस्त लेखक थे। पजाबी और सस्कृत के वे मधुर अध्येता एव प्रयोक्ता थे। कुशल पत्रकार थे। हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचार प्रसार एव उन्हे राष्ट्रभाषा बनाने मे उन्होने रचनात्मक एव प्रचारात्मक दोनो धरातलो पर बढ चढ कर काम किया।

कट्टर सिद्धातवादी

स्वामी श्रद्धानन्द जी कट्टर सिद्धातवादी व्यक्ति थे कभी भी अपने किसी व्यक्तिगत स्वाथ हित सिद्धातो की बलि नही देते थे। अपनी इसी सिद्धान्त प्रियता के कारण ही उन्हे महात्मा गाधी एव काग्रेस दोनो का त्याग करना पडा था।

प्रसिद्ध गोभक्त लाला हरदेवसहाय जी ने एक बार स्वामी जी से कहा नित्य आपको मारने की धमकिया मिलती है। गाधी जी जसे नेता भी आपसे रुष्ट है। इसके उत्तर मे स्वामी जी ने गरज कर कहा—

क्या हुआ जो गाधी जी रुष्ट है? क्या हुआ जो धमकी भरे पत्र आते है? जब परमात्मा मेरे पास है उनका वरदहस्त मेरी पीठ पर है और जब मेरा पक्ष सत्य है तो मुझे किसका भय? मैं देश धर्म के कल्याण के लिये हर प्रकार के विरोध का सामना करूगा।

स्वामीजी जीवन भर देश धम एव आर्य समाज के लिये तिल तिल जलते रहे एव अत मे एक दिन राष्टहित मे ही अपने प्राणो की आहुति दे दी। स्वामी श्रद्धानन्द जी की हत्या का समाचार जब गौहाटी मे हो रहे काग्रेस सम्मेलन मे पहुचा तो सभी स्तब्ध रह गये। महात्मा गाधी ने शोक प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुये कहा था कि भारत माता के एक देशभक्त और वीर सपूत की दुखद मृत्यु से ऐसी क्षति हुई है जिसकी क्षति पूर्ति सम्भव नही है। उनका जीवन और जीवन की विशेषताए अपने देश और धम की सेवा पर अर्पित रही उन्होने निर्भीकता और दृढता के साथ सदैव असहायो पतितो और दीन दुखियो को सहारा दिया।

मानवता के पुजारी स्वतन्त्रता के अग्रनेता क्रान्ति और शान्ति के प्राण महामनीषी शिक्षा क्षेत्र मे हिन्दी के प्रबल समथक अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को कृतज्ञ राष्ट की ओर से उनके बलिदान दिवस पर श्रद्धावनत हृदय से कोटिश श्रद्धाजलिया उनकी पावन स्मृति मे अर्पित हैं।

(शेष पृष्ठ 1 का)

मैक्समूलर विवेकानन्द

The ancient religion of India is doomed Now if Christianity does not step in whose fault will it be ? (Ibid Vol I chap XVI p 378

अर्थात भारत का धर्म नष्टप्राय है । अब यदि ईसाइयत उसका स्थान नही लेती तो यह किसका दोष होगा ?

यह है मैक्समूलर की भारत भक्ति जिससे अभिभूत होकर स्वामी विवेकानन्द ने आक्सफोर्ड मे 28 मई 1896 को दोपहर के भोजन के अवसर पर कहा था—

When are you coming to India ? All men there would welcome one who has done so much to place the thoughts of their ancestors in true light (Vivekanand A biography by Swami Nikhilanand Pub 1953 by Advaita Ashram Calcutta)

आप भारत कब आ रहे हैं ? वहा के लोग ऐसे व्यक्ति के शुभागमन पर आनन्दित हो उठेंगे जिसने उनके पूर्वजो द्वारा संचित ज्ञानराशि को सही रूप मे प्रस्तुत करने के लिये इतना परिश्रम किया है ।

मैक्समूलर से अभिभूत होकर स्वामी विवेकानन्द किस हद तक अपना सन्तुलन खो बैठे इसका पता उन्ही के आश्रम से प्रकाशित उपयुक्त पुस्तक के निम्न उद्धरणो से चलता है ।

He wrote to Mr Leggette on July 6 1986— The British Empire with all its evils is the greatest machine that ever existed for dissemination of Knowledge P 207

अर्थात ब्रिटीश राज्य ही बुरा क्यो न हो उसने जितना ज्ञान का प्रसार किया है उतना कभी किसी ने नही किया ।

T› the accusation from some orthodox Hindus that the Swami was eating forbidden food at the table of infidels he retorted —

If the people of India want me to keep strictly to my Hindu diet please tell them to send me a cook and money enough to keep him Am I a nation s slave ? I stand at nobody s dictation No country has a special claim on me I belong to the world as much as to India ' P 129

अर्थात जब कुछ कट्टरपंथी हिन्दुओ ने उनके म्लेच्छो (अधर्मियो) के साथ बैठकर गोमांस खाने पर आपत्ति की तो स्वामी विवेकानन्द ने उत्तर दिया— उन से कह दो कि यदि वे यह चाहते है कि मैं विशुद्ध हिन्दू भोजन करू तो वे एक रसोइये को भेज दें और उसके वेतन का भी प्रबन्ध कर दें । क्या मैं किसी जाति का गुलाम हू ? मैं किसी का आदेश नही मानता । किसी देश का मेरे ऊपर विशेष अधिकार नही है । मैं जितना भारत का हू उतना ही दुनिया का हू ।

On June 10 1898 he wrote to a Muslim gentleman at Nainital— Without the help of Islam the theories of Vedantism however wonderful and fine they may be are entirely valveless For our own motherland a junction of the two great religions of the world— Hinduism and Islam—Vedantic brain and Islamic body—is the only hope We want to lead mankind to the place where there is neither the Vedas nor the Bible nor the Koran P 255

अर्थात् वेदान्त का सिद्धान्त चाहे कितना ही अच्छा और अद्भुत क्यों न हो इस्लाम की सहायता के बिना बेकार है । हमारी मातृभूमि का हित इसी मे है कि वह ससार के दो बड़े धर्मों—हिन्दू और इस्लाम—को समान रूप से अपनाय । उसका शरीर इस्लाम का हो और मस्तिष्क हिन्दू धर्म का हो । हम मानवता को वहा ले जाना चाहते है जहा न वेद रहे न बाइबल और न कुरान ।

वही स्वामी विवेकानन्द अन्यत्र लिखते हैं— किसी भी धर्म पन्थ ने इतना अधिक रक्तपात नही किया तथा दूसरो के प्रति इतनी क्रूरता नही बरती जितनी अरब के पैगम्बर द्वारा संस्थापित पंथ इस्लाम ने । कुरान मे यह सिद्धान्त है कि जो इसकी शिक्षाओ को नही मानता उसे मार डालना चाहिए । उसे कत्ल कर देना ही उस पर रहम करना है तथा बहिश्त (स्वर्ग) जहा हूर (अप्सराए) तथा सभी प्रकार के भोगविलास मिलते हैं उसे प्राप्त करने का पक्का रास्ता है काफिरो को कत्ल करना । मनुष्य जितना अधिक स्वार्थी होता है उतना ही अधिक अनैतिक बन जाता है । यही बात इस जाति के विषय म भी सच है ।

—स्वामी विवेकानन्द ग्रन्थावली भाग 2 पृ 352-53

स्वामी विवेकानन्द क्या कहना चाहते हैं इस का निर्णय पाठक स्वयं करें।

मैक्समूलर-भक्ति का रहस्य—

मैक्समूलर ने A Real Mahatma of Shri Ramakrishna Paramhansa Dev नामक छोटी सी पुस्तक लिखी जिसमे स्वामी दयानन्द और श्री रामकृष्ण पर हस की तुलना की गई थी । स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध मे मैक्समूलर ने लिखा—

Dayananda Saraswati tried to introduce some reforms among the Brahmanas He was a scholar in a certain sense He published a commentary in sanskrit on Rigvada But in all his writings there is nothing tŏ be quoted as original beyond his somewhat strange intepretations of words and whole passages of the Veda

The late Ramkrishna Paramhansa was a far better specimen of a Sanyasies He seems to have been not only a high-souled man a real Mahatman but a man of original thought Page 7 8

दयानन्द सरस्वती ने ब्राह्मणो मे कुछ सुधार करने का प्रयास किया । वह किन्ही अर्थों मे विद्वान था । उसने ऋग्वेद का भाष्य किया । परन्तु उसके ग्रन्थो में ऐसा कुछ नही है जिसे मौलिक कहा जा सके सिवा इसके कि उसने वेद के कुछ शब्दों या मन्त्रो के विचित्र अर्थ किए ।

रामकृष्ण परमहंस सन्यासियो के रूप मे कहीं अधिक ऊँचा था । वह केवल उच्चात्मा असली महात्मा ही नहीं था बल्कि उसके चिन्तन मे मौलिकता भी थी ।

स्वामी विवेकानन्द के लिए रामकृष्ण परमहंस एक महापुरुष न होकर स्वयं ईश्वर थे —Ramakrishna was the greatest of all prophets form in this world Bhagwan Shri Ramakrishna incaruated himself in India (Biography [93-94])

रामकृष्ण के प्रति मैक्समूलर की प्रशस्ति ने विवेकानन्द को उसे ऋषि पदवी देने को विवश कर दिया —डी 14/16 माडल टाऊन दिल्ली

आर्य प्रतिनिधि सभा हिमाचल प्रदेश का निर्वाचन

प्रधान—श्री कृष्णलाल आर्य
महामंत्री—श्री भगवानदेव चैतन्य
कोषाध्यक्ष—श्री [illegible] सूद

कहने को वैज्ञानिक युग यह

कहने को वैज्ञानिक युग यह
पर बढ़ता पाखण्ड अपार ।
दुर्गा काली की पावन भू
नारी करती हाहाकार ।
महिषासुर हैं बढ़ते जाते
रहे निरकुश जो दिन रात ।
प्रबल रूपकुंवरो को पाकर
[illegible] होकर करते घात ।
[illegible] शेर सुसज्जित,
किया कुक्कुरो ने संहार ।
मानव ही हैं लज्जित होते
पशुता क्या जाने सद्भाव ।
क्या उपचार करेगा दानव
जो प्रतिपल करता है घाव ।
गृहलक्ष्मी होने पर भी
अपुरक्षित क्यो उसका संसार ?
त्याग समर्पण की जो प्रतिमा
उससे धन वैभव की चाह ।
आलोकित घर करने वाली
उसका ही जलता क्यो दाह ?
कब तक हत्यायें । उत्पीड़न
जीवन होगा जिसका भार ?
पशुपुरुषो ने मातृशक्ति का
सीखा है करना अपमान ।
दुर्भावों से किन्तु कभी क्या
मिल पाया ऊंचा स्थान ?
पति को देव समझती आई
मिला उसे दुख पारावार ।
किसी कुकवि ने इस महिमा की
निन्दा के गाये हा गान ।
इसी शक्ति से वे भी पोषित
भले न हो उनको पहचान ।
वह जग उपवन की हरीतिमा,
चाहे पा जाये पतझार ।

डा० श्रीमती महाश्वेता चतुर्वेदी
प्रोफसर कालोनी श्यामगंज बरेली उ प्र)

श्रीरतनलाल गर्ग द्वारा आर्य प्रिण्टर्स अजमेर से मुद्रित कराकर प्रकाशक रासासिंह ने आर्यसमाज भवन केसरगंज अजमेर से प्रकाशित किया ।

वेदोऽखिलोधर्ममूलम्
वेद ही समस्त धर्म का मूल है।

सत्य को ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए
—महर्षि दयानन्द

दयानन्दाब्द · 162

सृष्टि सम्वत् : 1972949087

। ओ३म् ।

आर्य पुनर्गठन

पाक्षिक पत्र

"आर्य हमारा नाम है, वेद हमारा धर्म।
ओ३म् हमारा देव है, सत्य हमारा कर्म।।"

कृण्वन्तोविश्वमार्यम
सकल जगत् को आर्य बनाए

हमारा उद्देश्य : समाज की वर्तमान एवं भविष्य में पैदा होने वाली समस्याओं को दृष्टिगत रखते हुए आर्यसमाज का पुनर्गठन करना है।

वर्ष 3 बुधवार, 30 दिसम्बर, 1987
अंक : 21 प स -43338/84 II

अभय मित्रादभयम् अमित्रादभय ज्ञातादभय परोक्षात।
अभय नक्तमभय दिवा न: सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु।।

पौष शु 11 सवत 2044
वार्षिक मू 15/-, एक प्रति 60 पैसे

अग्निवेश की पदयात्रा : एक निष्पक्ष विहंगावलोकन

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

4 सितम्बर को रूपकवर के सती के नाम पर अपने मृत पति के साथ जिन्दा जला दिए जाने के फलस्वरूप देश मे नारी अधिकारो व नारी स्वातत्र्य को लेकर जो चर्चा प्रारम्भ हुई, उससे स्वामी अग्निवेश की पद यात्रा की उत्पत्ति हुई।

सन 1977 मे सार्वदेशिक सभा से निष्कासन के बावजूद अग्निवेश का पदयात्रा को आर्यसमाज के बैनर तले आयोजित करना कई प्रश्नो को पैदा करता है। और सैकडो साधारण आर्यजनों की पद यात्रा मे उपस्थिति के अतिरिक्त स्वामी आनन्द बोध की उपस्थिति उन सभी प्रश्नो का समाधान करते हुए स्वामी अग्निवेश के आर्य व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए उनके निष्कासन को एक भारी भूल प्रमाणित करती है। यह भी आर्यसमाज के लिए एक उपलब्धि ही है कि उसने पदयात्रा के बहाने ही सही अपने एक क्रांतिकारी नेता को पुन प्राप्त कर लिया।

पद यात्रा ने नारी अधिकारो के विषय मे चली बहस को जहा एक सार्थक दिशा दी, वही इसने आर्यसमाज के सुधारवादी स्वरूप को जन साधारण मे व्यापक प्रचार दिया। भगवे वस्त्रो मे आर्य सन्यासियो के नेतृत्व में पदयात्रा उन सुदूर ग्रामीण अचलो मे आर्यसमाज का नाद गु जाते निकली जहाँ अपने स्थापना काल से आज तक आर्यसमाज का कोई प्रचारक नही पहुच पाया था। पदयात्रा ने इन क्षेत्रों के लोगो मे ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। पूरे देश के समाचार पत्रो ने आर्यसमाज के नाम को देश के आम आदमी तक एक सुधारवादी आन्दोलन के रूप मे पहुचा दिया। इण्डियन एक्सप्रेस ने और नवभारत टाइम्स ने तो इस विषय मे अग्रलेख भी लिखे। यह व्यापक प्रचार क्या आर्यसमाज के लिए कम उपलब्धि की बात है?

राजनैतिक दलो से अपने निहित स्वार्थों के लिए सक्रिय रूप से जुड जाना व्यक्ति कि किसी सामाजिक सस्था के प्रति निष्ठा को सदिग्ध बना देता है। इसके प्रमाण हमारे पास हैं। चरणसिंह जैसा कट्टर आर्यसमाजी भी इसका अपवाद नही बन सका था। अग्निवेश भी नही बन सके थे। अब उनकी यह घोषणा कि 'जनता पार्टी मे जाना मेरी सबसे बडी भूल थी। भविष्य मे मैं न तो किसी राजनैतिक पार्टी मे सम्मिलित होऊ गा और न ही कोई चुनाव लडू गा। आर्य समाज के भविष्य मे प्रचार-प्रसार के लिए एक शुभ सकेत है।

सुश्री मणिमाला ने 28 दिसम्बर के नवभारत टाइम्स मे पदयात्रा विषयक कुछ सवाल उठाये हैं। आपके मत मे हवन-यज्ञादि आदि कर्मकाड मे पदयात्रा का भाषणादि से अधिक समय व्यय किया गया। जो अनुचित था। मणिमाला जी से इस विषय मे सहमत होते हुए भी हम कहना चाहेगे कि यज्ञादि की भी अपनी विशेषताए और गुण हैं। परन्तु स्वामी अग्निवेश के शब्दो मे 'आर्यसमाज' को 'हवन-सध्या प्राइवेट लिमिटेड' भी नही बन जाना चाहिए।' रचनात्मक कार्यों मे भाग न लेकर मात्र कर्मकाडी बने रहना आर्यसमाज के लिए महाघातक सिद्ध होगा।

सुश्री मणिमाला जी ने दूसरा प्रश्न सत्यव्रत सामवेदी के कांग्रेसी चरित्र का उठाया है। मैं ऊपर कह

शेष पृष्ठ 6 पर

पाखण्ड बसा है उनकी रग—रग में

—वीरेन्द्र कुमार आर्य—

दिल्ली से प्राप्त समाचारो के अनुसार 25 दिसम्बर की सुबह 11 पंडितो (?) ने यमुना नदी को शुद्ध करने के नाम पर 2040 किलोग्राम (51 मन) शुद्ध दूध यमुना मे प्रवाहित कर दिया।

जिस देश के असख्य लोग दूध के दर्शन मात्र से भी अपनी गरीबी के कारण वचित हैं, उसी देश मे इस प्रकार दूध की बर्बादी करना अपराध नहीं कहा जायेगा तो और क्या कहा जायेगा?

कुछ दिवालिया दिमाग इस पाखड को 'यज्ञ' के वैज्ञानिक कार्य से भी जोडने का दुस्साहस कर रहे हैं। लेकिन प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति 'यज्ञ' के महत्व को समझता है। 'यज्ञ' से दूध के इस अपव्यय-पाखड की समानता करना मूर्खता है।

योग के नाम पर भारत मे ही नही अपितु विश्व भर मे तथाकथित योगाचार्यों ने बडा पाखड फैला रखा है। योग के नाम पर कोई भी पाखड जन साधारण में प्रचारित कर दो, आपको भारत मे कोई रोकने वाला नही है। महेश योगी व बाल्टी बाबा के उदाहरण आपके समक्ष हैं। दूध का यह अपव्यय भी एक स्वयभू योग-पीठेश्वर भास्करानन्द परमहस के मस्तिष्क की उपज है। विडम्बना तो यह है कि भारी प्रचार और समारोह पूर्वक किए जाने वाले इन अपव्ययो को रोकने के लिए सरकार कोई भी कदम नही उठाती। क्या ही अच्छा होता कि यदि प्रशासन यमुना मे दूध प्रवाहित करने से पूर्व घटना स्थल पर पहुच कर उक्त दूध को अपने कब्जे मे लेकर इस अपव्यय से बचा लेता। ●

शंकराचार्य को शास्त्रार्थ की चुनौती

आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध विद्वान डा ज्वलन्तकुमार शास्त्री ने पुरी के शकराचार्य स्वामी निरजनदेव को शास्त्रार्थ करने की व्यक्तिगत रूप से चुनौती दी है।

अपनी हाल ही मे प्रकाशित पुस्तिका 'सती प्रथा वेद विरुद्ध' मे श्री शास्त्री ने शकराचार्य को 'सतीदाह वेद विरुद्ध है' इस विषय पर देश की किसी भी जगह शास्त्रार्थ करने की चुनौती दी है। आपकी शास्त्रार्थ सम्बन्धी केवल एक शर्त है कि शास्त्रार्थ की प्रबन्ध व्यवस्था पुलिस के अधीन रहे और स्थल सार्वजनिक हो, जिससे अराजक तत्वों द्वारा गुण्डागर्दी और मारपीट न की जा सके।

उल्लेखनीय है कि श्री शास्त्री ने 'ऋग्वेद' मे शोध उपाधि (Ph D) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्राप्त की है।

निदेशक : वसन्तदेव शर्मा   प्रधान संचालक : रामसिंह   संपादक : वीरेन्द्र कुमार आर्य   कार्यालय : 21010

दो मुक्तक

— साधन सिंह भदौरिया सौमित्र' —

(1)

किसलिए आना हुआ यह सत्य पहचाना नहीं,
पा गये ऐसा भला क्या और कुछ पाना नहीं ?
यात्रा में है कहाँ ठहराव राही तू बता—
इस तरह ठहरा यहाँ मानो कभी जाना नहीं।

(2)

साधना जितनी कि उतना फल मिलेगा।
आज मिल पाया नहीं तो कल मिलेगा।
व्यर्थ ही चिन्तित, अटल विश्वास रख तू—
साधना से साध्य का सम्बल मिलेगा।

सम्पादकीय—

तुम्हारी दास्तां भी न होगी दास्तानों में

भारतीय सांस्कृतिक जगत के आत्मसम्मान तथा राष्ट्रीयता के प्रथम उन्नायक आनन्दकन्द ऋषि दयानन्द ने अपनी क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रचार प्रसार के लिए 1875 ई में बम्बई नगरी मे आर्यसमाज की स्थापना की थी। आर्यसमाज कभी एक धधकती हुई आग थी जिससे समस्त सामाजिक बुराई पाखण्ड, अन्धविश्वास, झूठ फरेब और मक्कारियां भस्मीभूत हो जाने का भय व्याप्त थी। आर्यसमाज एक आन्दोलन था। आर्यसमाज एक सच्चाई थी। आर्यसमाज एक प्रामाणिकता थी। आर्यसमाज का प्रत्येक आर्य सभासद एक चलती फिरती जीवित जाग्रत संस्था होता था। घोर अंधकार मे भी वह एक आशा का दीपक होता था।

परन्तु दुर्भाग्य से आजादी के बाद इस महान संगठन की अग्नि धूमाछित होकर धीरे-धीरे राख से ढकने लग गई। आर्यसमाज खुले मैदान से हट कर संस्था और भवनो की चहारदीवारी मे बन्द हो गया। संस्थाओ मे गैर आर्य समाजियो का बाहुल्य हो गया। संस्थाओ के संचालन के लिये उसे राज्याश्रय लेना पड़ा और फिर धीरे-धीरे सामान्यतया पाई जाने वाली सभी बुराइयां इनमें भी आने लग गईं। कुछ ही संस्थाएं इसका अपवाद रहीं। अन्यथा प्रजातंत्र व्यवस्था वरदान के स्थान पर आर्यसमाज के लिये अभिशाप बन गई। कोरी संख्यात्मक सदस्यता सिद्धान्त विहीनता निष्क्रियता अकर्मण्यता गुटबन्दी, पार्टीबाजी धर्मविहीनता, अन मता तथा अनैतिकता आर्यसमाजो मे प्रवेश कर गई और आजादी के चालीस वर्षों बाद आर्यसमाज की वह अग्नि बुझ सी गई थी। आर्यसमाजरूपी तलवार की धार कुन्द हो गई थी। हम दूसरो के पिछलग्गू या स्वर मे स्वर मिलाने वाले और आर्यसमाज के नाम पर अपना घर भरने अपना धंधा चमकाने अपनी रोटियां सेंकने अपनी राजनैतिक आकांक्षाओ की पूर्ति करने वाले बन गये। आर्यसमाज को रोजी-रोटी का साधन बना लिया। सार्वदेशिक स्तर पर अकर्मण्य एवं सम्बन्धवादी नेतृत्व होने के कारण हमारा यह प्रबल सबल संगठन यथास्थितिवादी हो गया। इसकी आवाज की महत्ता खत्म हो गई। स्वामी श्रद्धानन्द प लेखराम जी महात्मा हंसराज स्वामी दर्शनानन्द स्वामी स्वतन्त्रतानन्द स्वामी अभेदानन्द स्वामी ध्रुवानन्द जी घनश्यामसिंह जी गुप्त वाले नेताओं का सानिध्य प्राप्त करने वाला तथा रामप्रसाद बिस्मिल और भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियो को जन्म देने वाला, निजाम हैदराबाद को झुका देने वाला आर्यसमाज कहा चला गया।

इस घोर अंधकार की बेला मे आशा का एक दीप बन कर आर्य जगत के युवा सन्यासी स्वामी अग्निवेश जी ने 101 सन्यासियो के साथ नारी उत्पीड़न एवं सती प्रथा तथा सामाजिक कुरीतियो के विरुद्ध दिल्ली से दिवराला तक की जनजागरण की पदयात्रा का क्रान्तिकारी संकल्प लेकर तथा उसे क्रियात्मक स्वरूप प्रदान कर इस आर्यसमाजरूपी बुझी हुई अग्नि को पुन प्रज्वलित करने का शंखनाद फूंका है और देश के तमाम पत्रपत्रिकाओ, बुद्धिजीवियो चिन्तकों समाज सुधारको तथा देश की खोई हुई चेतना को सत्य का पक्षधर और असत्य का विरोधी बनने का दिशा निर्देश किया है, आर्यसमाज को जड़ता से जगाया है उसे अपनी शक्ति और तेजस्विता का किंचित् आभास दिया है इसके लिये वे बहुत बधाई और धन्यवाद के पात्र हैं। आर्यसमाज के चोटी के नेता अन्तिम समय पर बहती हुई गंगा मे हाथ धोने के लिये उपस्थित तो हो गये और अपनी उपस्थिति जतला दी पर अभी यथास्थितिवादी आर्यसमाज का संगठन सक्रिय नहीं हुआ है। काश! अन्तिम घड़ियो मे हजारों की संख्या मे आर्यसमाजो की ओर से आर्य नर-नारी और नेतागण पहुंचते और इस आन्दोलन की सार्थकता को पर जोर समर्थन देते। पर ऐसा नहीं हुआ। लोग सवाल पूछते थे कि संख्या इतनी कम क्यो? सरकारी अधिकारी व्यंग्य भरे स्वरो मे कहते कि कुछ बात है घड़बन्दी है इतने कम क्यो? उत्तर देने वाले देते पर मन मे वे भी जानते थे कि माजरा क्या है।

ईश्वर और वेद के नाम पर चलने वाले इस महान संगठन से क्रांतिकारी विचारधारा वाले अग्निवेश तुल्य अग्नि पुत्र गले लगे, तभी हमारा गौरव पुन प्रतिष्ठित हो सकेगा। याद रखो—

वतन की फिक्र करो ए नादानो मुसीबत सिर पर आई है,
तुम्हारी बर्बादियो की चर्चाएं हैं आसमानो में।
ऐ आर्यों तुम अब भी न सम्भले तो,
याद रखो तुम्हारी दास्ता भी न होगी दास्तानो मे।"

—रामसिंह

विदेशों में नारी की स्थिति

नारी अधिकारो के तथाकथित प्रवक्ताओ द्वारा बार बार यह कहे जाने व लिखे जाने के कारण भारतीय जनसाधारण के मन म यह धारणा दृढ़ हो गई है कि भारतीय नारी की अपेक्षा विदेशी नारी अधिक स्वतन्त्र और सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करती है। मैंने अनेक महिला संगठनो से जुड़ी प्रबुद्ध महिलाओ को यह दावा करते देखा है कि भारतीय नारी की तरह विदेशो मे परष समाज नारी को प्रताड़ित नहीं कर सकता। जबकि स्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है।

अमेरिका की विश्वविख्यात समाचार पत्रिका 'टाइम' मे प्रकाशित एक रिपोर्ट क अनुसार विदेशो मे नारी की स्थिति भारतीय नारी से बेहतर नहीं है। रिपोर्ट क अनुसार विश्व मे सबसे सभ्य देश समझ जाने वाले अमेरिका म प्रतिवर्ष 2 मिलियन से 4 मिलियन तक औरतें अपने पति या दोस्तो से पिटती हैं और इतनी ही आटामोबाइल दुर्घटनाओं व इतनी ही बलात्कार आदि की शिकार होती हैं। एफ बी आई के कथनानुसार प्रति चार दिन एक औरत उसके परिचित द्वारा मौत के घाट उतार दी जाती है। और इस संदर्भ मे विशेष उल्लेखनीय यह है कि ऐसी नारी उत्पीड़न की घटनायें कम पढ़े लिखे लोगों में ही नहीं, वरन उच्च शिक्षा प्राप्त और उच्चवर्गीय लोगो मे भी होती हैं।

रिपोर्ट के अनुसार अमेरिका मे नारी उत्पीड़न मे 'मानसिक यातना देने घूमने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध पैसा नहीं देना और यहां तक हत्या कर डालना भी शामिल है।

पत्रिका का कहना है कि यहां का समाज ज्यों-ज्यों अधिक उच्च मे उन्नति के शिखर पर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों ही उसकी अपनी पत्नी-प्रेमिका पर वर्चस्व रखने की भावना बलवती होती जाती है।

(शेष पृष्ठ 6 पर)

हिन्दी, हिन्दू धर्म व हिन्दू : कतिपय भ्रांतियां एवं विसंगतियां

— प्रो बुद्धिप्रकाश आर्य —

"प्रकर" के सम्पादक श्री विद्यासागर विद्यालंकार ने हिन्दू धर्म, हिन्दू व हिन्दी विषयक कतिपय विचार बिन्दुओ को उठाकर उनका तलस्पर्शी विश्लेषण किया है जो हिन्दुओ (बौद्ध, सिख, जैन, आर्यसमाज एवं हिन्दू राष्ट्रीयता के चिन्तकों) के लिये विचार बोधक है। जहां तक हिन्दी भाषा का प्रश्न है वह आज सत्ता के व्यामोह तथा तुष्टिकरण की नीतियों एवं तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के जाल मे उलझ कर निर्धारित सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण नही कर पा रही है इसकी व्यापकता और राष्ट्र को एक सूत्रता में बांध सकने की क्षमता को, प्रादेशिक व उर्दू आदि भाषाओं को, उभने के रूप मे सामने लाकर कुंठित कर दिया जाता है। दूसरा बाधक कारण यह भी है कि हिन्दी भाषा को हिन्दू धारा के साथ जोडकर इसकी व्यापकता पर सीमितता का आवरण चढा दिया गया है। प्रान्तीय भाषायें भी इसका अपवाद नहीं रह सकी हैं। यही कारण है कि ये भाषायें धर्म विशेष व प्रान्तवादी संकीर्ण-धाराओं के साथ जुड जाने से राष्ट्रीय अखण्डता मे सहयोग देने के स्थान पर पृथकतावादी प्रवृत्तियो तथा साम्प्रदायिक तनावों को उत्प्रेरित करने लगी है। आज हिन्दी भाषा हिन्दू के साथ जुड जाने से संकीर्णता के दायरे म देखी जाने लगी है यही कारण है कि देश के राजनेता भी इस आरोपित संकीर्णता को अपने सही चश्मे से न देखकर आरोप लगाने वालो का चश्मा चढाकर इस भाषा को प्रभावी राष्ट्र भाषा बनाने मे भय का अनुभव करने लगे हैं। हिन्दू के साथ हिन्दी जोडने की दुर्भाग्यपूर्ण भ्रान्ति ने जन्म उसी समय से ले लिया है जब से हिन्दू विचारधारा को धर्म के आवरण से आवेष्ठित कर दिया गया है। सत्य तो यह है कि हिन्दू धर्म की आज तक कोई सर्वसम्मत व्याख्या नही हो सकी है, क्योंकि आधार सुस्पष्ट नही हैं।

हिन्दुत्व क्या है ?

स्थूल एव प्रतीक पूजा, बहुदेववाद, भाग्यवाद, पुनर्जन्म, टोटमवाद, अनेको धर्म ग्रन्थ (पुराण, गीता, भागवतादि) आदि की विभिन्नताओ ने हिन्दू की परिभाषा करने मे बडी जटिलतायें उपस्थित कर दी हैं। इनमे त्याग प्रतिमान नाम की कोई भी चीज नहीं हैं। विविधता ही हिन्दुओ के बिखराव का कारण रही है। इसी से इस पर आक्रमण हुए और अपनी विश्रृंखल शक्ति के कारण सदैव पराजय का मुंह देखना पडा। इसी विश्रृंखल और विविधता युक्त पौराणिक धारा को 'हिन्दुत्व" की संज्ञा उन लोगो ने प्रदान की जो आक्रान्ता थे। कुल मिलाकर वैदिक, शैव वैष्णव, शाक्त एव भारतीय संस्कारगत मान्यताओं का मिला जुला रूप हिन्दू है। यद्यपि मुसलमानो ने आक्रमण करने के उपरान्त हिन्दुओ पर हिन्दुत्व का आरोपण भौगोलिक कारणो से किया था। जैसे सिन्धु नदी के पार रहने वालो को हिन्दू कह कर पुकारा गया। उपासना पद्धति की विपरीततावश मुसलमानो की दृष्टि मे हिन्दुओ की प्रति सदा हीन दृष्टि रही। इस दृष्टि का एक कारण यह भी था कि कहीं अतीत की परपरानुसार वे भी हिन्दुओ की धारा मे विलीन न हो जायें जैसे कि यहा शक, हूण आदि आये और हिन्दुओ मे विलीन हो गये। शायद लाला लाजपत राय ने इसी कारण हिन्दुओ को नमक की खान की संज्ञा दी है। अस्तु। आज स्थिति यह है कि चीन तथा योरोप मे लोग "हिन्दू' को धर्म नही मानते केवल हिन्दोस्तान की एक सांस्कृतिक धारा का समर्थक एव भारत देश की भूमि म निष्ठा रखने वाला स्वीकार करते हैं"। कहा जाता है कि अरब देशो मे आज भी भारत से जाने वालों को हिन्दू कहा जाता है जबकि भारत मे स्थिति इसके विपरीत है। सिख बौद्ध, जैन व आर्यसमाजी अपने को हिन्दू स्वीकार करने से कतराने हैं यहां तक कि जनगणना मे भी इनमे से कुछ वर्ग अपने को अहिन्दू लिखाने लगे हैं किन्तु किन्ही वैदिक मान्यताओ संस्कारो तथा परम्परागत आनुवंशिकता के अटूट बन्धनो वश आर्यसमाजी हिन्दुओ से पृथक होने की स्थिति म नहीं आ पाया है। उल्लेखनीय है कि हिन्दुओ की पराजय की लम्बी श्रृंखला वश तथा विश्रृंखल मान्यताओ के कारण मध्यवर्ती काल म ही 'न मैं हिन्दू न मैं मुस्लिम" की पलायनवादी धारा का जन्म सन्त कवियो ने इस कारण दिया कि कहीं हिन्दू व मुस्लिम होने का अभिशाप उन्हे न भोगना पडे। यही स्थिति आज भी बनी हुई है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हिन्दू को साम्प्रदायिक संकीर्णता से जकडने का सुनियोजित षडयन्त्र अल्पसंख्यकों तथा उनके वोटो के लोलुप राजनेताओ द्वारा चलाया जा रहा है अतः आज भी हम हिन्दू होने का गौरव अपने दुर्बल एव डावाडोल मानस मे नही संजो पा रहे हैं। आज हम गर्व से नहीं कह पा रहे कि हम हिन्दू हैं। यह मनोवैज्ञानिक दुर्बलता जहां सुनियोजित षडयन्त्र की देन है वहां हिन्दू को "धर्म' मान लेना किन्तु आधार निश्चित न कर पाना भी है। आधारहीन हिन्दू संस्कृति धर्म क्यों नही है ? कारण स्पष्ट है कि इसका प्रवर्तक, धर्म ग्रन्थ तथा उपासना पद्धति एकत्व विहीन है हम केवल "अनेकता मे एकता तथा एकता मे अनेकता" का आकर्षक नारा बुलन्द कर अपनी दुर्बलता को तुष्ट कर लिया करते हैं। यह दुर्बलता न इस्लाम मे है न ईसाइयत मे, आर्यसमाज का वैदिक धर्म इस दृष्टि से अद्भुत और सर्वोत्कृष्ट है जहां एकत्व का सार्वकालिक एव शाश्वत सिद्धान्त विद्यमान है। खेद तो इस बात का है कि आज का हिन्दू (पौराणिक) वेद पर आस्था उसी प्रकार की रखता है जैसी अन्य निरर्थक मान्यताओ पर। यही कारण है कि बिखराव का यह अभिशाप आज उसे सर्वनाश के कगार पर घसीट लाया है।

एक विचित्र स्थिति और है जिसकी ओर श्री विद्यासागर जी ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है वह है धर्म परिवर्तन की।

यह सत्य है कि पहले समय में हिन्दुओ मे से कोई भी बौद्ध, सिख, जैन व आयसमाजी बनकर भी हिन्दू ही बना रहता था, उसी देश व भौगोलिक स्थिति से जुडा रहता था किन्तु मुसलमानो ने हिन्दुओ का धर्म परिवर्तन कर उन्हे देश तथा भौगोलिक स्थिति से पृथक करने में अदभुत सफलता पा ली। धीरे-धीरे यह रोग आपस में फैलने लगा जो आज देश की अखण्डता बनाये रखने की दिशा मे दुर्निवार्य समस्या बन चुका है। सिख, बौद्ध, जैन बन कर भी हम हिन्दू धारा से जुडे रहना नहीं चाहते। इस पृथकतावादी धारा का कारण धर्मपरिवर्तन की वही संक्रामक श्रृंखला है जिसकी मुसलमानो ने शुरूआत की थी। एक विचित्र स्थिति यह भी देखी गई है कि यदि हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेता है तो उर्दू भाषा की वकालत करने लगता है और हिन्दी के प्रति उसके मानस मे द्वेष पनपने लगता है जबकि मुसलमानो और ईसाइयो द्वारा हिन्दू बन जाने पर भी हिन्दी के प्रति इतनी उत्सुकता और प्रेम नही देखा जाता है। कारण स्पष्ट है कि हीन भावना ग्रस्त तथा षडयन्त्रो से प्रताडित हिन्दू हर दृष्टि से संकीर्णता के दायरे मे सिकुड कर रह गया है "दैवो दुर्बल घातक' के सिद्धान्तानुसार अब हिन्दू स्वकेन्द्रित तथा संस्कृतिकरण के आवरण से विशुद्ध नही रह गया है। संकरता ने उसका ठोसपन समाप्त कर दिया हैं। धर्मपरिवर्तन की विभीषिका का सामना आर्यसमाज ने इन्ही दुष्परिणामो को दृष्टिगत रखते हुए शुद्धिकरण के आन्दोलन द्वारा किया था।

साराश रूप म यह कहा जा सकता है कि आज हिन्दू धारा की धार्मिकता तथा उसके सांस्कृतिक एव राष्ट्रवादी स्वरूप को अतिरंजना की आत्म श्लाघी प्रवचना से बचाकर ठोस आधार देने की बडी आवश्यकता है एक धर्म, एक प्रवर्तक, एक ईश्वर व एक धर्म ग्रन्थ बिना स्वीकार हिन्दुत्व का न आत्मसबल मिल सकता है और न ही गौरवपूर्ण एकत्व की अपराजेय शक्ति। यह भी आवश्यक है कि हम मौलिक अधिकारो मे समानता लाने का स्वर बुलन्द करें और अल्पसंख्यक, सवर्ण, असवर्ण तथा सुरक्षित सीटो की विघटनकारी राजनीतिक नीतियो को बलपूर्वक मोड दें जिससे धर्म परिवर्तन, प्रान्तवाद, भाषावाद तथा क्षेत्रवाद के अभिशाप से देश मुक्त हो सके और अखण्डता के आधारो को बल प्राप्त हो सके।

**

पता — दयानन्द कालेज, अजमेर

भारत की फूट का कारण : 'आर्य' और 'द्रविड़' शब्द

— स्वामी समर्पण

भारत मे फूट के लिये सबसे अधिक उत्तरदाता विदेशी शासन था, यद्यपि यह भी एक गोरखधन्धा है कि एकता के लिये भी सबसे अधिक उत्तरदाता विदेशी शासन था।

हमारी फूट के कारण विदेशी शासन हम पर आ धमका। देश के आवश्यक नेताओ की बुद्धिमत्ता से एकता की आग प्रज्वलित हुई। विदेशी शासक भाव मे ईंधन और विदेशी अत्याचार घी का काम देते रहे।

अन्त मे विदेशी शासको को भस्म होने से पूर्व ही भागना पड़ा।

परन्तु अब विदेशी फूट डालने वालो का स्थान स्वदेशी स्वार्थियो ने ले लिया।

हिन्दी के परम समर्थक तथा कम्यूनिस्टो के परम शत्रु राजगोपालाचारी, अंग्रेजी के गिरते हुए दासतामय भवन के सबसे बडे स्तम्भ बन गये।

जो प्रोफेसर अंग्रेजी इतिहासकारो के आसनों पर आसीन हुए वही 'आर्य' तथा 'द्रविड' शब्दो के अन्तर्गत अर्थों मे प्रयोग को भारत की छोटी से छोटी पाठशाला तक पहुचाने मे सबसे बड़ सहायक बन गये।

मैं दोनो भुजा उठाकर इस अनर्थ के विरुद्ध शखनाद करना चाहता हूँ। मेरा कहना है कि सारे संस्कृत साहित्य मे एक पक्ति भी ऐसी नही जिससे आर्य नाम की नस्ल (Race) का अर्थ निकलता हो। इस शब्द का सम्बन्ध (1) या तो चरित्र से है (2) या तो भाषा से (3) या उस भाषा को बोलने वाले लोगो से (4) या उस देश से जहा इस प्रकार के चरित्र और भाषा वाले मनुष्य बसते हैं परन्तु किसी गोरे रग वाली अथवा लम्बी नाक वाली जाति से इस शब्द का कोई दूर का भी सम्बन्ध नही।

इसी प्रकार द्रविड शब्द ब्राह्मणो के दस कुलो मे से 5 कुलो मे होता है जिनमे शकराचार्य जैसे ब्राह्मण पैदा हुये।

अथवा मनुस्मृति के उपलभ्यमान संस्करण के अनुसार द्रविड उन क्षत्रिय जातियो मे से एक है जो 'आचारस्य वर्जनात् अथवा ब्राह्मणनामदर्शनात वृषलत्वम् गता।" क्षत्रियोचित आचार छोड देने तथा ब्राह्मणो के साथ सम्पर्क नष्ट हो जाने के कारण शूद्र कहलाये। किन्तु काले रग तथा चिपटी नाक का द्रविड शब्द से कोई दूर का भी सम्बन्ध नही।

आर्य और द्रविड़ शब्द

मैक्डानल की वैदिक रीडर म जा कि आज भारत के सब ही विश्वविद्यालयो तथा महाविद्यालयो म पढाई जाती है लिखा है —

'The historical data of the hymns show that the Indo-Aryans were still engaged in war with the aborigines, many victories over these foes being mentioned That they were still moving forward as conquerers is indicated by references to rivers as obstacles to advances'

"They were concious of religious and racial unity, contrasting the aborigines-with themselves by calling them non-sacreficers, and unbelievers as well as 'black skin's and the 'Dasa-colour as opposed to the Aryan colour'

'ऋग्वेद की ऋचाओ मे प्राप्य ऐतिहासिक सामग्री यह दिखाती है कि, इण्डो-आर्यन लोग सिन्धु पार करके फिर भी भारत के आदिवासियो के साथ युद्ध म लगे हुये थ। इन शत्रुओ पर उनकी कई विजयो का ऋग्वेद मे वर्णन है, अभी भी विजेता के रूप मे आगे बढ रहे थ। यह इस बात से सूचित होता है कि वे कई स्थानो पर नदियो का अपने अभि-प्रयाण के मार्ग मे बाधा के रूप मे वर्णन करते हैं।"

"उन्हें यह अनुभव था कि उनमें जातिगत तथा धार्मिक एकता है। वे आदिवासियो को अपनी तुलना मे यज्ञ हीन, विश्वास हीन" काली चमडी वाले, दास रग वाले तथा अपने आप को आर्य रग वाले कहते हैं।

यह सारा का सारा ही आद्योपान्त अनर्गल प्रलाप है। सारे ऋग्वेद मे कोई मनुष्य एक शब्द भी ऐसा दिखा सकता है क्या जिससे यह सिद्ध होता हो कि काली चमडी वाले आदिवासी थे और आर्य रङ्ग वाले किसी और देश के निवासी थे।

प्रथम तो वेद मे काली चमडी वाले (कृष्णत्वच) यह शब्द ही कहीं उपलब्ध नही और ना ही कहो गौरत्वच ऐसा शब्द है।

हाँ, 'दास वर्णम्' 'आर्यम् वर्ण' यह दो शब्द हैं जिनकी दुर्गति करके काले-गोरे दो दल कल्पना किये गये हैं। हाँलाकि चारो वेदो मे विशेष कर ऋग्वेद मे कोई एक पक्ति भी ऐसी नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि 'आर्यम् वर्णम्' इस देश मे बाहिर से आये, और 'दास वर्णम्' यहाँ के मूल निवासी (Aborigines) थे।

यदि इनके युद्ध का वर्णन है, तो वह युद्ध क्या एक ही देश के रहने वाले दो दलो मे नही हो सकता, इन दोनो मे से एक दल बाहिर से आया था और दूसरा आदिवासी दल था इस कल्पना का एक ही और केवल मात्र एक उद्देश्य था, भारत मे पग-पग पर फूट फैलाने वाले तथा भारत के एकता के परम शत्रु अंग्रेजी शासको की तथा वैदिक धर्म द्रोही पादरियो की दुष्टता। अब अंग्रेज शासक चले गये।

क्या अब भी हमारे देशवासियों की आखें खुलेंगी ?

अब जरा

आर्यवर्ण तथा दासवर्ण

इन शब्दो की परीक्षा करलें

वर्ण शब्द का अर्थ इस प्रसग मे Colour है ही नही।

धातु-पाठ मे रग-वाची वर्ण शब्द के लिये वर्ण धातु पृथक ही दी गई है परन्तु निरुक्तकार ने इस वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति वृधातु मे बताई है। वर्णो वृणोते (निरुक्त)।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, यह तीन आर्य वर्ण हैं, क्योकि सत्य द्वारा असत्य नाश, बल द्वारा अन्याय का नाश, धन द्वारा दारिद्र्य का नाश यह तीन व्रत हैं।

इनमे से जो एक व्रत का वरण अर्थात् चुनाव कर लेता है उसके वणिक का जीवन अपने वर्ण की मर्यादानुसार अत्यन्त कठोर नाप-तोल मे बध जाता है इसलिये वह व्रत आर्य-वर्ण कहलाता है।

जो अपने आपको सब प्रकार की शक्तियो से क्षीण पाता है परन्तु स्वेच्छा पूर्वक ईर्ष्यारहित होकर लोक कल्याणार्थ किसी व्रत वाले की सेवा का व्रत ले लेता है वह दास वर्ण कहलाता है इसलिये शूद्रो के दासान्त नाम कहे हैं। जो व्रत हीन हैं वह दास नही, दस्यु हैं।

उन्हे अव्रता कह कर व्रत वाले उनसे युद्ध करें यह बिलकुल उचित ही है। यह व्रतधारियो का व्रत हीनो से हराम खोरो का श्रम-जीवो से सग्राम सदा से चला आया है और सदा रहेगा। यह दोनो ही सदा से धरती पर रहे है इसलिये दोनो ही धरता के आदिवासी, मध्यवासी, तथा अन्तवासी हैं।

अस्तु Aborigines की यह कल्पना बिलकुल निराधार है। इसका वैदिक वाङ्मय तो क्या सारे संस्कृत साहित्य मे वर्णन नही।

अब देखना है कि आर्य शब्द यदि जाति विशेष का वाचक नही तो यह किसका वाचक है।

इसके लिये इसकी व्युत्पत्ति को देखना चाहिये।

यह शब्द 'ऋ गतौ' (Ri to move) इस धातु से बना है।

(शेष पृष्ठ 5 पर)

विदेशी विद्वानों ने हमारी राष्ट्रीय एकता को खण्डित करने के उद्देश्य से ऐसे साहित्य की रचना की जिससे हम भ्रम मे पड़कर एक-दूसरे को अपना दुश्मन समझ कर लड़ने लगे।

प्रस्तुत लेख मे विद्वान लेखक ने इन विदेशी विद्वानों द्वारा राष्ट्र की अस्मिता को खण्डित करने वाले षडयन्त्र का सप्रमाण और विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

—सम्पादक

(शेष पृष्ठ 4 का)

परन्तु ऋ धातु का अर्थ गति है इतना तो व्याकरण से ज्ञात हो गया। अब नियमित प्रक्रिया से देखना चाहिये कि ऋ धातु अर्थ किस प्रकार की गति है।

इसके लिये दो शब्दों को ले लीजिये। एक ऋतु, दूसरा ऋतु,

ऋतु का अर्थ है परिमित समय।

ग्रीष्म ऋतु = गरमी के लिये नियत, नपा हुआ समय,

वर्षा ऋतु = जिसमे वर्षा होती है वह नपा हुआ समय,

शरद् ऋतु = जिसमे सरदी पड़े वह नपा हुआ समय,

बसन्त ऋतु = जिसमे सरदी से धुन्ध कोहरा आदि आकाश के आच्छादक गुणों का अन्त हो और समशीतोष्ण अवस्था हो वह नपा हुआ समय,

इस प्रकार 'ऋ गतौ' का अर्थ हुआ ऋ = मितगतो अर्थात् नाप के साथ चलना।

इसलिये जो पदार्थ जैसा है उसके सम्बन्ध मे अन्यूननातिरिक्त, ठीक नपा तुला ज्ञान कहलाता है = ऋत इसके विपरीत अन् + ऋत

अ इसका बिलकुल सन्देह नाशक प्रमाण लीजिये

अर्वन्तोमित इव (यजु–9)

वे घोडे जो इतने सधे हो कि दौडते समय भी उनके पग नाप तोल के साथ उठें, परिमित हो, ठीक नपे तुले हो वे अर्हन्त कहलाते हैं।

इसी ऋधातु से आर्य शब्द बना है।

इस शब्द के सम्बन्ध मे पाणिनी का सूत्र है "अर्य स्वामि वैश्यो" आर्य शब्द के दो अर्थ हैं एक स्वामी दूसरा वैश्य।

इस पर योरोपियन विद्वानो की बाल-लीला देखिये।

उनका कहना है यह शब्द ऋधातु से बना है जिसका अर्थ है खेती करना।

यह 'ऋ कृषी'

धातु उन्होंने कहाँ से ढूँढ निकाली, यह अकाण्ड ताण्डव भी देखिये।

आर्य का अर्थ है स्वामी अथवा वैश्य

वैश्य के तीन कर्म हैं—

(1) कृषि (2) गोपालन (3) वाणिज्य।

सो क्योकि आर्य का अर्थ है वैश्य और वैश्य का कर्म है कृषि इसलिये ऋधातु का अर्थ है खेती करना।

बलिहारी है इस सीनाजोरी की,

क्यो जी, वैश्य के तीन कर्मों में से व्यापार और गोपालन को छोडकर आपने खेती को ही क्यो चुना ?

इसका कारण उनसे ही सुनिये।

अग्रेजी भाषा मे एक शब्द है Arrable Land अर्थात कृषि–योग्य भूमि। यह शब्द जिस भाषा से आया है उसका अर्थ खेती करना है इसलिये सस्कृत की ऋधातु का अर्थ खेती करना सिद्ध हुआ, क्योंकि हिन्दी मे लुकना शब्द छिप जाना है इसलिये Look at this room का अर्थ, इस घर मे छिप जाओ. क्योकि हिन्दी भाषा मे धी का अर्थ बेटी है इसलिये वेद मे भी धी का अर्थ बेटी हुआ।

सुनिए लाल बुझक्कड जी।

यह अर्थ जो

(1) स्वामी (2) कृषि (3) गोपालन (4) व्यापार।

इन चारो मे समान है, वह है नाप तोल के साथ व्यवहार, स्वामी से भृत्य जो वेतन पाता है वह नाप तोल के बल पर पाता है।

'खेती के योग्य भूमि को नापना पडता है क्योंकि उस पर लगान लगता है, इसीलिए अग्रेजी में भी कृषि योग्य भूमि Arrable Land कहलाती है

गोपालन करने वाला दूध नापता है क्योकि उस पर उसकी आजीविका निर्भर है।

व्यापारी के नाप तोल का तो प्रश्न ही नही उठता वहाँ तो सारा काम ही नाप-तोल का है। वैश्य हलवाई से कहिए लाला जी लड्डू खाने हैं तुरन्त आपका स्वागत करके आपको आसन पर बैठाएगा और अति मधुरता पूर्वक पूछेगा कितने तौलू यह 'कितने' वैश्य कर्म का आधार है, इसलिए स्वामी और वैश्य दोनो आर्य कहलाते हैं।

स्वामियो का स्वामी परमेश्वर है,

आर्य का अर्थ है ईश्वर कापुत्र अर्थात् स्वामी का पुत्र अर्थात् परमेश्वर का पुत्र।

परमेश्वर का गुण है न्यायपूर्वक नियमानुसार नाप-तोल कर कर्मो का फल देना।

जो मनुष्य इसी प्रकार सबके साथ प्रीति पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करता है वही भगवान के गुणो को धारण करने के कारण उसका सच्चा सपूत है। परमात्मा का एकलौता बेटा कोई नही। सृष्टि के आदि से आज तक जिन्होंने नाप तोल युक्त व्यवहार किया वे आर्य कहलाये और जो करेंगे वे कहलाएगें चाहे किसी देश जाति अथवा सम्प्रदाय मे उत्पन्न हुए हैं। यह है आर्य शब्द का अर्थ। जिनका जीवन सत्य रक्षा, न्यायरक्षा अथवा धन दीन-रक्षा के व्रतो से नपा-तुला हो वे आर्य वर्ण के लोग कहलाएगे और उनका चुनाव किया हुआ व्रत आर्य वर्ण कहलाएगा।

अब बताइए, कि इसमे गोरा रग लम्बी नाक अथवा भारत के बाहर के किसी देश से आना किस प्रकार आघुसा, जिन धूर्त शिरोमणि लोगो ने इस राष्ट्र की एकता के विध्वस के लिये इन पवित्र शब्द की यह दुर्दशा की है उनसे पग-पग पर प्रतिक्षण लडना और तब तक, दम न लेना जब तक यह अविद्यान्धकार धरती से विदा न हो हर सत्य-प्रेमी का परम कर्त्तव्य है और राष्ट्रहितैषियो के लिए तो यह जीवन मरण का प्रश्न है। क्योंकि इसी पर राष्ट्र की एकता निर्भर है।

—प्रस्तुति नवीन कुमार शर्मा

***

आदर्श अन्तर्जातीय विवाह

शनिवार दिनाक 12 दिसम्बर 87 ई को स्थानीय आर्य समाज भवन, केसरगज, मे भीलवाडा मे सेवारत उदयपुर निवासी प्रसिद्ध साहित्यकार एव लेखक श्री नन्द चतुर्वेदी के सुपुत्र श्री आदर्श चतुर्वेदी का आदर्श अन्तर्जातीय विवाह महाराष्ट्र वासी श्री प्रभाकर सदाशिव करकरे की सुपुत्री तृप्ति करकरे (हाल उदयपुर वासी) के साथ वैदिक रीति से सम्पन्न हुआ। विवाह सस्कार आचार्य गोविन्द सिंह शास्त्री ने सम्पन्न कराया। सामाजिक कुरीतियो, दहेज प्रथा आदि रूढियो को त्याग कर किये गय इस आदर्श अन्तर्जातीय विवाह के लिए समाज के पदाधिकारियो ने नवदम्पत्ति को आशीर्वाद एव शुभकानाए दी।

मुस्लिम युवक की शुद्धि

33 वर्षीय अजमेर निवासी रफी अन्जुम का स्वेच्छा से धर्म परिवर्तन का प्रार्थना पत्र देने पर स्थानीय आर्य समाज भवन केसरगज मे आचार्य गोविन्द सिंह के पौरोहित्व मे शुद्धि सस्कार सम्पन्न हुआ और उसका नाम राहुल आर्य रखा गया।

बाद मे पारस्परिक सहमति के आधार पर एक सादगीपूर्ण समारोह म कोटा निवासिनी कविता व्यास के साथ वैदिक रीति से विवाह सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर समाज की ओर से श्री राहुल आर्य को वैदिक साहित्य भी भेंट किया गया।

संस्कृत–संभाषण–शिविर

वेद सस्थान, अजमेर द्वारा 22 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 1987 तक 'सस्कृत सभाषण शिविर' का आयोजन किया गया है। —अध्यक्ष

गुरुकुल बसंत पचमी मेला

गुरुकुल महाविद्यालय, कण्वाश्रम (पौडी गढवाल) द्वारा 'बसन्त पचमी मेला' 22, 23, 24 और 25 जनवरी, 1988 को मनाया जा रहा है।

— विश्वपाल जयत

आचार्य दत्तात्रेय आर्य पदयात्रियो को सम्बोधित करते हुए।

नारी उत्पीडन के विरोध मे, अजमेर के पदयात्रियो का श्री रासासिंह के नेतृत्व मे जुलूस

पदयात्रा में अजमेर का जत्था

स्वामी अग्निवेश की 'नारी उत्पीडन' के विरुद्ध जन-जागरण के लिए की गई 'दिल्ली से दिवराला' तक की पदयात्रा मे आर्यसमाज, अजमेर के 56 सदस्यो और पदाधिकारियो ने समाज के मन्त्री श्री रासासिंह के नेतृत्व मे जयपुर से भाग लिया।

18 दिसम्बर की सुबह पदयात्रियो ने समाज-भवन मे एकत्रित हो सामूहिक यज्ञ किया। तत्पश्चात् समाज के प्रधान आचार्य दत्तात्रेय आर्य की अध्यक्षता मे पदयात्रियो के स्वागतार्थ एक सादे समारोह का आयोजन किया गया। अन्त में आचार्य जी ने पदयात्रियों को आशीर्वचन देकर समाज-भवन से पदयात्रा में सम्मिलित होने के लिये विदा किया।

'समाज-भवन' से पदयात्री श्री रासासिंह के नेतृत्व में एक जुलूस के रूप मे 'नारी उत्पीडन' के विरुद्ध जयघोष करते अजमेर के बस-स्टैंड पहुचे और वहा से 'दयानन्द बाल निकेतन' की बस द्वारा जयपुर पहुच कर स्वामी अग्निवेश जी के जत्थे में सम्मिलित हो गये।

शेष पृष्ठ 1 का

चुका हूं कि किसी पार्टी विशेष से अपनी निष्ठा जोड देने से व्यक्ति अपने सामाजिक या धार्मिक सगठन के प्रति पूर्ण निष्ठावान नही रह जाता। सामवेदी भले लाख सफाई दें परन्तु उनका 23 दिसम्बर की सभा मे कम्युनिष्ट पार्टी के सतीराम जाखड़ की समालोचना (?) कर राजस्थान के मुख्य मत्री जोशी की वकालत करना साधारण आर्य जन के मन मे उनकी एक ऐसी तस्वीर का निर्माण करता है, जो एक आर्य की नही काँग्रेसी की है। यह कहकर हम सामवेदी की नेक नीयती पर किसी प्रकार का शक नही कर रहे हैं लेकिन हमारे मत मे श्री सामवेदी को ऐसे वक्तव्य या आचरण से स्वय को अलग रखना चाहिए था, जो कि उन्हे एक 'आर्य' के स्थान पर एक 'कांग्रेसी' के रूप मे प्रतिष्ठापित कर दे।

बहरहाल स्वामी अग्निवेश के नेतृत्व मे आर्यसमाज ने जो एक बार पुन अपने क्रान्तिकारी और रचनात्मक सुधारवादी अभियान की शुरूआत पदयात्रा द्वारा आरम्भ की है, उसे लगातार जारी रखना चाहिए। आशा की जानी चाहिए कि स्वामी अग्निवेश, आय जगत् ने जो अपेक्षाए उनसे लगाई हैं उन्हे पूर्ण करेंगे। ●

(शेष पृष्ठ 2 का)

अमेरिका की मध्यमवर्गीय परिवारों की दबी हालत और पति के प्रति निष्ठा भावना के कारण अधिक [illegible] का शिकार होती हैं। वहां का पुरुष भी उनको हीन दृष्टि से देखता है। वहा की औरतें प्रतिष्ठा पर आच न आने देने के लिये अपने दुखी जीवन के विषय मे किसी को नही बताती हैं और घुट-घट कर जोती रहती हैं।

पत्रिका का कहना है कि अमेरिका के कुछ नये कानून औरतो को उनकी कार्यशालाओ अथवा नौकरी के स्थानो पर प्रताडना मिलने पर तो कार्रवाई कर सकते हैं और पुलिस दोषी व्यक्तियो को पकड सकती है, लेकिन नारी को जो घर की चार दीवारी मे प्रताडना मिलती है, उसके विरुद्ध कोई भी कार्रवाई करने मे पुलिस और न्यायपालिका सक्षम नही है।

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि आज के तथाकथित सभ्य विश्व मे नारी की कितनी दयनीय दशा है। विश्व के आदि गुरु मनु महाराज का कहना है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता ॥ मनु 3/54 ॥

जिस घर मे नारी को उचित सम्मान मिलता है, वहां देवताओं का निवास होता है।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ॥ मनु. 3/57 ॥

और जिस घर में नारी जाति शोकातुर रहती है, वह कुल जल्दी ही नष्ट हो जाता है।

क्या आज का पुरुष मनु के कथन से कोई प्रेरणा ले सकेगा ?

—वीरेन्द्र आर्य

पं. वीरसेन वेदश्रमी नहीं रहे

वेदो के सुप्रसिद्ध विद्वान प वीरसेन वेद श्रमी का गत 22 दिसम्बर को इन्दौर मे अकस्मात् देहावसान हो गया। पडित जी वैदिक यज्ञ कर्मकाण्ड के विश्वविख्यात विद्वान थे। इस क्षेत्र में वे सर्वोच्च स्थान रखते थे। उनके निधन से हुए रिक्त स्थान की पूर्ति असम्भव है।

वेदश्रमी जी को आर्य पुनर्गठन' परिवार अपनी विनम्र श्रद्धाजली अर्पित करते हुए उनकी आत्मा की चिरशांति के लिये प्रभु से प्रार्थना करता है।

पं. उदयवीर शास्त्री को पत्नी शोक

आर्य समाज के दर्शनो के सुप्रसिद्ध विद्वान प. उदयवीर शास्त्री की पत्नी श्रीमती विद्यावती का 30 दिसम्बर को देहावसान हो गया। वह पिछले कई वर्षों से पक्षाघात से पीडित थी।

'आर्य पुनर्गठन परिवार की विनम्र श्रद्धाजली मृतका को सादर समर्पित है।

पाठकों से निवेदन

सदस्यता शुल्क शीघ्र भेजें

हमारे अनेक सदस्यो ने अभी तक अपना वार्षिक शुल्क नहीं भेजा है। ऐसे सदस्य महानुभावों से विनम्र निवेदन है कि पत्र का वार्षिक शुल्क मात्र 15/- रु धनादेश द्वारा शीघ्र भेजने का कष्ट करें। ताकि हम आर्थिक समस्या से मुक्त हो, पत्र का नियमित प्रकाशन करते रह सकें।

सहयोग की कामना में

—[illegible]

given, and the lesson pointed out. But when a band member is caught stealing the second time, he is punished severely, sometimes by death.

Some Economic Universals

18. No society has ever been found with *complete* communal ownership of property. Private property in personal belongings is universal Primitive communism thus appears to be another myth.

19. At the same time private property in the natural resources of the group is rare in primitive societies. No individual has exclusive "rights" in fishing areas or hunting lands on which the livelihood of the group depends Such property is held jointly, and must be passed on intact One of the greatest breeders of conflict between the early settlers in America and the Indians was that the Indians followed this more normal definition of property in natural resources, while the settlers followed the special Anglo-Saxon custom. When they "sold" land for a few knives and beads, the Indians thought they were transferring hunting rights only. They were naturally bewildered and angry when the palefaces began to exercise exclusive ownership. The Europeans, on the other hand, felt that the Indians were liars and cheats for not living up to their signed agreements Another tragic example of cross-cultural misunderstandings that lead to bad blood and war.

20. Free giving is a high virtue in many societies, while the desire for profit is often absent. Thrift and frugality, instead of being virtues, are often considered the reverse. Wealth is frequently used for conspicuous consumption rather than for increasing the stock of capital The Kwakiutl Indians of Vancouver hold prestige contests at feasts called *potlatches*, in which a man tries to shame his rivals by giving away or burning up valuable goods. Veblen played on this theme of conspicuous consumption in *The Theory of the Leisure Class*.

21. Some individuals are acquisitive, and so "all societies have had to develop techniques to insure a share of the necessities

to all members." Otherwise the greedier members try to monopolize necessities. All societies place limits on the acquisition of property. A recent technique to limit acquisitiveness in American society is a graduated income tax climbing well above 80 percent.

22. No human culture has remained long at the stark survival level on which classical economists most often base their hypotheses. "Economic Man" in economic theory, who always acts on the principle of the lowest cost, the largest take, and maximum efficiency, can be found only in books. Flesh and blood men elaborate the necessities, and begin to look for non-economic satisfactions as soon as they rise above the level of bare subsistence *Indefinite elaboration is one of the most striking of universals.* Even the Old Stone Age people etched designs on their axes Where is the economic justification for an Egyptian pyramid, a Maya stela, Chartres Cathedral, or the Washington Monument? Think of the progressive elaboration from a shepherd's pipe to a symphony orchestra! Economic theory which leaves out this universal behavior pattern is useless.

Patterns for Group Members

23. Every normal person needs response from his group. Hermits and recluses are abnormal everywhere.

24. The individual needs recognition. Somewhere in the society he must think he has a useful place, even though a modest one, and that he is filling it adequately. This is demonstrated in the status structure of every society studied, and is of the utmost significance.

25 Prestige is a major motive for individual action, stronger than money in most societies In American society we have, until lately, combined the two—that is, defined prestige in terms of money. The great depression, more leisure, and the graduated income tax, have relaxed the pecuniary standard a little in favor of other forms of prestige.

26. The individual constantly feels the need for a leader. He wants somebody whom he can trust in charge of his group.

27. The individual shows a deep need in every society for friends of the same sex.

28. He needs a way to work off frustrations. Continually obeying the rules of the culture burns him up from time to time, and to preserve equilibrium, if not sanity, he must let off steam. Americans have no recognized method for doing this, but other societies provide an official Saturnalia, fiesta, or Walpurgis Night, when taboos are ceremonially suspended, and the sky is the limit. Our nearest approach is perhaps the annual convention of the American Legion.

29. In the Victorian era it was fashionable to complain that "uncivilized" people—such as African Negroes or Mexican Indians—did not think logically, and were, therefore, hard to deal with. Only in recent years has it been made perfectly plain that civilized people do not think logically either. The record of the social scientists demonstrates that man is not habitually a logical creature. Shaw once observed that we only use our reason to support our prejudices—but that may be a little strong.

The record also shows that W. I. Thomas, the sociologist, was not far wrong when he wrote of the "four wishes" of mankind a generation ago. Every individual, he said,[1] needed from his group four things: *response, security, recognition, and new experience.*

Universals of Government

30 Linton makes a sharp distinction between "group," "government," and "state" A group or society he defines as any collection of people with a social structure. As we have seen, it is the transmitter of culture to the young, and varies in size from the face-to-face band of a few hundred, to all the people in George Adams's continent The leaders of the group or society are by definition the government, official or unofficial. No society has ever been found without a government—which seems to leave the philosophical anarchists high and dry. The

[1] In *The Unadjusted Girl*

state, however, is something different. It is the term for a society and its government *organized as a sovereign power, prepared if necessary to wage war.* This gives the state a number of unpleasant powers—unpleasant to the peace and comfort of the individual.

Without war, or the threat of it, we might not have an institution corresponding to "the state" at all. If war is a universal, it follows that the state is one too. But war has not been conclusively established as a universal culture trait. Some societies, like the Arapesh of New Guinea, apparently have never engaged in it.

31. A well-knit, face-to-face band—say among the Plains Indians—holds formal government to the absolute minimum. There is not much for the big chief or the elders to do, for every member knows his place, his duties and rights, and disciplines himself so well that he needs little governing. The most successful nations, observes Linton, are those whose citizens feel toward their country in somewhat the way nature peoples feel toward their tribe. If citizens have this feeling, almost any form of government—monarchy, theocracy, democracy—will work. If they lack it, the finest constitution will be of no avail Looking around the world today, it appears that the Swedish people have such a feeling. The English have it in their native isle. The French have less of it. The melting pot must bubble a while longer before we get it in America, where a hundred pressure groups still are crying, "Me First."

Status and Role

Prepare now for a surprising universal! Quoting Linton.

32. "Individual talent is too sporadic and unpredictable to be allowed any important part in the organization of society." Social systems which endure *are built on the average person*, who can be trained to occupy practically any position adequately, if not brilliantly. If roles had always to be filled by Napoleons or Lincolns, they would often not be filled at all. But the social scientists concede that in periods of rapid cultural

change, like the present, many talented people come to the fore. This conclusion upsets some of our most cherished ideas about leadership, yet its logic is hard to answer The facts, of course, are only too clear. Practically all societies, for nearly all of the time, *do* have mediocre leaders. Just look around the town.

33. Status can be either *ascribed* or *achieved.* You are born to a social position, or you fight your way up to it. In feudal societies status is mostly ascribed, the son of a noble becomes a noble at birth, the son of a serf remains a serf. In America the accent is on achieved status—which is a technical expression for the success story. Any boy can be president, although it helps to be born in a log cabin. (The popular saga fails to remind us that up to now no Jewish boy, and no Negro has been elected president—but this too may change.)

Ascribed status reduces competition, rivalry, and conflict. The citizen is easy in his mind, for he knows where he belongs and is comfortable there. One reason for tension and worry among Americans is the drive to achieve a higher place. Wave after wave of immigrants comes to a city, lands on the bottom with the most menial jobs and lowest pay, and then begins to fight its way up—Irishmen, Scandinavians, Germans, Italians, Poles. In New York, the Puerto Ricans are now on the bottom, even below the Negroes in Harlem They will not stay there, for the culture bids them climb. The process, though it generates plenty of tension, is an essential part of the American way of life. We do not accept an ascribed status.

Let me repeat that the above 33 universals are the result of a rough and ready analysis, drawn largely from Linton Qualification may well be in order as new facts come in to the Area Studies File. But when all qualification is made, and the proper scientific caution expressed, the anthropologists' contribution is bound to stand out with luminous clarity. What they have given us is a comprehensive and compelling affirmation of the brotherhood of man.

10

Cultural Chasm

In this chapter and the next we will tell two stories of the culture concept in action. The first reports a skillful analysis of the cultural chasm between English-speakers and Spanish-speakers in the American Southwest. The second story concerns a camp of Japanese-Americans, transplanted from their homes on the Pacific Coast during World War II, and how a social scientist helped to prevent a bloody uprising.

Medical personnel in Texas, New Mexico, Arizona, California, have had a difficult time dealing with two-and-a-half million Spanish-speaking people in the area. A social scientist, Dr. Lyle Saunders, with the help of Dr Esther Brown of the Russell Sage Foundation, studied the situation for some years on the spot, exploring the clash of cultures, and the great trouble which comes when neither group understands the language, customs, and belief systems of the other.[1] Such things as the following are continually happening:

> The Spanish-speaking couple who failed to report to the proper medical authorities the birth of a child, and its death one hour later, and who themselves buried the infant in a box in their yard, were not bad or heartless people They were, of course, picked up by the police when their deed became known But they do not deserve punishment. Instead they need an opportunity to acquire an understanding of our ways. They did what all people do in the tiny, remote Mexican community from which they came They did what for them seemed right, what was customary, what they had learned to do from the people among whom they had lived most

[1] See his book, *Cultural Difference and Medical Care.*

of their lives. But in the United States it was not right, not customary.

A cultural chasm indeed—what is right and proper in one society becomes a crime in another.

There are three main groups of Spanish-speakers in the Southwest: (1) Spanish-Americans, who first settled in the Rio Grande Valley some years before the Pilgrims landed on Plymouth Rock. (2) Mexican-Americans who have become United States citizens. They speak the soft Mexican Spanish, but their children are increasingly bilingual. The culture of this group is a mixture of Spanish and Indian (3) "Wetbacks," who have waded the Rio Grande to become migratory laborers, illegal immigrants, and most welcome to United States farmers with crops to gather.

Dr Saunders' study describes the interrelations between the "Anglo" or English-speaking culture, and the Mexican or Spanish-speaking culture. The findings, intended for the use of medical personnel in the Southwest, are also valuable for similar borderline medical programs anywhere in the world. The World Health Organization, UNESCO, projects in technical assistance, Rockefeller Foundation projects abroad, are already using them to advantage. Beyond that, the findings are dramatic and revealing for anyone trying to look over the walls of his own culture.

Case Work

Doctors and social workers in the Southwest find themselves repeatedly baffled by such situations as these:

A mother who clearly loves her child waits until he is critically ill before calling a doctor.

A patient with t.b. who walks out of the hospital to attend a family wedding.

Children, already retarded in school, do not appear until months after school opens.

A child, dying of leukemia, is taken from the hospital by the family and placed in the care of a *curandera*, or local herb-doctor.

Such cases are hard for "Anglo" professionals to understand. The natural reaction is to call names—"stupid," "ignorant," "childish," "irresponsible," "lazy," from which it is only a step to "genetically inferior." But to the Spanish-speakers, Anglos often seem to be crazy strangers, talking a harsh gibberish and making a fetish of bathing, of being on time, wearing outlandish clothes, their men degrading themselves by doing women's work, and showing alarming ignorance of the real nature of illness and disease.

What the Anglos often overlook is that medicine is a social activity. There are always at least two persons intimately involved, patient and therapist, and their relation takes place within a social system Medicine in every culture is, and has been for thousands of years, a vast complex of knowledge, belief, skills, roles, ideologies, attitudes, customs, rituals, and symbols, "interlocking to form a reinforcing and supporting system."

When the young doctor down from Ohio laughs off Juan's behavior as ignorant and irresponsible, the doctor really is the ignorant one. Juan is operating within a powerful and complicated system, which has rules about disease and its cure just as deep-seated as in the medical schools of Ohio, and far more ancient. There are at least 46 cures for rheumatism in Mexican folk medicine, some of them very elaborate therapies. Useless? Probably. *But Juan does not believe them to be useless, and it is his belief which the Anglos do not allow for.* He holds to it as firmly as they hold to cortisone.

Seven Differences

Analysis of the cultural chasm between Anglos and Mexicans reveals seven major differences:

1. Language.
2. Attitude toward time.
3. Attitude toward change and "progress."
4. Attitude toward work.
5. Accepting one's fate. Resignation.

6. Relation with one's group.
7. Attitude toward formal organizations.

Language

Language forms the deepest cleavage. Anglos make little attempt to learn Spanish, though the Mexicans are all expected to learn English. It is possible to live out one's life in sections of El Paso, San Antonio, Los Angeles, without knowing a word of English. This creates a vicious circle of misunderstanding. Anglos tend to shout, hoping to make themselves better understood When the response is only a terrified *no comprendo*, the Anglo concludes that of course the chap must be stupid, he can't understand plain English and ought to go back where he came from. If the chap happens to be a Rio Grande villager, his ancestors got here in 1598.

Dr Saunders quotes the linguist, Benjamin Lee Whorf, showing how the language one learns as a child shapes his thinking throughout life. Our perceptions are organized around verbal symbols, what a person "sees," the meaning it has for him, is tied to the structure of his language and group experience. In English, a clock *runs*, but in Spanish *el reloj anda*, "he walks." This simple difference has enormous implications. If clocks run, there isn't a minute to lose! If they walk, we can take our time.

In Spanish, a worker does not miss the bus, the *bus left him*—the culprit is the bus, not the person Spanish is replete with this kind of construction—buses leave people, objects lose themselves, automobiles wreck themselves, dishes break themselves by falling away from people. The English-speaker reaches into his box of categories and proceeds to label the Spanish-speaker as "lazy" and "unreliable."

The cultural characteristics of any people are not haphazard. They are all of a piece and built up over the centuries The function of culture, as we have seen, is primarily utilitarian, to enable the group to survive. Every trait has, or once had, relationship to other traits and some relevance to the environment. New layers can be deliberately added, but old ones cannot easily

be taken away, although they may gradually erode through the process of cultural lag. When people move they take their culture right along, as much a part of them as the hair on their heads.

Time

To understand the Mexicans, says Saunders, we have to look to the old environment as well as the new. In the old environment, either along the Rio Grande or in Mexico, time moved slowly, the corn field was tended, the fiesta celebrated; changes were few. A past without written records is misty, and the future offers no particular promise—"neither anticipated with joy, nor feared."

In the villages the rhythm of life was seasonal rather than diurnal. What one did on a particular day did not matter much; what one did during the year mattered a great deal. There was no money, no boss, no time clock, "no pressure to develop any particular concern with time." This rhythm, of course, is found in handicraft cultures all over the world. Only recently has Western culture pushed pins into citizens, bidding them remember that time is money, clocks *run*, and they must get a move on if they expect to climb the ladder of success. Anglos are oriented toward the future, Mexicans are oriented toward the present and the remembered past. To them, the Horatio Alger story is meaningless, the American success saga a form of mild insanity.

The young doctor says to his Mexican patient: "What day would you like to come to the clinic next week?" How does Juan reply to this strange question? He stammers, runs his sombrero through his hands—not from stupidity, but because he does not think about time in that way at all.

Change

A major belief among Anglos is that change is good and "progress" inevitable. There was little progress along the Rio Grande for 300 years, the villagers had almost no experience of change. The future, if they thought about it at all, was an ex-

tension of the present. Uncertainty, perhaps danger, would come with the new and untried. This is also true in many Russian villages, villages in India and China and Africa.

Work

Dr. Saunders picks up a story from Bennett Cerf to illustrate the attitude toward work. A businessman from New York is strolling along the platform of the railway station in Albuquerque. He sees a group of Pueblo Indian men relaxing in the sun. What a waste of manpower! He goes up to one of them and asks with some asperity why he isn't working.

"Why should I work?"

"To earn money," says the businessman

"Why should I want to earn money?" asks the Indian.

"So you can save it, and some day you will have enough so you can retire and won't have to work any more."

"I'm not working now," says the Indian

When I first went to Mexico I was told that the people were congenitally lazy, and a good many of them did seem to be sitting in the sun. But as I stayed on, collecting material for a book, I realized that Mexicans could work as hard as anybody else, carrying prodigious burdens on their backs, toiling incredibly to cut down the jungle for a new milpa, *if they felt that the work was important.* They seldom worked just for the sake of working, or from a moral compulsion. With Americans, work is tied to personal success, with Mexicans it is tied to the demands of the environment and the rhythm of the seasons.

Resignation

A Mexican is more likely than an Anglo to resign himself to whatever fate brings. This again reflects the ancient village pattern—"a remembrance of men and women who were born, resigned themselves to suffering and hardship along with occasional joys, and died when their time came." There are plenty of never-say-die *caballeros* in Spain and in Mexico City, but most villagers see life in more philosophical terms. They may

not be dedicated to the main chance, but often they seem to have achieved an enviable human dignity.

Death is regrettable but inevitable, and so the Mexican does not call the doctor when the baby dies. To die at home, furthermore, is much better, he thinks, than in a strange, impersonal place called a hospital.

Here is Maria with a serious case of t.b. But she feels quite well. So she cannot be ill, she thinks. If she is not ill, how can she transmit sickness to her children? These Anglo medicos are very foolish. She does not hear the doctor's words saying she is sick, they simply do not come through. The medical concepts which make the words meaningful are unknown to her She "knows" about sickness, and in terms of her "knowledge"—deep and ancient and complex—she is not sick.

In Conclusion

Western ideas of medicine are unquestionably sounder than village ideas. Scientific medicine is bound to prevail in the end But it will win out sooner, with far less frustration, if Anglo medical workers can be given a working knowledge of the culture concept. In due time, perhaps, the children of Maria and Juan will understand it better too.

About 70 or 80 years ago, biology came in to help Western medicine, revolutionizing the theory of infections, among other things. Today the social scientist is offering medicine another important aid, in such studies as Dr. Saunders'. Students in medical school, he says, should begin with courses on the culture concept, while all large health programs, where more than one culture is involved, should include social scientists for planning and for constant consultation

Medicine is a social complex, as we have seen, but too many American doctors assume that it is only a business between doctor and patient, without reference to environment, cultural beliefs, and local customs. The Anglo often concentrates on symptoms, forgetting people. "During the first year in medical school the student's contacts are with dead people."

Looking at a man with the naked eye, he is an individual. Looking at him with a microscope, he is a biological specimen. Looking at him from the long view, he becomes a unit of society, bound into its culture with bolts of steel. The doctor needs all three perspectives to do justice to his great mission.

11

Revolt in the Desert

A serious handicap of the social scientist is the lack of laboratory conditions where controlled experiments and measured observations can be carried on Researchers often dream of an isolated spot where they would have the power to vary conditions and pinpoint behavior.

Such an opportunity came to Dr. Alexander Leighton, psychiatrist and anthropologist, during World War II. With a small staff, he was assigned to observe one of the relocation centers for Japanese-Americans At Poston in the Arizona desert, men, women, and children were obliged to live under great tension and insecurity for many months Various experiments might have been made, but Dr. Leighton chose to concentrate on the patterns of group tension itself. Later he reported his findings in a penetrating book, *The Governing of Men*, which has value for administrators and executors in many kinds of human situations

The camp was guarded by the Army and administered by the United States Indian Service. Leighton was delegated to watch its development, advise the administration, and search for valid conclusions He asks

> . . . What in all this is recurrently human? What are the laws of individual behavior, what are the perennial social forces at work here? . . . What general characteristics of human nature are in action, a knowledge of which would prevent such sudden diseases of society as this? The breakdowns of man's organizations of himself and his fellows are not events isolated in evacuation camps. They cover as much of the earth as is covered by the human race, and

questions that run deeply into the fate of mankind in a shrinking world are involved.

Japanese people coming to America to settle on the West Coast had different culture rings from the ancestors of George Adams. They had centuries of civilization back of them, to be sure, but not Western civilization, not Christianity, not Anglo-Saxon culture, and above all, not the English language. By 1940, however, they were well on the road to making the adjustment, to becoming "acculturated," as the anthropologists say. Their children were at home in both worlds.

In their ranks were tuna fishermen from Terminal Island, Judo instructors, lawyers, celery farmers, rose gardeners, a Y.M.C.A. leader, "Texas Mary" (the ornament of a Salinas saloon), wholesale produce merchants, a Baptist minister, research workers, butlers, bums At 7.55 A.M on December 7, 1941, Pearl Harbor was attacked. Instantly life for every one of these people became difficult. On January 2, 1942, Manila fell, and it became more difficult. Said the Los Angeles *Times*: "A viper is none the less a viper wherever the egg is hatched." On February 15, Singapore surrendered, and life became critical Ten days later, when a Japanese submarine shelled Santa Barbara, the limit was reached in the opinion of the authorities The Japanese on the coast had to go inland to special camps, where they were held under observation by the government to forestall mob violence against them. On March 18, President Roosevelt created the War Relocation Authority to handle the mass evacuation.

Poston sits in the burning desert near an old mining town. In summer the temperature sometimes climbs above 120° in the shade Here, as the spring of 1942 progressed and the sun mounted higher, 9,000 evacuees were assembled in a new community. The government did not plan to punish them for what had been done at Pearl Harbor, nor was the idea to pamper them. They were to be as self-sufficient as possible, to earn a little by raising some crops for the outside market, and to live a

very simple life in Army barracks on the hot desert floor until the war was over.

In the camp were three well-marked classes of Japanese. The *Issei,* who had been born in Japan and could never become American citizens. The *Nisei,* born in the United States and ipso facto citizens, mostly children of *Issei.* The *Kibei,* who were *Nisei* that had gone to Japan from America, and subsequently returned. Many of the *Issei,* after being treated like lepers on the coast, wanted Japan to win the war, though they did nothing overt about it. Most of the *Nisei,* however, despite the treatment they received, remained loyal to America. In complete disregard of these distinctions, demagogues in the Far West repeatedly made headlines by whipping up agitation against *all* people of Japanese descent, proclaiming that "a Jap is a Jap," and none could be trusted.

Meanwhile, the administration of the camp was split into two kinds of staff members, called by Dr. Leighton "people-minded," and "stereotype-minded." The former were full of good will, which was fine; but some of them tried to operate on the blanket assumption that "we're all human beings"—which was not so fine. We *are* human beings, right enough, *but our cultures are different,* and if this crucial fact is ignored we misjudge what is happening.

The stereotype-minded were at the other extreme. They looked on their charges as "Japs" first and people second—if indeed they were not to be classed among the higher apes Motivations were allegedly different from those of "white men" The stereotype-minded thought the Center ought to be an out-and-out concentration camp. Since they were thinking of slogans rather than people, they gave no attention to incentives, but relied on punishment and fear. Shoot a few Japs and the rest would come around, was the general idea—"the only treatment the yellow so-and-sos will understand." This attitude was held by the least educated of the staff, and those least informed about the reasons for the Center. One of the top officials, a man of fifty, "honest, forthright, and inflexible," came from the deep

South We will call him Mr Z. He had no difficulty in transferring to the Japanese his whole built-in belief system about Negroes—a lower order of being to be kept in its place.

The hot months of 1942 dragged on. The divided policy of the Poston administration, shortages in many promised supplies, the unknown future, all combined to develop among the people of the community various acute needs—physical, social, psychological—and all related to a feeling of insecurity and fear. One task of the administration was to discover those needs and meet them, and so keep the community from disintegration.

This kind of situation is an acute test for any administrator. He should know that strong fear inside a group is likely to lead to strong anger, which in turn may lead to violence. The people at the Center were full of fear. They had no worthy status, no sense of belonging, no idea what was going to happen to them. They had lost most of their property, and had nothing to hope for.

A local self-government council had been set up, but it did very little and, as the people progressively lost hope, it became the target for their grievances. There was no real integration, no rank and file leadership in the whole camp. Toward the end of the summer, neighborhood groups began to form spontaneously, with each block of barracks as a political and social unit. The "good of Poston" was too nebulous an incentive, but many members began to pick cotton in earnest when it was known that the proceeds would be used to improve their own blocks.

As in all human communities, members varied from responsible upright citizens to bad actors full of hate. Within narrower limits, so did members of the staff vary. The degree of coöperation and responsibility was also affected by government policy at Washington Abrupt changes and reversals of policy were frequent, and they bewildered people and hurt morale.

By October, 1942, it was clear that the struggle to build a going community had been lost. The Center was visibly disintegrating, and dire things were in the wind. It was cool in the evenings now, and people stood on the streets around the

fires which they had built against the chill, recounting their grievances. They spoke bitterly of the poor food, the terrible heat of the preceding summer, the hospital equipment which had never come, the mosquitoes, the wretched pay of fifty cents a day.

Around the fires, ugly rumors began to spread. Premonitions and prophecies began to be heard, Ouija boards were brought out. A situation out of control usually encourages magical solutions. Crackpots, demagogues, trouble makers, had a receptive audience around the fires Gangsters were not only tolerated but admired as men who got action. . . . Action!

The administration consulted Dr. Leighton, and he sought to interpret what was happening. People, he said, were trying to adjust to a society that had no framework and no stability. They were trying somehow to exist without security or hope.

By the middle of November, their strong inhibitions against aggression and violence began to crack. Meanwhile, small elements of new social organization, the nucleus of a new structure, were appearing in the fluid confusion. The lack of harmony was almost unbearable. When would the little bonfires turn into one great conflagration?

During the night of November 14, a thirty-year-old *Kibei*, a rice broker and reputed swindler of Japanese farmers, was attacked in his sleep in the bachelors' barracks and beaten almost to death. Fifty suspects were rounded up, and two of them held for further investigation by the FBI, one a former university student, the other a Judo instructor, both were popular. Their families tried to obtain their release A meeting was held in the block where the two men lived, and a delegation was appointed to see the project director The director said that the FBI had the matter in hand, and he could not interfere with the investigation.

Then a curious thing happened. The handful of people who threatened violence unless the men were released became suddenly the catalyst which exploded the frustrations and grievances of the whole camp. There was a spontaneous walk-out—not so

much on behalf of the prisoners, as on behalf of long accumulated resentments and hopelessness As one striker said· "I didn't know what the issues were and I don't imagine anyone else did either—there were so many conflicting issues. Everyone took up the torch in defense of his particular peeve."

The administration was on the spot. Should they call in the Army and quell the strike with force? This would certainly involve bloodshed, for some strikers were offering to die for their cause, while soldiers outside the gates, mostly raw recruits, were eager to charge in. Should the administration try, on the other hand, to weather the crisis and use the emotional energy the crisis released to build a better community? If the Army came in shooting, the hope of anything better than a concentration camp was gone. The Berlin and Tokyo broadcasters, furthermore, would have a field day equating the attack with the Four Freedoms! The majority of the people at the Center, it must be remembered, were *American citizens*, American born, whose loyalty had never been disproved.

When the strike exploded, the staff split down the middle. To the stereotype-minded, the matter was simple. Mr. Z had his formula ready· The Japs (considered all to be identical) were raising hell, and it was the duty of good Americans to go in there, slap them down, and put them in their places. If this involved shooting irons, it involved shooting irons The whole disturbance was the result of previous coddling and lack of discipline.

Mr. Z had followers, though not all so outspoken. Some of the staff saw the situation in pure Hollywood colors, with plots, secret agents, Axis machinations, buried food supplies for invading armies, all complete. The melodrama mind, Leighton says, was exceedingly dangerous at this juncture. It was primarily a product of fear, but "out of the figments of the mind springs actual catastrophe." Thus the top administration had to deal not only with tension in the community it was trying to govern, but with emotional breakdown in its own ranks

On the other side were the "people-minded" staff members,

some of them sentimental, some of them realists. They tried to canvass various alternatives. Breaking up the crowd that milled around the jail where the two suspects were held would not halt the strike If the Army took over there was no way to force residents to work. Frustrations and grievances would be driven underground, only to become worse. . . . So the "people-minded" reasoned

Not even the most tender-hearted of the staff entertained for a moment the idea of letting the two prisoners go free, as the crowd demanded. "Face seems to be important in all societies. . . . Orientals have no monopoly." The alternative to summoning the Army was some kind of negotiation which tacitly implied that the strikers had a case. The strikers by this time were represented by a so-called Emergency Council, mostly elder *Isseis*.

The top administrator was attending an important conference outside the State and could not, at this critical juncture, be reached. We cannot envy the assistant director, who, after a stormy staff meeting between these two schools of thought, stood looking out the window at the gray November desert, trying to decide what to do If he said "yes" and let the Army take over, he had a perfect escape for himself, but the Center was finished. If he said "no," perhaps the mob would go on the rampage, looting and burning, as Mr Z so confidently prophesied After a long time he turned back from the window and said "no" He would ask the Army to establish patrols *outside* the area, but not to take charge of the camp.

Every administrator, Leighton remarks, must be prepared when the time comes to back himself against the world, and if necessary take the consequences of losing. It is no field for the faint of heart. True, the moment does arrive when the administrator stands alone, but how much better, when that time comes, to be backed by knowledge! For a few hours at Poston it was touch and go, but the decision turned out to be the right one. When the people felt that the administration was ready to negotiate in good faith, the hotheads lost their following. The strike ended with a mass meeting in front of the jail.

It was a cold night and the fires were all burning. Speakers praised the work of the community's Emergency Council, the law and order which it had maintained during the strike; they looked toward the bright future of Poston as a self-governing community. The director, recently returned from his conference, made a warming speech. The strike was nobody's fault, he said. "It's not the administration up there and you people down here, but we're all working together." The meeting ended with three *banzais* and the crowd went quietly away, its tensions relaxed. In some quarters there was even a feeling of jubilation, of liking everybody, including the administration. The fires were put out; the rubbish was cleared away.

One of the prisoners was released outright, after the FBI concluded its investigation. The other, the Judo instructor, was paroled pending examination by the regular civil courts of Arizona. Subsequently the case was dropped because of insufficient evidence. Self-government really developed out of the Emergency Council and a sounder community with indigenous leadership was born. Although other troubles arose from time to time thereafter, no more strikes and no more mass frustrations were found at Poston.

Lessons from the Crisis

The crisis and its settlement had focused attention on certain fundamental *needs* of the community "on behalf of which," says Leighton, "the strike had been only an imperious cry for attention." The story of the uprising, dramatic as it is, is merely the prelude to the conclusions which went into Dr. Leighton's notebook as a social scientist. Some of them will impress you as simple common sense; others are clearly exploring new areas in human relations. "I am certain that in the Relocation Camp experience, my hands, groping blindly below the surface, touched here and there on a real body of constants and laws in human living."

He begins his analysis with two constants which we have already encountered.

Principle 1. In all the different peoples of the world there are universal basic characteristics inherent in human nature. *Principle 2.* There are profound differences in belief, sentiment, habit, and custom among the various communities, tribes, and nations which make up mankind.

These two linked principles summarize the culture concept. They are accepted by practically all modern scientists who have seriously studied the nature of man and his society. The more naive of the "people-minded" administrators at the camp accepted the first but were not sufficiently aware of the second. The "stereotype-minded" embraced the second in its most extreme form, and denied the first. So both groups missed the mark, though Mr. Z and the "shoot-'em-down" school were the more seriously afield.

Here are other useful conclusions and recommendations arising from the study:

Do not think of people as racial, national, or class stereotypes. Get up close and look at them, particularly at the children.

Group stability is helped by situations which give economic security, by work which is thought to be important, by outlets in sports and recreation.

All people everywhere create social organizations, given time enough. Very recent immigrants are thus at a great disadvantage. Human groups cannot carry out actions for which they have no social organization.

Remember that your own staff is composed of human beings, too, reacting in ways similar to the people under them.

Keep the communication line open, both from the administration to the group and from the group back to the administration.

Never make threats or lay down rules you cannot enforce. Do not take a strong stand on a weak position. This sounds a little like "don't kiss a buzz saw," but administrators and legislators and Secretaries of State are doing it all the time.

Most individuals, most of the time, prefer peace and quiet. The administrator can always count on this massive inertia. He can also count on a sense of humor. He can count on the rela-

tively long time it takes for aggressive feelings to rise to the point of violence. In Poston it took almost six months.

A sure warning of breakdown is a rise in rumors and magic.

Never dismiss complaints as trivial, they may be storm signals.

Following an outbreak of aggressive action, people have a feeling of relief and well-being, of liking everyone. *This is the worst possible moment to deal out punishment.*

Finally, if an administrator finds he cannot control his prejudices, he had better get into another line of work.

Role of the Social Scientist

When Dr Leighton and his associates came to Poston, the administration was making decisions off the cuff after informal staff conferences. The communication lines were not good in either direction. After he had collected sufficient first-hand information, he began to tell the top managers about it—to their apparent astonishment. "We thus became aware of what would seem to be a basic principle in the application of social science to a fast-moving administration program, namely, that the research staff have direct access to policy-makers, and participation in policy meetings"

When the strike ended in November, the social scientists had been in constant attendance during the critical hours. *They did not make the final decision;* the man at the window did that. But they put the major characteristics of the situation before him, so that he could make his decision on the basis of understanding instead of passion. Mr Z supplied the passion . . . In these two men, Mr. Z and the Assistant Director, do we see two worlds, the one we have known, and another which may come?

FROM STONE TO STEEL

Here is another story about social scientists observing a community in the midst of change. A single small change, from a stone ax to a steel one, shook this particular community to its foundations, and came near to destroying it.

On the subtropical north coast of Australia lives a tribe of native hunters and fishermen called the Yir Yoront. Like most primitive Australians, long cut off from other cultures, the tribe enjoyed great stability. Customs and beliefs were standardized, and before any change was accepted, a myth had to be invented which proved that one's ancestors did things that way, and thus the change was really no change at all.

Up to the turn of the century, the tribe was still living in the Stone Age. An important tool, a short-handled stone ax, was used to build huts, cut firewood, and make other tools for hunting, fishing, and gathering wild honey. The stone heads came from a quarry 400 miles to the south, and were obtained from other tribes in an annual intertribal fiesta The handle was fitted with great skill and care and attached with bark and gum. The completed article—or artifact—was far more than a tool. It had become a symbol, a totem, a sign of the owner's masculinity, to be cherished and handed down, and loaned only with the greatest circumspection. The stone ax was not only useful, it was a kind of keystone in the belief system of the Yir Yoront.

About 1900, steel axes began to filter in along the tribal trade routes. They were welcomed at first as more efficient; one could cut down a tree much faster By 1915, missionaries were distributing the steel axes as gifts and rewards If a man worked especially hard he might get an ax, and so might his wife or young son. The missionaries hoped by this means to induce people to plant and fence gardens and improve their diet.

The idea was excellent, but it overlooked the culture concept. The steel ax destroyed a most important symbol in the belief system of the tribe. A man lost his importance and dignity; his very masculinity was threatened without his stone ax. Women and children, now possessing axes themselves, became independent and disrespectful. The entire system of age, sex, and kinship roles was thrown into confusion. The old trade relations were disrupted and the intertribal fiesta was robbed of significance and charm Stealing and wife lending increased. The ancient totem system was shattered, for it could not be decided

whether the steel ax should be a totem of the Sunlit Cloud Iguana Clan, as the stone ax had been since time out of mind, or the totem of the Head-to-the-East Corpse Clan. . . .

Anthropologists, studying the situation in the 1930's, found that the culture had not broken down so completely as in the case of certain other tribes more exposed to western influences, but it was shaky and insecure. The major reason was the change in the composition of one artifact, from stone to steel, and a change technically for the better.

Lauriston Sharp, who tells this story in a collection about technological change, leaves it here, but the editor[1] points the moral in a list of questions. Before introducing a new artifact into an established native culture, missionaries and others would do well to ask "What will it replace? What other tools and techniques are likely to be affected? Who will benefit and who will be hurt? What symbols and totems and beliefs will be upset?" Hundreds of native cultures around the world have been wrecked and undone by well-meaning Westerners for want of an Alexander Leighton

Well-meaning Westerners are themselves now threatened by the new electronic artifact of automation. Who will benefit and who will be hurt? What symbols and totems will be upset?

[1] Spicer. See Bibliography

12

Scientists Look at Race

Despite their color, the Japanese-Americans at Poston behaved the way any human community would behave under severe stress. As we follow Dr Leighton's account, we almost forget the racial differences; to Mr. Z, however, these were paramount. But the scientist helped to prevent an explosion by treating the situation as a human problem in group tension.

Race prejudice is a cultural phenomenon. One is not born with it, it has to be learned. It has come to our Western culture in relatively recent times, a modern form of the age-old suspicion of the out-group, the foreigner, the person who is different. Religious prejudice has declined in the West as race prejudice has increased.

In the ideal community nobody would need to instruct children about races or warn them against prejudice The adult would act without bias, and the children would automatically follow But in George Adams's New England, as well as below the Mason-Dixon line, the pattern of prejudice is established, sometimes stronger, sometimes weaker. The children see the snub, feel the antipathy, hear the ridicule, and presently they are locked into the pattern too, ready to pass it on to *their* children.

The Biology of Race

The story of Adam and Eve in the book of Genesis has been vindicated in part by biology. Its main point is now generally accepted as true. namely, that there is only one human family. All of us now alive, the whole two-and-half billion of us, are the descendants of a comparatively small group of common

ancestors. In Genesis, the dates are wrong, and we find quite a few poetic trimmings, but the idea is sound. If each of us could trace his family tree back for enough generations, we should all find the same great-great-great . . . grandfather.

Our most remote forebear, according to Linton, was probably a small tree-dweller, ancestral to both men and apes. Succeeding generations became larger, with relatively bigger brains. During the Miocene Age, some members became too large for trees and took to the ground, still on all fours. Gradually they developed carnivorous habits and began to stand erect. Their brains grew still bigger, and late in the Pliocene Age, one branch reached the subhuman level, in the form of a very primitive gentleman indeed. He gave rise to a number of species, one of which finally developed into modern man. Language, the most human of all our traits, began then. This species overran the earth, and in due course began to differentiate into the various races which we know today—brown, yellow, and white.

If we could piece together the story of how a small group, starting probably in Central Asia, gradually spread and migrated around the globe, it would make the American conquest of the West seem like an afternoon stroll. How did these remote ancestors of ours get from the mainland to Japan, to the Philippines, across the watery wastes of the Pacific to one island after another? How did they make their way from the mouth of the Nile down to the Cape of Good Hope? What was their rate—a hundred miles a year, or ten miles a century? How did they eat, and keep the family together?

Even more astonishing, after crossing Bering Strait into Alaska, how did they reach Tierra del Fuego, 10,000 miles away, over some of the most savage territory on the planet? How did they get to Australia, and why was that continent then sealed off for 20,000 years, leaving the people there culturally frozen in the Old Stone Age, still using stone axes in A.D. 1900? Did an easier route exist, perhaps on islands later swallowed by the ocean?

It has taken scientific teamwork of a high order to get the

facts of race together. The *historians* have studied recorded migrations, the *sociologists* have studied group organizations, the *biologists* have studied anatomy and genetics; some *anthropologists* have studied culture, and others have taken many measurements of skulls and shinbones; the *psychologists* have studied intelligence. Their joint findings have been checked and cross-checked, and they have come to the overall conclusion that "all the peoples of the earth are a single family with a common origin."[1]

Take, for instance, the human foot. All human feet have practically the same structure, with intricate bones and muscles and joints. It is clearly impossible for this combination to have arisen twice in two independent species. All humans have the same tooth and jaw structure They are capable of similar physical tasks—running, striking, lifting. They are capable of similar mental tasks—acquiring a language, counting, abstracting, using logic, argument, persuasion. They all gather into bands and groups, and develop cultures which contain many parallel patterns and universals, as we have seen. No other creature passes on a culture to the next generation.

Scientists find that the only demonstrable *racial* differences, which are over and above individual differences, are in a few superficial bodily characteristics—the texture of head hair, the shape of the nose, eye color, skin color. White people are the hairiest, perhaps because most of them live in colder latitudes Negroes have the darkest skin color, certainly because this gives them protection against the rays of the tropic sun. All races have some primitive and other less primitive characteristics The thin lips of the white man, for instance, are nearer those of the ape, the thick lips of the Negro further away.

Skin color is determined by two chemicals, *carotene*, which gives a yellow tinge, and *melanin*, which gives a brown. These colors, combined with the pinkish tinge from blood vessels showing through, provide all the skin shades known Every human

[1] Benedict and Weltfish, *The Races of Mankind*. A good short survey, based on Boas' *Mind of Primitive Man*.

being has some of each—unless he is an albino, which means he lacks *carotene* and *melanin* completely. Albinos are found in all races. Skin color "is not an all-or-nothing difference," says Ruth Benedict, "it is a difference in proportion . . . due to the amount of these chemicals present in your skin."

Height is no reliable characteristic of race. The Shilluk Negroes, near the sources of the Nile, average 6 feet 2 inches, while not far away the brown pygmies average 4 feet 8 inches.

Head shape is similarly unhelpful. In West Africa we find long heads, along the Congo round heads American Indians are both long-headed and round-headed. In Asia Minor, where human mixtures rise to a kind of frenzy, there are long heads and round heads among close relatives.

Blood differences between the races are not significant; no chemist can tell from a blood sample to what race its donor belongs. He can tell whether it is type O, A, B or AB, but these blood types are found in *all* races. Your son and a Maya Indian may both be type AB, while your father's type may differ from your own. Folklore has developed a great mystique about "blood," and how some people are "pure" and some are "mongrels." The truth is, says Gordon Allport, that "most men are mongrels." At the outbreak of the Civil War, however, a Kentucky editor clarified everything by declaring that it was a war to the death between the pure "Angles" of the South, and the decadent "Normans" of the North.

Differences in the size of the human brain today tell us little about race, nothing about intelligence. The world's largest brain belongs to an imbecile. Some geniuses have relatively small brains. As in the case of a blood sample, no scientist can tell by examining a brain alone to what race the owner belonged. The average brain size in cubic centimeters differs slightly by races, but it has not been proved that this affects intelligence until the variation becomes substantial. Back of Neanderthal man, differences in brain size are important.

Curt Stern, writing in the *Scientific American*,[2] says that

[2] October, 1954.

while there remains a group of believers in the mental inferiority of the Negro, the majority of students today holds this proposition to be unproved. All intelligence tests are loaded with cultural conditioning, but one extremely significant fact that has emerged from these tests is that the *range* of measured intelligence is as wide among Negroes as among whites. One little colored girl has scored an IQ of 200, and many Negro children score 140 on the Stanford-Binet scale.[3]

All races can interbreed everywhere, and with remarkable industry have done so. Your typical European is a dizzy mixture of Slav, Mongol, African, Celt, Saxon, Teuton, Semite, and other strains. "So far as we know there are no immutable laws of nature that make racial mixture harmful," says Benedict Have you a picture in your mind of the Scandinavian people as predominantly tall, blue-eyed blondes, with long heads and long faces? If you stood on a street corner in Stockholm with a notebook and counted, you would find that only about 15 percent of the passers-by fitted this description

All races except the Australian aborigines have developed high civilizations from time to time. There were Negro empires and states in Africa when large sections of Europe were sunk in barbarism. The people of China were reading Lao Tze when the original Britons were painting their bodies blue and yelling in the fens. The Maya Indians were better astronomers and sculptors than their Spanish conquerors.

The "character" of the different races turns out, as we might expect, to be a result of culture, not biology. American Indians in New Mexico pueblos were mostly placid, peace-loving, and unemotional, while in the horse culture of the plains, Indians of the same stock were "frenzy-loving Dionysian warriors."

The three primary races—the Caucasian, Mongoloid, and Negroid—exhibit no significant difference in height, weight, anatomy, blood, intelligence, or character. They all have the same normal temperature of 98.6° F., the same life span under

[3] In a ten-year study by Allison Davis, some Negro children at the University of Chicago's demonstration school outranked children of professors.

similar conditions, the same muscular prowess. All are vulnerable to certain diseases and cured by similar methods Individuals within each race, of course, differ greatly, and subgroups differ in certain characteristics, like the Negro giants and pygmies.

Nonbiological or Mythical Races

Many other "races" are identified verbally, argued about, and fought over. On analysis, however, most of them turn out to be national or religious groups with little or no biological difference. "Aryans" are properly people who speak languages derived from the Aryan language group. "Jews" are properly people who subscribe to the Hebrew religion, and practice certain ceremonies like the Seder on Passover. The so-called "Jewish type," with hooked nose and black hair, is a Mediterranean variation of the Caucasian race, and includes many Arabs, Armenians, Turks, Levantines, Greeks, and South Italians, as well as Jews

Hitler and his kept biologists got into some weird difficulties with their "Aryan" doctrines. The Hungarians were obviously not members of the master race, but when they joined Hitler's Axis, they had to be accommodated somehow under the main tent. The solution was to call them "non-non-Aryans" The Arabs and the Japanese presented further complications. In due time the savants in Berlin became so involved in this racial mythology that they had to assert that the Jews, far from being simple "non-Aryans," did not belong to any race at all, but formed a mongrel community thenceforth to be called "Anti-Race"

"A plotting of racial characteristics," says Linton, "on the basis of their degrees of evolutionary advance, shows such an uneven balance between the various races and breeds, that we are forced to conclude that all of them stand at about equal distances from their common ancestor." Perhaps the real reason for the long domination of Europeans over the so-called backward races was reflected in the famous couplet

> Whatever happens, we have got
> The Maxim gun and they have not.

The inaccuracy of most talk about racial differences becomes apparent when one turns to the evidence which scientists have accumulated in the past generation or two. Neither science nor the book of Genesis has had much effect, however. The Christian ethic of the brotherhood of man, as well as the story of Adam and Eve, turns out to be substantially in line with the latest findings in blood chemistry—*but the word does not get around.* What is the trouble?

Polls show large majorities of Americans believing that the intellectual inferiority of Negroes is inborn Thus while real biological differences are slight, believed-in differences are transcendent. "Race, so to speak," says Robert Redfield, "is a human invention." It is not to be found in the blood count, but it has an enormous place in the culture. We have gone far enough in our exploration of social science to know what that means. It means an intangible force against which argument has little effect.

When a white tenant farmer south of the Mason-Dixon line joined a posse to keep Negroes "in their place," he was not necessarily either a brute or an enemy of society. He was following the accepted customs of the tribe, doing what he had been brought up to do. To him it was right and proper that Negroes should give way to whites. This he began to learn almost before he could walk. George Adams learned it, too, but less tenaciously.

In the deep South—for reasons too complicated to go into here, but partly tied up with the frustrations of the War between the States—a caste system has been developed almost as rigorous as that of India. In India it is religion, here it is race, on which one's rank is founded To change the system suddenly would be as shocking to Southerners as the sudden elimination of Brahmins would be to Indians. Mark Twain in a magnificent passage reveals the conflict in Huck Finn after Huck saves the Negro Jim from being captured as a "runaway Nigger" before the Civil War. Huck feels that he has committed a major crime;

his whole moral code lies in ruins "I got to feeling so mean and so miserable I most wished I was dead."

Perhaps the only way to modify a caste system, in a culture where it has been established, is to change beliefs in people's minds. That is not done overnight It probably can never be done solely by appeals to reason, or by reading the Bill of Rights in public parks

Prejudice vs. Discrimination

It is important to understand the cardinal distinction between race *prejudice* and race *discrimination.* Prejudice is a culture pattern not susceptible to frontal attack, and not to be reasoned about except within narrow limits. Discrimination, on the other hand, is a specific, material thing, like keeping Negroes out of schools, washrooms, restaurants, and making them ride in the rear seats of buses.

Discrimination can be attacked, particularly in a country where democratic traditions in other respects are strong.[4] A specific Jim Crow practice can be selected for attack, and if the strategy is well devised, the discrimination can be, and has been, eliminated. Negroes are now being admitted into many colleges in the South. As a discrimination is reduced, there is in turn a reduction in prejudice. It develops, furthermore, in the best way, by use and wont rather than by arguments and propaganda. "If the do-gooders in race relations would waste less time fretting about prejudice and devote their efforts to the reduction of specific, vulnerable cases of discrimination, real progress could be made," says Donald Young

Branch Rickey, manager of the Brooklyn baseball team, engineered a famous example. He put a Negro, Jackie Robinson, on first base in 1947 for the first time in big league history, and backed him to the limit. It took great tact on Robinson's part to survive the first two or three months and avoid a fight with

[4] Rigorous Jim Crow practices in the American South are of comparatively recent origin, beginning about 1880. See Woodward, *The Strange Career of Jim Crow*

some of the players born in the South. By August, however, he was an accepted institution, batting, fielding, and base running with great brilliance. Other Negroes were then signed by Cleveland and St. Louis. John Chamberlain asked Rickey if he had fought for his first baseman to solve a sociological problem. "No," said Rickey, "I brought him up for one reason: to win the pennant! I'd play an elephant with pink horns if he could win the pennant."

This brings up the whole question of social engineering for better race relations. We will concentrate on the Negro problem in America, but the implications are world-wide. Most Southerners sincerely desire to see race relations improved. What methods are available in this direction? Leighton's book about Poston provides important suggestions, and Young has offered more.

Suppose the mayor of a city wants to guard against a race riot; suppose the president of a big steel company wants to introduce Negro workers into his mill; suppose a labor leader wants to persuade the rank and file to accept Negroes into the union? Social scientists can help plan his campaign.[5] They say that trouble always takes place at *some point* in the social structure—on a bus, at a factory gate, on a housing project, in a school. The social engineer studies these points and consults the growing literature about them. A War Department manual for white officers who were to lead Negro troops in World War II was prepared by a team of sociologists, psychologists, and anthropologists. Police handbooks now in use analyze the tensions that lead to race riots, and serve to alert police officers stationed in parts of a city where Negro and white communities merge—often a danger zone. Such technical studies are worth many manifestos about injustices and unconstitutionality.

The United States Armed Services are conducting a great program to abolish discrimination, aided by social science research. It was found that white soldiers who had no experience

[5] Donald Young's "Techniques of Race Relations," *Proceedings* of American Philosophical Society, November, 1947.

with Negro soldiers in World War II voted more than 90 percent against being brigaded with them. (Samuel A. Stouffer designed the polls.) Those who had limited contact were 67 percent against it. Those who were used to Negroes in the same regiment but not in the same company were 50 percent against. But white soldiers who had fought side by side with Negroes in the same company were *86 percent in favor of continuing the arrangement!*

"When I first heard about it," said a platoon sergeant from South Carolina, "I'd be damned if I'd wear the same shoulder patch with them. After that day when we saw how they fought, I changed my mind. They're just like any other boys to us." Elmo Roper, in summarizing Stouffer's findings, says that whites and Negroes got along well in the Army at the front because they had a common enemy, and had to depend on each other in battle. Nobody was conducting a moral crusade or appealing to the Constitution, far from it, American soldiers, with various percentages of *melanin,* were trying to win a war against stiff opposition.

These studies helped to hasten antidiscrimination programs after the war. A reporter at Fort Dix, New Jersey, found the Army program working well after six months of trial.[6] There had been no flare-ups, though the first days were rather tense. Negroes and whites were brigaded together, ate and played together; in some cases Negro officers had white enlisted men under them. The reporter asked a white private whether the Negroes in his platoon were good soldiers. "I never thought about it," he said "Like everybody else, I guess, some good, some lousy."

Col. L. L Gmeiner, the deputy post commander, summarized the situation at Fort Dix.

These young soldiers, put into large camps for the first time, have to learn to live together and work together. Under pressure of military necessity, we have found that they accomplish this adjustment in about two weeks.

[6] New York *Herald Tribune,* May 21, 1951

The rigorous discipline of the Army makes an antidiscrimination program easier. Civilians usually take far longer than two weeks in learning to live and let live. United States public schools, in some localities, following the Supreme Court's decision of 1954, may require years. But the Army experience has abundantly verified social science theory.

Exploded Beliefs about Race

We used to think that the "Negro mind" could not aspire to much education above a vocational course, as taught in schools like Tuskegee and Hampton. Now we know that such a limitation is as false as it is cruel. Negro education should follow the regular American educational pattern, varying with individuals and economic opportunity, not with race.

We used to think that the Negro was particularly susceptible to delinquency and crime. His moral brakes were weak, and he just could not help himself when temptation crossed his path. Now we know that his brakes are as well lined as anybody else's, and that the trouble is cultural, not racial If Negroes have a high crime rate, the social scientist investigates the slums in which they were reared, and the emotional security they got as children.

We used to think that Negroes were gifted with a special sense of song, rhythm, and dance. Now we know they are no more innately musical than the inhabitants of Aroostook County, Maine. If Negro children, or white children, or Balinese children, are brought up to sing and stamp their feet, they will sing and stamp their feet. Many Negroes are good at blues, but no better than Eddie Condon or Bix Beiderbecke

Derogatory stereotypes ("big, black, buck nigger"), and sentimental stereotypes (Aunt Jemima with her pancakes) both harm race relations. Playing up Joe Louis, the boxer, as representing a special race of superathletes is very harmful. "Such credits imply a biological theory of race differences just as surely as do unfavorable stereotypes," says Young The reaction to the brilliant career of George Washington Carver or Ralph Bunche should

be "Why not?"—rather than the more general "Who would have thought it possible?"

Interracial tactics should be designed—we are still considering engineering—to let whites and Negroes become more and more used to each other along Main Street; in stores, hotels, trains, parks, theaters, buses, and other public places, acting like anybody else. The young soldier at Fort Dix had the right idea: "Like everybody else—some good, some lousy."

It is bad tactics to suppress news unfavorable to Negroes. Twisting statistics to show their achievements is not sound engineering either The unvarnished truth will be found a more effective agent in the slow process of cultural change than slanted stories. Negroes are no worse, *and no better*, than the rest of us. Born not far from George Adams, I never solved the race problem for myself until I began to look at Negroes the way I looked at dark Italians or blond Scandinavians—different complexions from mine, otherwise *people*; not to be pitied or fussed over because of their race any more than Tony the fruit dealer or Greta Garbo.

Harping on conflict and injustice can be harmful too. The right to protest injustice must be maintained, but to indict a whole region for injustice, day in and day out, is to challenge retaliation. Every sensible observer sees that the Communists' campaign to raise a black rebellion in the South is a perfect formula for putting the clock back to carpetbagging days. Fewer realize that harping on "incidents," like the trial of the Scottsboro boys, has a similar, if less violent, effect. One of the stupidest things to do is to send agitators from the North down to protest an incident in the South.

There are more than 100 national organizations working on race relations today, not counting federal agencies. Most of them lack any means of measuring the effects of their propaganda. They send out leaflets and broadcasts and hope for the best. "The dearth of appropriate research and consequent lack of a proven base for action is one of the most conspicuous features of existing intergroup programs," says Robin M. Williams, Jr.

How much good will and how much good money is wasted on projects that ignore the known laws of human relations? How much of it boomerangs, to make a bad condition worse?

Race prejudice involves a prejudgment of individuals on the basis of a stereotype—"a Jap is a Jap," "a Nigger is a Nigger," —Mr. Z's trouble at Poston. It involves also a set of evaluations. A prejudiced individual brings to the issue certain beliefs about traits in others, favorable or unfavorable. It is interesting to note that an unfavorable prejudgment does not always rate the victim as inferior In anti-Semitism the stereotype is sometimes the other way around—"the Jews are too smart."

Historic Decision

Negro children living in Negro districts are usually retarded in language compared to white children, but Negro children in mixed neighborhoods are practically equal. Segregation tends to slow down intellectual development.[7]

The United States Supreme Court made history—and gave Moscow propaganda a serious blow—when, in 1954, it ruled against separate public schools for white and Negro children. Most schools in the North have never had this separation—the schools and colleges I attended in Massachusetts almost always had Negroes in the classes—but the ratio of Negroes to whites is low compared with the South.

Now segregation is to be ended. After the Court spoke, certain border communities were first to end it, including Washington, D.C Some states in the Deep South have tried to postpone the day. So drastic a cultural change always carries the possibility of serious trouble, and provides a rich field for demagogues to exploit.

Social scientists promptly moved to meet the challenge. Forty-four scientists, headed by Alfred McClung Lee of Brooklyn College, set up a committee of consultants to assist local communities in making the change. Robin M. Williams, Jr., and Margaret W. Ryan edited a book, *Schools in Transition: Com-*

[7] See Gordon Allport, *The Nature of Prejudice.*

munity Experiences in Desegregation, which describes the experience of 24 communities in giving up segregated public schools. "Where desegregation has been tried," the editors report, "the typical outcome has been eventual acceptance." Only in Cairo, Illinois, was violence reported, and that without bloodshed. Nowhere did the opposition remain organized very long after the change had been made. Citizens got used to it, like the soldiers at Fort Dix.

The scientists observe, however, that it is an uneven, shifting transition, not a sudden, massive change. General rules can help, but "there is no substitute for careful local diagnosis"—a survey of local conditions and tensions before any action is taken. Prejudice among the children themselves in the 24 communities studied was found to be slight . . . "If the parents did not interfere the children got along all right."

A Note on South Africa

In the United States, after a long and disgraceful period, citizens with a different *melanin* content are being accepted as fellow human beings. Lynching is growing rapidly obsolete,[8] while signal advances can be noted in the armed services, Southern universities, in restaurants, theaters, public transportation, big league baseball, labor union membership, employment opportunities (F E.P.C.), and now in the public schools. Victory is far from won, but the curve is definitely up and has been mounting since the war.

In South Africa the curve is definitely down. In the United States whites outnumber the colored races, but in South Africa the reverse is true; Negroes, plus Indians, far outnumber the whites Fear and insecurity are much greater among the whites —a major reason for the downward curve. Both prejudice and discrimination are bred of this fear. Negroes are excluded from many occupations, or admitted only to serve their own race. Unequal pay for equal work is the rule, with a large differential in favor of the whites Negroes must live in designated areas,

[8] No lynchings recorded in 1952, 1953, 1954, 1956 or 1958.

usually reeking slums. They cannot own land, and have no freedom of movement; passes must be shown if they travel. In the cities they must observe a nine o'clock curfew. They cannot vote.

Yet, Edmund Brunner points out, the white population is increasingly dependent on the Negroes for its standard of living. Whites in factory and industrial work are declining, Negroes increasing, and the rate is even more rapid in agriculture. The black man's brawn becomes a makeshift in place of machinery, but at a high economic cost, despite his low wages.

Careful studies show no evidence of inferior mental ability. The few Negroes who reach the universities—about 5 percent of the total enrollment—do well and some win honors The nonwhite senior class of the McCord Zulu Hospital Nurses' Training School, in Durban, has for several years made the highest average score of any nursing school in the Union, on the final standardized examinations, set and graded by the government.

Bitterness among the majority is increasing, and this in turn breeds more fear and more repressive measures among the minority—a vicious circle if ever there was one! A heavy social cost is thus laid on top of the economic cost, and all the trend curves seem aiming for disaster Here, as elsewhere, the social scientist finds himself confirming Abraham Lincoln when he reportedly said: "You can't keep a man in the gutter without getting into it with him."

13

Laws of Social Change

For three days after the bombing of Hiroshima, newspaper men approached many physicists, chemists, and zoologists in the University of Chicago with the question: "What does it mean to society?" Only at the end of the third day did it occur to one of the reporters to ask a social scientist The moral does not need pointing. It is the chief reason why I am writing this book

The social scientist whom the reporter finally consulted was William F. Ogburn of the department of sociology. It would be difficult to find a man better qualified to deal with the effects of new inventions. He is the major interpreter of the broad concept known as Social Change For many years he has been running curves into the future, based on how people have behaved in the past, and has arrived at certain general conclusions about both the curves and the behavior.

Ogburn, together with Franz Boas and W. I Thomas, helped to establish, in the 1920's, an important landmark in the history of social science They extended the culture concept into sociology, psychology, and other disciplines. Many earlier scientists had tried to explain the evolution of society by analogy with Darwin's theory, in terms of heredity, natural selection, and variation. The hypothesis was that social institutions progressed only as men's brains progressed The modern white man in his white tie was contrasted with the savage in his nose ring. The *Queen Mary* was compared with a sailing barge, a parallel development.

This was all very pleasing, but there was a catch in it As the years went by and more was learned about genetics, it be-

came increasingly difficult to explain how the human cortex could have progressed so rapidly. The development of the *Queen Mary* took less than 100 generations—a span too short to allow much change in the brain or in the genes of ship designers.

How then *could* one account for the *Queen Mary*? Ogburn, pondering this question, measured the brain case in the skull of a Cro-Magnon man, who lived 12,000 years ago He found that it contained about as many cubic centimeters as that of modern man. More tests were made, and the conclusion was established that the brain case and facial characteristics of the Stone Age men of France—the artists who etched those dynamic buffaloes on the walls of caves—were no more primitive than those of the faculty of any university you care to name.

Was the mind of Cro-Magnon man as powerful an instrument as our own? Did it have the same 15 billion electrical connections in its switchboard? The evidence seemed to run in that direction. So scientists began searching for another hypothesis, and found it in the culture concept. Even if we hand down no more mental ability to our children today than our ancestors did 12,000 years ago, we do hand down the laws of thermodynamics, analytical geometry, and how to split the atom Our children today have an enormous cultural storehouse to work with.

The Law of Growth

When to this conclusion is added the demonstration that material culture grows like compound interest, things begin to fall neatly into place. The theory of the evolution of the brain can be discarded in favor of a theory which fits the facts more closely. Invention, exponential growth, and cultural development account for the *Queen Mary* quite satisfactorily.

In Ice Age days the material culture transmitted from generation to generation was limited in amount, and changed very slowly. Gradually new inventions in weapons, foods, clothing, equipment came into use and the rate of change increased. If the number of inventions from our Cro-Magnon ancestors to

the present could be plotted on a chart, the resulting curve would rise first slowly, then more and more steeply, approximating a compound interest curve.

What an exponential rate of growth means has been dramatized in the story of the farmer who brought his horse to be shod. The blacksmith said he would charge one cent for the first nail, two cents for the second nail, four cents for the third, and so on until the job was done. That seemed reasonable to the farmer, and he accepted the offer. But the farmer had not fooled around with exponential curves. For eight nails in each shoe, or 32 nails altogether, the bill came to just $42,949,672.95! (You may take your pencil and prove it—as I did when I first heard the story)

Ogburn has assembled a number of these curves, and they all point in the same general direction. He took Darmstaedter's ponderous record of inventions from 1450 to 1899, and plotted the number over four and a half centuries. He took the number of patents issued in the United States and Great Britain, he took various records of discoveries in physics and the other natural sciences. All show exponential rates of growth

Harvey C. Lehman, in a recent paper,[1] has carried on the analysis He plotted contributions to chemistry, genetics, geology, mathematics, medicine, pathology, entomology, and botany for the past three or four centuries, on a 25-year time scale. They all show the typical compound interest curve. In chemistry, for instance, 688 contributions out of a total of 1616 noted since 1500 A.D. occur in the *last* 25-year period studied—1875 to 1900 There is no diminution in any of these subjects after 1900. Even contributions to subjects like economics, political science, education, philosophy, music, show similar curves. Lehman concludes· "with each succeeding interval, man's creative output . . . has tended to double in amount." The increase has been in the order, per unit of time, not of 1, 2, 3, 4, but of 1, 2, 4, 8—and what a difference, as the farmer found out!

[1] "Exponential Increase of Man's Cultural Output," *Journal of Social Forces*, March, 1947.

The theory behind the graphs is that the larger the number of elements in material culture, the greater the number of possible inventions and improvements. Three elements can be combined in four different ways, but four elements can be combined in ten different ways. (Try it with playing cards.) Therefore, as the number of inventions increases, technological change becomes faster and faster. Man can thus proceed from a damp cave to the Waldorf-Astoria on the exponential law without needing any increase in his intelligence.

Let us reverse the proposition. If H. G. Wells's time machine were in good working order, and if it could carry 1,000 babies from the brightest of modern parents to be reared by Cro-Magnon mothers, it is very doubtful whether they would speed up progress. There was not enough in the storehouse for them to work on in 10,000 B.C. We catch a glimpse of the same idea when we realize that even if Leonardo had evolved the laws of an airplane in flight, he could never have flown it (except as a glider) because no engine had yet been invented to power it.

Cultural Lag

It is necessary to distinguish clearly between: (1) material inventions, (2) human behavior resulting from the inventions, and (3) cultural institutions and systems of belief.

Inventions are usually accepted into the culture in two stages. To begin with, people change their day-by-day behavior to accommodate the new device. If it is a useful device, like radio broadcasting, this may happen fairly soon, a matter of ten or fifteen years. Americans are particularly spry at moving over and making room for new material inventions. Then, considerably later on, people change their institutions and belief systems to allow for the invention, and arrange means for controlling its effects. The time between the first and second stages is known as the *cultural lag*.

The invention of the steam engine made inanimate energy practicable in workshops and factories to run machines. There was some opposition by hand workers, but not much. Because

the tempo of the machine, not the tempo of the man, now dominated the process, industrial accidents became more frequent. In the United States, it took about 75 years before workmen's compensation laws were inaugurated to offset the accidents. Such laws ran counter to a belief system of prefactory society, namely, that it was the workman's duty to look out for himself. And indeed when the worker had control of the process in his own home or shop, it *was* his duty. This particular cultural lag can be measured not only in years but also in the number of pauperized widows and maimed workers over the period.

The invention of the automobile was joyously accepted by nearly everyone but carriage makers. The cultural lag was relatively brief in America. Laws were passed almost immediately in an attempt to control its speed and direction The Amish community of Wayne County, Ohio, a kind of cultural pocket, still forbids its members to use automobiles as inventions of the Devil, encouraging the sin of pride.

Andrew Yoder, a member of the community, was, however, confronted with a practical problem. He had to drive his baby daughter twice a week for treatment to a doctor who lived 15 miles away. Finally Andrew could no longer stand the trip in a horse-drawn buggy. He bought a car and learned to drive it—only to be ostracized by the community. He was still allowed to work but was deprived of social intercourse. His own brother would not eat with him. When out threshing he had to take his meals alone. "It was like feeding a dog out of a dishpan," he told a reporter from *Time*. No Amish cobbler would repair his shoes. The cultural lag governing automobiles held firm in Wayne County, if not in the rest of the United States.

By and large, the motor car has brought at least as much fundamental change in the life of the American people as the horse did in the life of the Plains Indians. In such institutions as traffic courts and parking facilities we are still trying to catch up, without much success.

Some of the most perplexing problems of the present time—mass unemployment, inadequate housing, economic insecurity—

are really problems in cultural lag We have the economic tools available to cope with them, but community feelings will not permit it. Congress votes against it, often with a lofty sense of moral righteousness. Belief systems have not caught up with the facts. One of the most cruel illustrations of this is the full generation which elapsed between the introduction of the child labor law and its final passage. Robert Lynd in *Knowledge for What?* lists other lags, as of 1940:

> The ragged disparities in marriage and divorce laws among the several States.
>
> The taboo against discussing venereal disease (now lifting).
>
> The opposition of the American Medical Association to government aid in medicine
>
> The resistance of almost 90 percent of the press to the social legislation of the 1930's

Are We Going to Hit Something?

Another curious paradox arising from the cultural lag is the ample financial support given by society to encourage more material inventions, and the meager support for social inventions to mitigate their effects.

It is a fearful thing to be aboard an exponential curve—something like an express train out of control. Ultimately, such curves run off the map. A penny at compound interest grows in a few centuries to a ball of gold the size of the planet. Nature often permits such curves to start, as in the multiplication of fruit flies, but she never maintains them for long. They always hit something and shrink with great suddenness.

Are we going to hit something? Ogburn is too careful a scientist to say. He does point out, however, that when an invention like the atomic bomb comes along, social scientists should be urged to do their utmost to find a social invention to cope with it. He does not believe it is possible deliberately to halt the rate of material invention. Can you imagine Congress passing a law to "halt progress"? The answer to the tensions caused by growth

curves seems to lie in encouraging steeper curves in social invention.

A social change, when measured statistically, is called a time series, and is described by zigzag lines which move over time, with a sweep or trend in one general direction. An appropriate equation, fitted by the method of least squares, runs through the middle of the zigzags and indicates the trend. We do not know why these trends rarely change their direction, although they are undoubtedly connected with culture patterns and probably with methods of education. Whatever the explanation, social trend lines in hundreds of cases show remarkable inertia. There is a lesson here for social engineers. If a trend cannot be changed radically, it is better to accept it and adjust your program to it. If you are determined to change it, prepare to see the shift take place slowly. Or else analyze the connection between the educational system and cultural change. So far, to my knowledge, no one has adequately realized this problem. Perhaps John Dewey came closest.

The exponential law casts a heavy shadow on the Great Man theory of progress This theory holds in essence that without the giants of the past we would still be living in Mesopotamian mud huts. The exponential law, on the contrary, indicates that what determines new invention is not a giant intellect so much as the number of elements in the culture. Thus when physics reached a certain point of development in the seventeenth century, and a dynamic mathematics was needed to carry on, both Leibnitz and Newton invented the calculus. If neither had lived, calculus would have been invented by somebody else. History is filled with simultaneous inventions of this kind. We can expect more and more of them as knowledge accumulates.

If Columbus had died of plague before he discovered America, some other explorer would soon have found it. Why? Because the techniques of ship-building and navigation had reached a point where a man could sail into the unknown with a fair chance of getting back.

The Invention of Radio

Over the years Ogburn, together with other scientists, has developed many variations on the theme of Social Change. He has shown how the interrelated parts of modern culture are changing at unequal rates with consequent strains. He has traced the succeeding waves of new behavior which follow important inventions like the automobile and the radio. He has pushed trend curves boldly into the future to find out what the probable effects of a new invention are likely to be.

Take, for instance, his work on radio. In *Recent Social Trends* he lists 150 effects, of which 12 are in the direction of cultural diffusion, tending to "standardize" listeners. Some may deplore this tendency; others realize that a more homogeneous people may have less internal strife. Here are some effects of radio listed by Ogburn.

Regional differences becoming less pronounced.

Penetration of city musical and artistic culture into rural areas.

Distinction between social classes lessened.

Isolated regions brought into contact with world events.

Illiterates brought back into community life.

Concentration on fewer languages.

Canada, the United States, and Latin America drawn more closely together.

One item on the list reads: "Interest in sports increased by radio." True enough; who can forget those first championship boxing matches over the air! Not content with this single statement, Ogburn goes on to outline 15 derivative effects of radio in the area of sports, a kind of secondary wave. Among them

Big matches emphasized to the neglect of local matches.

Reputation of star athletes further inflated.

Reputation of star football coaches also inflated, plus an increase in their salaries.

Recruiting of players in rural areas greatly increased.

Colleges with high scholastic standards put at a disadvantage.

Reduction in special sports editions of newspapers.

Sixty-one effects following the invention of x-rays have been chronicled by Ogburn; 23 following rayon; 150 following the automobile—including a change in the whole pattern of courtship in America. The young man with the convertible has displaced the young man with the bouquet.

This is all very interesting and possibly all very scientific, you say, but what can one *do* with such studies? Ogburn offers us a monumental answer to that question, too. The United Air Lines retained him to predict the probable effects of the invention of the airplane over the next ten to twenty years, and his report runs to more than 700 pages. We are reminded early that there are some 50 variables to be considered in plotting the extrapolation. No one can know exactly what the place of civil aviation will be in 1970 or 1980, but an estimate based on trend curves looks like a safer probability than one based on a blind guess or on wishful thinking. Managers of airports, airplane companies, commercial airlines, federal, state, and city officials, real estate interests, all must now plan for the future on *some* basis. Meanwhile, the investments involved, both public and private, are enormous.

"Elementary, My Dear Watson"

Sherlock Holmes, philosophizing on Boyle's Law of Gases, said to his friend Watson: "While the individual man is an insoluble puzzle, in the aggregate he becomes a mathematical certainty. You can never foretell what any one man will do, but you can say with precision what an average number will be up to. Individuals vary but percentages remain constant." Social scientists, using this statistical approach, can give community leaders invaluable advice about future problems.

The life expectancy of American males (or females) can be predicted with great accuracy, although it is impossible to foretell when $Adam_1$ or Eve_2 will die. Using probability theory, furthermore, margins of error can be calculated, indicating how far off a prediction may be—say plus or minus 4 percent. The Royal Society, we remember, started actuarial science three centuries ago The United States Census is not a vast mass of

undigested figures as many people seem to think, but a helpful guide to programs for housing, schools, public services

In 1955 there were about 15 million persons in the New York metropolitan area. The Regional Plan Association, using census figures, predicted upwards of 19 million by 1975—an increase of 28 percent This in turn called for a new survey "very much more imaginative than has been displayed in the past to plan for this massive addition," and providing more transportation facilities, recreation centers, sewers, shopping centers, schools, and parking lots

Schools and Houses

Suppose we concentrate for a moment on schools—not desegregation this time, but classrooms, teachers, and textbooks. The National Citizens' Committee for the Public Schools, headed by Beardsley Ruml,[2] predicted 12 million more children of school age in the population by 1965 than there were in 1954. This would bring the total school population to 48 million youngsters, a 33 percent increase, at a cost of $3.5 billion more in 1965. For the whole nation to match the educational plant of New York State (tops for the country, though still inadequate), would cost $17.1 billion more in 1965. No fewer than 950,000 new classrooms would be needed by 1965, at a capital cost of $32 billion.

The building boom in houses which began after World War II is still booming. Are we building too many houses? For the whole United States, says Edmund Brunner,[3] that is not a difficult question to answer, and here is the way to go about it.

We know how many persons there are in the United States in each age group Therefore we know how many are under twenty-one, and the probable number—based on past performance—who will leave school, enter the labor force, and marry, year by year. We know how many families will be formed, and how many "dwelling units" they will require. We know how

[2] Report summarized in *Time*, December 13, 1954.
[3] Memorandum to the author.

many units burn up, or are torn down, every year, and how many new ones are now being built. Putting these figures together, it does not take an electronic brain to calculate how many units will be needed in the years ahead, and whether we are overbuilding or underbuilding.

On similar principles, scientists can calculate the probable size of the labor force ten years hence, the food requirements of future populations, the need for doctors, nurses, and engineers, the number of old people and their percentage of total population—the last a growing figure and full of thorny problems. Brunner estimates that population increases should solve the "farm problem" in the United States in another ten to twelve years, as agricultural surpluses are progressively consumed by urban eaters.

When social scientists in the mid-1930's looked at the 1930 census figures, says Brunner, they found that the United States had reached an all-time high in youth population, sixteen to twenty-four years of age So they promptly urged a big housing program, especially as construction had meanwhile slowed down during the depression. They predicted that if this were *not* done, families would be doubling up by the 1940's, with a heavy strain on human relations. The program was not undertaken. American families were crowded as never before, often ready to tear each other apart—exactly as predicted.

Famous Curve

Another statistical law which vitally affects human behavior is the frequency distribution curve. Biologists use it too, for it applies to all living things, as well as to many human characteristics and problems.

Take the height of men in the army. Line them up—the figures, not the men—the tallest at one end, the shortest at the other. The probability of a soldier being near the middle is great, of his being at either end is small. If we now plot the number of soldiers at the various points on the scale we will get the familiar bell-shaped curve.

The curve is a great help in making predictions about schools, desks, hospitals, markets, army uniforms and boots to be ordered, all manner of things. It is useful in plotting IQ's, and is even employed in marking examination papers.
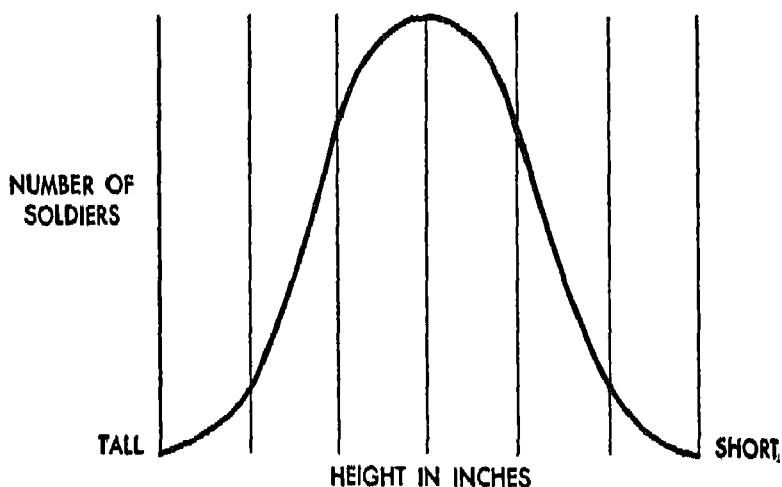
It is also, I may add, the greatest destroyer known to man of the bad habit of overgeneralizing. With the frequency distribution curve in one's tool kit, no one can continue to say that all Mexicans are lazy, that all Swedes are blond, that all Russians are untrustworthy, or that all United States senators rival Socrates. Some do and some don't, as the anthropologists observe. Plot them on the curve

As modern living grows more complicated large plans for the future become more mandatory. Social scientists, like Ogburn and Brunner, with curves based on vital statistics and other dependable data, render an indispensable service. "Planning," somebody has said, "is intelligent coöperation with the inevitable."

14

In Darkest Middletown

In my library I have a "Middletown" shelf of a score of volumes, which I enjoy collecting as others collect ship models. The collection started in 1929 when I reviewed Robert and Helen Lynd's *Middletown* and found it new and exciting territory. Later, in a book about Mexico, I compared Middletown with Robert Redfield's study of Tepoztlan, an Aztec town on the Mexican plateau. This cross-cultural survey of mine, strictly an amateur performance, served to bring out some of the striking differences between handicraft societies and those of the machine age.

Clark Wissler said, in his introduction to the original *Middletown*: "We are always hearing that the study of society must be made objective. . . The realities of social science are what people do." Here then, for the first time, is a study of the things people do in a normal American small city, observed as social scientists would observe a town in darkest Africa. There had been plenty of earlier urban surveys in the United States and Britain, but they were primarily concerned with coal miners, or working girls, or with wages, housing, the cost of living.[1] The Lynds tried to comprehend the whole community. "A new field of science has been opened up," said Dr. Wissler, "the social anthropology of contemporary life."

There were 38,000 people in Middletown—which everybody now knows is Muncie, Indiana—when the Lynds arrived with their small staff in 1924 The great boom of the 1920's was fairly

[1] Famous pre-Middletown studies were *Life and Labor of the People in London*, by the Booths, and the *Pittsburgh Survey* of the Russell Sage Foundation. Rural sociologists had also made studies of American small communities, beginning with Warren H. Wilson's *Quaker Hill*.

launched, buoyed up by the soaring automotive industries Middletown had been chosen among many candidates because it was as American as a baked apple. Manufacturing was diversified, with the glass jar business prominent. Farmers came in from the rich surrounding corn lands to Saturday market at the county seat.

There were 42 churches in town and 6,300 automobiles. Said a factory worker from the South Side: "I'd go without a meal before I'd cut down on using the car." Said a police court judge after a difficult day: "The automobile has become a house of prostitution on wheels."

The Lynds stayed for nearly two years, studying the town in action under six main headings (1) getting a living, (2) making a home, (3) training the young, (4) using leisure, (5) going to church, (6) joining up. Before they got through, 454 active clubs and associations had been identified, including, along with the Chamber of Commerce, the Lions, and the Elks, an Ad Club, a Kill Kare Klub, and the Sew We Do Club for well-to-do matrons.

The Lynds gathered material by first-hand interviews, by questionnaire, by analyzing newspapers, by direct counting. They also obtained all relevant United States census figures covering the town, together with state and city statistics. When we finish reading the section on getting a living we know as never before the economy of the 1920's. We realize in an intimate, graphic way how the boys and girls that we see playing in the school yards of Middletown are later to be indiscriminately tumbled into the 400 occupations which the city affords. We see the shops, offices, factories in which they are to work; the machines they are to operate, the houses, bungalows, and shacks in which they are to live and raise their families; the stores in which they will buy their goods, the advertisements which will so often predetermine their wants, the editorials, sermons, service club speeches which will nourish their belief systems; the income groups into which they are bound to fall with the precision of a life expectancy table.

In the Nineties

The Middletown survey, furthermore, compares the 1920's with the 1890's. Wissler calls it "a new kind of history." The authors try to reconstruct the community as it looked a generation earlier. "A small river wanders through the town, and in 1890 when timber still stood on its banks, it was a pleasant stream for picnics, fishing, and boating, but it has shrunk today to a creek discolored by industrial chemicals and malodorous with the city's sewage."

Workingmen in 1924 still attend lyceums and listen to some of the old lecture topics—"Milton as an Educator"—but businessmen have given up this type of "culture" altogether. The singing societies of the nineties have disappeared, save for one working class exception. The Apollo Club, once favored by the bloods of the town, has long since collapsed. Where are 300 schoolboys to sing Gounod in the Opera House? The Art Students' League was organized in 1892, and members went sketching along the clear waters of White River. The Art Club of 1925 listens to lectures on the Gothic Period and never handles a brush or tube of paint. Music, like poetry and the other arts, is almost nonexistent among the men of Middletown in the era of Calvin Coolidge. In the light of Linton's universals this shows how abnormal Main Street has become.

Everyone rides in a car, goes to the movies; more and more people are turning on the radio. One salty old character came back to Middletown for a brief visit in 1924. "These people," he complained, "are afraid of something." The Lynds point out that amid an ideology celebrating the ruggedest kind of rugged individualism, nobody along Main Street dared to be different. Again and again the word "bewilderment" creeps into the text. Citizens are bewildered about their jobs, about money, about the new "gob feeder" in the glass factory, which can make glass bottles a hundred times faster than a hand blower, they are bewildered about marriage, religion, the growing role of government, about their children, about their very souls.

The old traditions survive—many survive today for that matter—but even in the twenties there is little blood in them. A pecuniary economy and mass production call insistently for new systems of belief, but these have not yet crystallized. The lag grows longer. Back of the Buicks and the backslapping, one feels in the Lynds' account the confusion of a generation which has lost its way.

Down, Down, Down

The Lynds went to Middletown to check their findings in 1935, after ten years had gone by—four more years of boom, then six of depression. They wrote another report on it, called *Middletown in Transition.* At a time when employment is near capacity, it is almost incredible to recall how far the nation dropped in the great depression. By 1933, Middletown's storekeepers had lost 57 percent of their business compared with 1929—yet there were 6 percent more stores struggling to survive. Building construction fell to 5 percent of 1929 while factory payrolls were cut in half. Motor car sales dropped 78 percent, but gasoline sales only four percent; the cars were old, but people kept on driving them. Loan sharks did a thriving business. When General Motors tore the machinery out of their big plant and left town, it looked as though the end had come. A full quarter of Middletown was on relief.

Yet for two years following the stock market crash, the leaders of the town refused to admit that their symbols of progress—self-help, bigger motor cars, bigger bank accounts and land values—could ever be tarnished. Not until General Motors shut its plant did they face reality, and then only for a brief interval. In 1934 the first federal farm relief checks, like gentle rain on parched ground, began to irrigate the Saturday market, as farmers drove in to cash them. Soon Middletown's leaders recovered their standard credos . . . "When Mr. Landon is elected president—as the *Literary Digest* poll shows he is sure to be—everything will be safe and sound again."

Across the tracks[2] on the South Side, however, the workers had pretty well abandoned their predepression ideas, and were organizing unions as never before. The great sit-down strike era is close at hand, and we must remember that for every three townsmen on Main Street, there are seven workers across the tracks.

The Middletown Credo

In a chapter entitled "The Middletown Spirit," the Lynds preserve for the curious historian the credo of Midwest America in 1928. No fewer than 172 beliefs are categorically set down. As I scan the list today, I should estimate that about 100 of these beliefs have been rendered obsolete in whole or in part by the march of events. Some, of course, were specimens of cultural lag even when most fiercely held. Here is a sample lot:

That economic conditions are the result of natural order and cannot be changed by man-made laws.

That we always had depressions and always will.

That men won't work unless they have to.

That any man willing to work can get a job

That business makes all our employment.

That the open shop is the American way, and labor unions are foolish, if not wicked.

That all strikes are due to troublemakers.

That the individual must fend for himself and in the end gets what he deserves.

That the small businessman is the backbone of America.

That women cannot be expected to understand public problems.

That the American form of government is the final and ideal form.

That government is bad and politicians are the lowest form of life.

[2] "Across the tracks" is an important symbol in the American culture, dividing those who have arrived from those who have not.

That high tariffs mean protection to the American wage earner against the pauper labor of Europe.

That taxes are always evil.

That Christianity is the final form of religion.

That preachers are rather impractical people who wouldn't be likely to make good in business.

That you can't change human nature.

What happened in Middletown from 1929 to 1939 defied almost every canon of this credo. Main Street deplored federal aids for community survival and ridiculed them in a vast folk literature of stories about "boondoggling."[8] At the same time it clawed like a drowning man for more federal relief. Its belief systems were thus in direct opposition to its tangible behavior—creating a kind of community schizophrenia.

So Middletown learned nothing from a world war, a crazy stock market boom, and a depression which made beggars of a quarter of its people? No, it is not so simple as that. Middletown, like every community, must have a suit of symbolic clothes. If no new styles are on the market the old will have to do. Middletown—at least the North Side—still wears the ancient garments, but the simple faith has gone Below the surface, Middletown is in profound ideological turmoil and transition.

PLAINVILLE, USA

Running along my book shelf, we pick out *Plainville, USA,* by James West. The author, an anthropologist, knew exactly the kind of town he wanted to study. After a long search he found a rural community of under 1,000 people in the Midwest which fitted his specifications. He made the analysis alone, between June, 1939, and August, 1941, as part of a larger study on acculturation, financed by Columbia and directed by Ralph Linton.

Plainville is a far less complicated community than Middletown. There are no factories, and marginal farming is the principal way to make a living. Yet the same contradiction is to be found out here on the prairies as along the Wabash. *People do*

[8] Foolish and wasteful make-work programs.

not believe in what they are in fact doing. During the great depression Plainville shifted from an individualistic to a welfare economy—it had to or starve—but almost nobody approves of it. Charity and relief in 1940 have become functions of the federal government, except for a little private charity still carried on by one church. All the federal agencies are utilized to the fullest extent, yet they are denounced constantly for "ruining this country," "making people unwilling to work," "meddling with other people's business. . . ."

A whole new form of rural social organization has been instituted under the government's agricultural program—subsidized prices for crops, soil conservation work, farm credit, rural electrification, government-promoted cooperatives, and the rest. The older system of farm operation, social aims, and personal security is disintegrating, but reaction to the new pattern is turbulent. Nowhere have I seen the agricultural revolution which has struck America since 1933 more vividly described.

Mr. West's working methods are interesting. He made the rounds of "several notable loafing centers," collected gossip and news at every opportunity, attended church bazaars, basket dinners, funerals, baseball games, pie suppers, public auctions. He taught in the high school as a substitute when a teacher was sick, and joined a number of clubs and organizations. Afternoon and evening were often spent in interviews. These interviews varied from a total of two hours to several hundred hours per person. He took life histories of eight adults, ranging from 30,000 to 75,000 words each He hired high school students to record their "autobiographies," some running to 50,000 words, under the general style of "I Remember."

He ransacked the county courthouse records, and those of the AAA, FSA, and other federal agencies; he combed files of the weekly newspaper back to 1885. He read genealogies and the *History of Woodland County*. He sums up this material with the surprising statement· "Even in an isolated community like Plainville, there exists so vast a body of relevant printed and other documentary material, that no one could read it all

in a lifetime." Mr. West's freestyle interviewing contrasts with the structured interviews of rural sociologists, where in some cases every respondent is asked the same series of questions.

Deep South

Beside *Plainville* on the shelf is *Deep South*. Four social scientists, trained at Harvard, lived for a year and a half in the 1920's in a southern city of 10,000, studying its culture. More than 5,000 pages of typewritten notes form the basis for the book, together with statistical records of the town and the surrounding countryside. The investigators were two married couples, one couple white, one Negro, who thus had unparalleled opportunity to check events from both sides of the color line.

Deep South, by Davis and Gardner, describes the plantation system, both before and after the Civil War. We are shown the romantic memories which are preserved in the belief systems of the upper class, and also the tangible facts of history and sociology.

> Ruth and Josephine took up the fight and went back generations telling each other things about their families, digging up things that nobody wants to hear about. That is the way people do here. If they once get mad with you, they don't just be mad with you—they go back as far as they can—telling stories on each other's ancestors.

The greatest insult possible in "Old City" is to defame one's "original ancestor," the cotton planter who founded the family. No attention is paid to *his* forbears—they can be burglars or pirates—it does not matter. The whole belief system of the upper class comes to rest about the year 1840. Nothing since then amounts to much. Naturally this emphasis affects all the town's behavior—10,000 people walking slowly backward. "A very old woman may be said to be a symbol of the upper class group. . . . The ritual and deference surrounding her attendance at a group gathering—generally limited by her great age to afternoon tea—is suggestive of royalty" She is the cherished link with the past, the closest living symbol of "the old days."

In the old days the planter aristocracy was recognized as

superior to all white freemen, who in turn were superior to all black slaves. This pattern was destroyed in the Civil War, but after some floundering in the dark days of reconstruction, "a new social system in Old City and its countryside began to evolve. It, too, organized the relation of Negroes and whites among themselves and with each other." It divided the occupations carefully, too—Negroes getting the more unpleasant tasks.

Class and Caste

A curious and interesting change gradually took place. Nobody should write seriously about race relations in America without mastering this change, for it extends throughout the deep South The investigators call it the emergence of a *class and caste system* [4] Educated Negroes, such as doctors and professional people, "recognize themselves and *are recognized* as being different from the laborers and domestics who now work for both whites and Negroes." The following diagram helps to visualize the system·
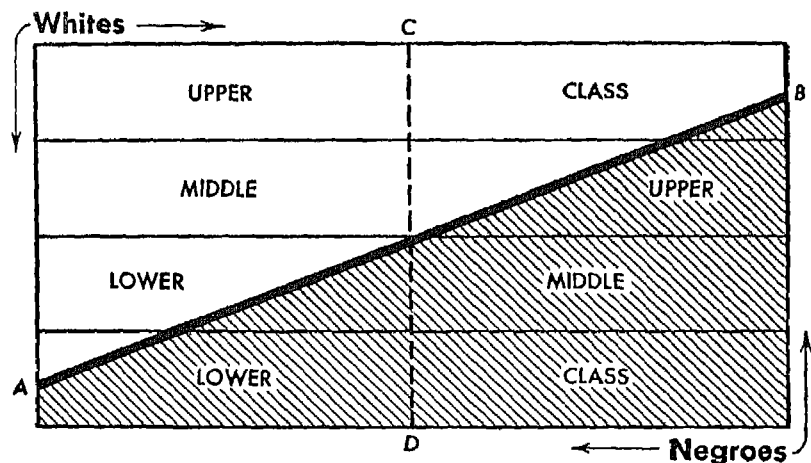
The line AB is the caste line, dividing Negroes from whites No Negro may ever marry a white person Other rules may be broken, this one never. A caste system by definition forbids

[4] We referred to it earlier in Chapter 12 when discussing race.

intermarriage across a caste line, and considers any offspring of mixed unions illegitimate.

But on the Negro side of the line, as well as on the white, classes form—upper, middle, and lower. The white middle class has standards similar to the Negro upper class; the white lower to the Negro middle class. People can marry across *class* lines, and can move up and down across the lines. It is not easy or frequent, but it does happen. This mobility is what distinguishes a class from a caste system. In the latter one is frozen, in the former he can move.

Before the Civil War the line AB was not skewed but *horizontal;* there were no Negro professional people, no Negro upper class Slaves were in the subcellar, considered a different species altogether. Will the line AB continue to revolve until it approximates CD? Then the races would be truly equal, though still separate.

Other Middletowns

There are many more books on the shelf. Here is *Preface to Peasantry*, a study of two Black Belt counties by Arthur F Raper, particularly interesting for its description of how the New Deal came to darkest Georgia To jump 5,000 miles north, here is *Arctic Village* by the late Robert Marshall. By profession a forester, Mr. Marshall determined IQ's and other data about every person in a small Alaskan town, including the Eskimos He lived there all winter, writing notes in his shack at night.

Here is *Small Town Stuff* by Albert Blumenthal, a keen analysis of a mining town in Montana; *Small Town* by Granville Hicks, the most readable of the lot but the most personal. Here is *Wilton: A Study of Suburbanization* (from where I am writing I can almost throw a stone into Wilton), *Elmtown's Youth*, and a dozen more.

Documentary

Let us take down *Home Town: The Face of America* by Sherwood Anderson, and look over the photographs. This is a

special kind of scientific record, one which may have a considerable future. Instead of a man with a notebook, we have a man with a camera. Anderson's prose is, as usual, admirable, but the pictures tell us even more.

To get these pictures, Roy Stryker of the Farm Security Administration dispatched expert photographers all over America with instructions to record what people were doing—no posing, no retouching, no tricks; the straight documentary story. More than 35,000 negatives were collected. *Home Town*, accordingly, is not an account of a specific community, but a generalized picture of small-town life in the 1930's—Main Street, the Methodist Church, Town Meeting, Back of the Tracks, the Civil War Monument, the Church Supper, the Drug Store, One Room School, Front Porch, Saloon, Movie House, Shacktown, Poker Game, Filling Station, Service Club Lunch, Revival Meeting, Town Constable. . . .

We have in this Stryker collection a kind of visual sampling report—telling more, in one way, than any table of figures. . . . Cornfields in Iowa to make a farmer's mouth water, dust and drought in Colorado to dry anybody's throat, pictures of sunny rural peace, terrible pictures of rural poverty. The weathered faces of men, the faces of women sagging with household drudgery, the pinched faces of children, the cow barn, the farmer's tools, the sharecropper's rags—"they are all here, photographed in their context, in relation to their environment. In rows of filing cabinets they wait for today's town planner and tomorrow's historian."

Yankee City

So we come to the published volumes of the Yankee City series—the most ambitious Middletown to date. It is the costliest, most searching and technical of them all. Thirty scientists worked on it over a five-year period from 1930 to 1934—though they were not all working at once.

W. Lloyd Warner, back from a three-year study of Stone Age peoples in Australia, was appointed director With him were associated scientists from Harvard, Chicago, and Yale, and

Paul S. Lunt was his first lieutenant. The Crane Memorial Fund underwrote the project.

Two regions in America had been selected as having the most stable local cultures—New England and the South. A city was chosen in each region for intensive analysis Of the southern project we have already caught a glimpse in *Deep South*. The northern one was far more ambitious. The city chosen was Newburyport, Massachusetts, once a great clipper-ship port at the mouth of the Merrimack river. Now its seafaring activities have declined to a little clamming along the mud flats, but factories making shoes, silverware, and other products keep the people employed in normal times. The old China trade families on Hill Street, each in its stately colonial mansion crowned by a captain's walk, rival the plantation families of Old City in pride of ancestors. The whole town, on the rising ground above the river, displays an architecture more gracious than America has built for a hundred years.

When the social scientists moved in, there were 17,000 men, women, and children in Yankee City. When they moved out, they carried punch cards for every citizen, with notations showing age, sex, class, status, occupation, clubs, religion, political affiliation, housing, health, income, expenditures, property owned, education, magazines read—and Heaven knows what. By running the cards through a machine, they could classify everyone in town in every conceivable manner. No community of this size ever had such a going over.

The research staff was particularly interested in the class structure of Yankee City. Who outranked whom—in the family system, in the factory, in ethnic groups like the Irish, Jews, Poles, French Canadians, Negroes? It was concerned with housing, property rights, sources of income, clubs and cliques, churches, schools, and the political framework of the town. . . It is all there, in immense detail.

In the middle sections of Volume I we find a novel experiment in social science. Here are a dozen very human short stories,

drawn from the punch cards and the notebooks, but with fictitious names. One of them begins like this.

> Mr. Charles Watson, the superintendent of the cemetery, squatted on his haunches while he supervised the pick-and-shovel activities of two workmen. It was hot. . . . A shoveler stopped his work and lit a cigaret. "Why the hell can't Phil Starr leave his old man and old lady rest in peace? Why they've been down in this grave thirty years. And now, by God, he's digging them up and running all over town with them I say once they're buried, let them stay buried."

And another:

> Going home after he had said goodnight, Sam Jones crawled in bed beside his wife, and the springs sank in the middle. Three small children were asleep on a mattress in the corner of the room. Two adolescent daughters slept on cots next to the wood stove in the kitchen. . . It had suddenly turned bitter cold The kitchen table was still littered with the remains of the evening meal.

These stories have an effect like the photographs in *Small Town;* they tell about people in a vivid human way and put flesh and blood on the cold statistical tables and the charts.

The Six Classes

The research staff had not been long in town before a cherished hypothesis was upset. They began their labors believing that the fundamental structure of American society was *economic*—rich on top, poor on the bottom—and that the richer you were the more prestige you had. But evidence began to accumulate which made it difficult to accept this simple thesis. Six classes were finally identified by the people of the town themselves. "She's one of those Hill Street snobs. . . ." "He runs around with the Riverbrook gang. . ." There were borderline cases, of course, but after thousands of interviews, nearly everyone in town was placed in one of six classes as follows

1. Upper upper	3. Upper middle	5. Upper lower
2. Lower upper	4. Lower middle	6. Lower lower

It was found that the rich were not necessarily on top, nor the poor necessarily on the bottom. The richest class was the lower upper, while some of the old families in the upper upper class were poor as church mice. Also it was interesting to note that many of the clammers in the lower lower class, who lived in shacks along the river, were descended from the same Anglo-Saxon forebears as the great folk on Hill Street. When fate beckoned they had preferred clammin' to smuggling.

This, observe, was a class system, not a caste system. Observe, too, that it bore little relation to the Marxist "class struggle" People moved up and down from class to class, but mostly up; and occasionally they married across class lines. The upper uppers were without exception old Yankee stock, but the Irish were breaking into the lower upper, Jews and Italians into the upper middle. It is an exhilarating sight to see steerage immigrants from the old country land first in the lower lower, and then ascend as in a slow elevator, class by class, while a misfit from Hill Street flashes by them on his way to the bottom.[6]

New York City has long exemplified a similar process. The latest wave of immigrants—beginning with the Irish after the starvation time of 1848, and continuing with Germans, Jews, Italians, Greeks, Slavs, and so on—starts on the bottom, with the worst housing, the least attention by all city services except the police, the minimum of prestige All earlier waves of immigrants, including the original Dutch and the English, look down on them as the dregs of humanity. Gradually they ascend, sometimes to the highest levels—making a shambles incidentally of the New York *Social Register*—as new waves come in under them.

The books on my Middletown shelf may not always represent social science₁ as defined earlier, but the research staffs use many of the latest scientific methods, and their techniques continually improve. A survey of intergroup relations begun in

[6] American class structures are further analyzed in Warner's *Democracy in Jonesville.*

Elmira, New York, may turn out to be the most rigorously scientific of all.[6]

Meanwhile the information gathered and the conclusions drawn can be helpful to everyone interested in improving his town's performance—mayors, judges, chiefs of police, city planners, social workers, school boards, traffic engineers, housing authorities. The scientists take the town apart, but carefully and with due respect, allowing the rest of us to see for the first time its intricate, closely woven structure, and what makes it run.

John P. Marquand used some of the "Yankee City" material in writing what many believe to be his best novel, *Point of No Return.* Is it too much to expect that social science research will give novelists and playwrights both a rich mine of new material, and a closer check on the credibility of plots and characters? Instead of another course in How to Write, the aspiring novelist might take one in anthropology

[6] Conducted by Cornell Studies on Intergroup Relations, under an eight-year grant from Rockefeller Foundation.

15

Managing Men

The massive changes in human relations that have come over many large American firms in the last generation were highlighted for me in a recent conversation. I was talking to the vice president of a huge corporation, and he told me about the three presidents he had served under since he joined the company, fresh out of college, in 1909.

"My first boss," he said, "was a complete autocrat. He made all the big decisions, and would have fired any of us who raised a question. He knew all the answers, and we did what we were told, yes sir, right down the line of management. Like the Army." The second president was an autocrat too, but he didn't believe in himself with the sublime conviction of number one. On big decisions he would ask for advice occasionally, and didn't claim to know all the answers. Once in a while you could talk to him as a human being.

"The president we have now," he went on, "has the ultimate power, of course, but none of us thinks of him as an autocrat. He goes in for open communication, group decisions, decentralization of authority, even opinion polls of workers. He has more experts on human relations around the shop than you can shake a stick at Once it was only lawyers. Then came the engineers and accountants Now the place is crawling with industrial psychologists "

"Is this shift typical of other businesses too?" I asked him.

"Yes," he said, "some executives go gladly, some grumble, but we're all headed in that direction."

"And how about these industrial psychologists? Do they know all the answers?"

"Well, most of them never met a factory payroll, but they have something management wants. They can put you wise to angles you never thought of before It's probably being overdone, and there are some quacks—take that Dr Y with his Freudian motivations, but we'll never go back to the czardom of my first president. For one thing, the company has almost three times as many employees as it had in 1909. When an organization gets as big as that, you've got to use some science if you're going to manage it at all"

The Factory as a Social System

Businessmen abroad are puzzled by these changes. In Europe, the chief concern of management is to manage money, materials, machines—and if possible markets. In the United States it is increasingly the management of men, and so becomes ever more deeply involved with the behavior sciences Worker and boss in Europe are still heavily influenced by the class struggle concept—what one side gains the other side loses Over here, a more flexible class system, plus the mass production idea of expanding markets—with gains for both worker and stockholder, and even consumer—have provided scanty nourishment for the Marxian philosophy.

Indeed some executives have gone beyond the managing of men to the managing of a social system. F. S. Roethlisberger of the Harvard Business School puts it this way:

> I should like to suggest that the manager is neither managing men nor managing work, but that he is managing a coordinated set of activities, he is administering a *social system*. That is the human relations approach as contrasted with any approach which implies that people at work can be considered separately from their work.

This puts the culture concept into industrial relations. When a factory is thought of as a social system—a functioning community like Middletown or Plainville—the behavior of workers

and managers makes sense. When it is regarded as an exhibit in the class struggle, or in paternalism, or as a kind of zoo stocked with Economic Men, the sense goes out of it, and about all the investigator can do is to cuss human nature and argue whether the boss or the worker is the more to blame.

Somebody has said that you can lead good men through the fires of hell, but that you can't drive them across the sidewalk. The autocratic manager got the work out, but at a cost. He thought most people "dumb," distrusted "human nature," and believed firmly in Economic Man, i.e., that the pocketbook motive was supreme. Business existed solely to make a profit for its owners, and notions of public service were tosh. He had no conception of democratic leadership, of staff decisions, or workers' participation. Unions were anathema, and he never tired of declaring that "what we need around here is more discipline." One often found a picture of Napoleon on his office wall. Beatrice Webb, investigating labor records in Britain many years ago, kept finding the statement: "Water plentiful and labor docile"—which suited Mr. Big right down to the ground.

Napoleons are not extinct in America, especially in little business, but the problems of our giant corporations, now operating in harness with giant labor unions, have grown altogether too much for them. Mr. Sewell Avery may have been the last of the Great Tycoons.

Needed: More Science

The American Management Association, composed of executives in many industries, is now deeply committed to more science, and fewer Napoleons in the front office. "Most individuals readily agree," said Lawrence A. Appley, president of the Association, "that as much should be known about the people of an organization as about the operations . . . The great danger lies in the assumption that all that needs to be known about people is already known by those who know it. That assumption is loaded with dynamite—and has blown up in the

hands of many a management." Mr. Appley argues for more research in human relations. After a visit to the tremendous laboratories of the General Electric Company at Schenectady, he hopes that some day he will see "the same fine facilities, the equivalent talent, the excellent environment for research, devoted to human resources."[1]

American businessmen—and some union leaders, too—are already spending millions of dollars a year on social science research and consulting work. Here is a list of problems on which management wants help, and is willing to pay handsomely for it:

1. *Incentives* What makes the workers work? The carrot and stick idea is an indifferent answer Will profit-sharing systems help?
2. *Two-way communication.* How can we get our story down to the rank and file? How can they get theirs up to us?
3. *Decision-making.* How can vital decisions be made most reliably? How tie them effectively to the facts? What about group decisions? What about decentralizing decisions—pushing them down the line? What kind of decisions can be pushed down the line?
4. How can we *pick executives* with less uncertainty?
5. How can we mold various *levels of management* into a better team? How can we hold more effective executive *meetings?*
6. How can we deal more intelligently with powerful *unions?*
7. What can we do about *absenteeism?* About *safety?*
8. How can we *train foremen* better? And new *employees?*
9. How shall we handle *technological displacement* due to automation, or to any large shifts from handwork to machine?
10. What are the best methods for administering *pension systems* and *fringe benefits* generally? (Work for economists, psychologists, and medical experts, combined.)
11. How should we read the *economic weather map*, and adapt our business to it? Inflation, deflation, what is the outlook?
12. How do we come to terms with the *community* which surrounds our factory? Does it control the social system inside the factory?

[1] The General Electric Company has purchased a large estate at Crotonville, N. Y., for a laboratory in human relations to rival its engineering laboratories.

These are large questions. Social scientists are far from solving all of them, but their knowledge keeps growing. We can only select for discussion a handful of illustrations from the expanding field. Suppose we begin with the most famous piece of scientific research so far done in labor-management relations. The story has often been told, but I find it a useful bench mark.

The Hawthorne Experiments

Elton Mayo, who fathered this study, was born in Australia, lived for a while in England, and then became a professor at the Harvard Business School, where he taught and worked for 25 years. He died in 1949. He might have been a physicist, an entomologist, a surgeon—he had that kind of mind. He wanted to know, and he doubted what was known. No one who met him can forget his stimulating talk and blazing blue eyes. Mayo was not the originator of research in labor-management relations, he stood on the shoulders of other men, for instance, Carleton Parker and Clarence J. Hicks. Even Frederick W. Taylor, with time studies of bricklayers and steel workers, had put some knowledge of human relations into the storehouse.

Here is a group of six girls, sitting in a small room in a large factory in the town of Hawthorne, near Chicago On the bench before them are small metal parts in trays, to be assembled into a telephone "relay"—which looks something like a pocket whistle. Their nimble fingers fly. When a relay is completed, every minute or so, it is dropped into a chute and automatically counted The production rate of each girl, and of the group, can thus be figured per hour, per day, per year.

In the back of the room sits a man with a notebook, watching everything that happens, day in, day out, for five years, beginning in 1927. (He has substitutes from time to time) The girls do not resent him, they come to like him and often tell their troubles to him They learn to trust him as a kind of father confessor, and he respects their confidence. He represents the Western Electric Company, and the Harvard School of Busi-

ness Administration, which are jointly making the experiment under Mayo's direction.

In experiments for the Fatigue Institute in England, during World War I, Mayo had worked with factory employees before. He found that they often produced more munitions in a ten-hour day than in a twelve-hour day. This was contrary to common sense, but not to human nature—which may tire and run down when worked too long. The girls at Hawthorne were a test group, being compared with a control group assembling relays in a larger room. The object of the experiment was to determine the effect on output of various changes in hours, in wages, rest periods, piecework, and so on. The assumptions were that higher wages would increase output, shorter hours decrease it—the usual common-sense assumptions.

Before the experiment was a year old, these preconceptions had been seriously undermined What was the matter with these girls? Why didn't they behave the way they were expected to behave? Being scientists, the investigators continued to keep a faithful record of what happened even if they were in the dark as to what caused it. The mystery story developed like this

The first seven weeks were devoted to establishing a base period. The girls averaged 2,400 relays a week each, and worked a regular 48-hour week, including Saturdays, like the rest of the plant.

They were then put on a piecework basis for eight weeks. Output went up.

They were given two rest pauses, morning and afternoon, for five weeks. Output went up again.

The rest pauses were lengthened Output went up sharply.

Six rest pauses were tried and output fell off slightly. The girls complained that their rhythm was broken

Then back to two rest pauses Output went up again.

Hours reduced for a seven-week period. Output went up.

So it continued, trial after trial, each one lasting for some weeks. Whatever new factor was introduced, the number of relays coming through the counters increased, with the one exception noted The research staff began to lose sleep as their

assumptions disintegrated. Some force they could not measure was pushing output up, no matter how they shifted hours, wages, rest pauses.

They prepared then for a supreme test. Take away everything given to the girls over all the periods, and go back to where the experiment started—48 hours, no rest pauses, no hot lunch on the company, no piecework, no Saturday holiday, nothing. The supreme test lasted 12 weeks. *Output jumped to an all-time high—3,000 relays per week!*

The scientists were as disorganized as their assumptions. They had tried to return the girls to the original conditions of the experiment, but the original conditions had disappeared The experiment had transformed the group; the girls no longer possessed the characteristics they had started with. What was this mysterious X which had thrust itself into the experiment? The staff began looking for it all over the factory.

They finally found it in the girls themselves. The workers' attitudes had changed The mysterious X was the way the girls now felt about their work. By putting them in a little friendly society of their own, by consulting them often, the scientists had caused a psychological change in these young women and given them a new sense of their status and value The girls were no longer cogs in an impersonal, pecuniary machine; they were helping in a small way to direct the machine. So their output went up no matter how conditions were changed under them.[2] The investigators concluded that this happened because the girls were recognized, because they felt *important.* They had found work whose purpose they could clearly see and their interest was deeply engaged. So they performed their tasks faster and better than ever before in their lives.

Since the invention of the steam engine most factory managers had regarded workers as "hands"—a part, and on the whole an unreliable part, of the cost of production. "Labor" was a commodity, to be bought and sold like pig iron. Sometimes, by way

[2] Of course, if physical conditions had been changed beyond tolerable limits, output would have been affected. See account by F. J. Roethlisberger.

of contrast, a paternalistic manager treated his workers like little children, to be given candy and petted. The Hawthorne experiment broke down these illusions and proved that the way to make workers work hard and willingly lay in two basic and allied principles: *First,* make the worker realize that his work is important, and that he is important *Second,* accept the fact that a factory is part of society. Under its roof society must function in its accustomed ways. Bands and teams and groups will form. They must be allowed for, respected, and if possible utilized.

Fourteen Men

The research staff then set up their instruments in another room in the Hawthorne plant where 14 men were engaged in "bank wiring," which means attaching wires to switches for certain kinds of telephone equipment. Nine men are wirers, three are solderers, two are inspectors. In another frame of reference, four are Czechs, three Germans, three Yankees, two are Poles, one is Armenian, and one Irish—an average Chicago ethnic cocktail.

These men have somehow become a team, a little society, inside the Hawthorne plant of 20,000 workers. Unlike the group of relay girls, however, this society does not increase output—which is one reason it is being studied. Not only was the team formed spontaneously, but natural leaders have arisen. The managers of the plant are sublimely unaware of the strength and toughness of this outfit The 14-man team is not opposed to management but comparatively indifferent to it, having more important matters to attend to. It is strictly a cultural phenomenon, not an economic one. The men are not concerned with the amount of money they get nearly as much as they are concerned with how their wages compare with Tom's and Jerry's. Relativity is what counts with them

The company has recently adopted an incentive pay plan: the more work an employee does, the more he earns. It is a fair plan, and contains no speed-up provision. Management assumes it will increase production. It does nothing of the kind. The

team members hold to a flat 6,000 units a day, no more, no less—though they could readily turn out 7,000 units without fatigue. If some member gets ambitious, the gang slaps him down. There is no apparent relation between an individual's ability and his output. The team does not appear to act in accordance with its pecuniary interests at all. Why?

More racking of brains for the research staff. Why don't workers earn more money when they have a fair and honest chance to do so? The answer seemed to be that the men in the bank wiring room were more interested in maintaining their group relations than in cash. They were afraid, too, that a speed-up might be hidden in the plan. This was a result which neither the incentive plan nor the management was prepared to cope with. Yet any management which ignores the feelings, sentiments, belief systems of the workers is operating in the dark.

The great plant at Hawthorne was found to be full of similar informal groups and teams, powered by leaders whom nobody in authority had ever selected. They exerted a rigid control over "rate busters"—who turned out too much work; over "chiselers"—who turned out too little; over "squealers"—who told on group members. The life of a squealer could be made very unhappy indeed.

It was found that efficiency engineers had tried in the past to break up informal groups, hoping to free individuals for greater production. This policy looked well on paper, but when it was put into effect, time and again production went down. The engineers had unwittingly deprived the worker of the thing which chiefly gave meaning to his work, and without which his full coöperation was impossible. He wanted to "belong."

Aircraft Plant Team

During the war, social scientists made a study for the government of labor-management relations in California aircraft factories. Why, they were asked, were labor turnover and absenteeism so high? This is what they found.[3]

[3] Reported by Elton Mayo and G. F. F. Lombard. See Bibliography.

"John Briggs" is a team leader in Department Z. Nobody appointed him, he just is, and every worker in that end of the shop knows it. One day John goes to the supervisor to present a grievance for one of his team members—a little matter, easily straightened out. The supervisor, who is having an off day and dislikes John anyway, fires him without even hearing the grievance. A team leader is lost who the management did not even know existed.

John had been building up production in Department Z the way a good football coach builds a random collection of rookies into a striking force. The research men discovered that he was boosting morale and could relieve the foreman of many problems of minor discipline—a real tower of strength. And now he is walking out the gate, burning with resentment at the supervisor and the company. The team he led has lost its structure. In the front office, the chart makers presently begin to wonder why output in Department Z has taken a nose dive.

It is useless, the scientists say, for management to ban informal groups. They will form anyway; they seem to be as natural as falling in love. Well-informed managers now are utilizing this drive, and even organizing groups deliberately. It was found in this California experiment that most absenteeism and labor turnover came from workers who did not make a team, who perhaps had no chance to do so. Thus they had no social life in the factory, nothing to involve their interest and loyalty. Again and again we come back to the first principle of the behavior sciences: man is a social animal.

You can readily see what has happened in these experiments. Scientists are at last uncovering some of the basic theory of human relations on the job. Before Hawthorne, we had a little common sense, no underlying theory, and a great deal of plain, loud dogma from both managers and workers. Now we are beginning to understand what makes workers work, and to test the knowledge in controlled experiments.

A Million Foremen

The new understanding was applied on a grand scale in the Training Within Industry program during World War II.[4] Under the War Manpower Commission, more than a million foremen were taught methods for handling workers under them, based on the recognition that they were human beings in a social structure. In one simple technique, the foreman may straighten out a situation in the factory by letting Bill tell him about the trouble at home. This is a long way from the old-time foreman who was asked,

"How do you handle a new employee?"

"I jest stand there . . . and stare him down to kinda show him how dumb he is."

"And then?"

"Then I spit. . . ."

The Job Relations Course in the TWI programs gave every foreman a little blue card with these printed reminders:

Let each worker know how he is getting along.

Give credit when due; tell him while it's hot.

Tell people in *advance* about changes that will affect them. Tell them why.

Look for ability not now being used.

People must be treated as individuals, not numbers on the payroll.

In any given problem, *first get the facts*, then weigh and decide, and only then take action Afterwards be sure to check results.

This problem-solving technique for foremen, you will note, is based firmly on the scientific method.

[4] See report edited by Walter Dietz and Frances Kirkpatrick.

16

The Cause and Cure of Strikes

On a cold March day at the bottom of the great depression, 1,500 workers walked out of the dozen shoe factories in Newburyport, Massachusetts, almost without warning.[1] They struck with such impact that every factory was closed tight, not a man remained at his bench. The principal industry of the town shut down, at a time when work was very hard to get, and remained shut for a month. In two weeks' time the strikers were completely organized and began picketing effectively. Two weeks later the managers recognized the union. Arbitration by the state board was then accepted, and gave the workers nearly everything they had struck for.

The managers were dumfounded by this rush of events. Again and again they had said that their employees were too sensible to go on strike. Yankee City workers had never been thoroughly organized, and union men from the shoe factories of Haverhill and Lynn complained that they couldn't be organized—they were too obstinate and independent. Some of the workers themselves just before the walkout had told the research staff there would be no strike. Then the impossible happened!

Foreigners and Yankees of ten generations, men and women, the very old and very young, Jews and Gentiles, Catholics and Protestants—the whole heterogeneous mass of workers left their benches, and in a few hours wiped out most of the basic production from which Yankee City earned its living. Not only did they strike and

[1] Volume 4 of the Yankee City series is devoted to this strike.

soundly defeat management, but they organized themselves and joined an industrial union. . . .

EXPLANATIONS

How could this have happened? To find the real causes required months of study. Explanations, however, were freely offered within ten minutes of the walkout. Everyone naturally asked the reason, and everyone had his own private answer. It was the *depression*, said a manager; *low wages*, said a worker; a *plot of the rich*, said a Greek shoe cutter, a *red plot*, said a superintendent; *union agitators*, said a Hill Street gentleman. . . . "Each man, owner and worker and townsman, spoke his own brand of economic determinism."

Plenty of noneconomic determinism was offered, too, and many scapegoats. "It's the foreigners," said the Irish-Americans, thinking of recently arrived Greeks, Poles, and Armenians. "It's the Irish," said some of those whose forebears had landed earlier "It's those New York Jews"—meaning the financial syndicate which now owned the shoe factories.

The research staff worked overtime, interviewing managers, workers, union organizers, tradesmen, city officials, government arbitrators. "All of them told us why the strike had happened Each told us but part of the truth; no one knew all of it." In every account, important characteristics were left out.

> If social science is to be of any worth to us it must be capable first of all of adding significance and meaning to human behavior which will give us deeper insight into human life, and explain more fully why human beings act the way they do.

Among the questions in Newburyport were these In a community with few previous strikes and no successful ones, why did the workers suddenly walk out *en masse*, hold their ranks firmly, and win their demands? Again: How could a strong labor organization rise in a town where unions hitherto had hardly achieved a toe hold? What, in short, were the *real* rea-

sons for the strike, as contrasted with the alleged reasons so freely offered?

It did not take long for the scientists to agree that one real reason *was* the depression. Yankee City, like Middletown, in Indiana, had been hit hard. A clerk in the local relief office reported: "Last Tuesday I saw 360 people here, and yesterday 240. . . . We have two doctors, a minister, lawyers, businessmen on relief—people you'd never believe could be on our books." Citizens were breaking up furniture to burn in their stoves; some were literally going hungry.

Depression, low wages, rapid style changes in shoemaking, waiting around the shop without pay, all had contributed economic reasons for the explosion. But they did not explain nearly enough

Tracing Back

So the scientists began delving into the past. They constructed an economic and social history of Yankee City since its founding in 1635. They built a technological ladder, showing inventions and changes in shoe manufacturing. With the help of John R. Commons' study,[2] they reconstructed the labor history of the industry; and with a book by Emile Durkheim, they worked out the development of machines and division of labor which led to the mass production of shoes.

When settlers first came to the Merrimack Valley they made their own shoes, as one of the winter tasks. Then came the itinerant cobbler with his tools, to process the hides which the family had cured. He would live in the house with them for weeks, while he measured feet from baby to grandfather, and shod them for the coming year. His pay was mostly board and lodging.

About 1760, the so-called "ten-foot shops" were set up to make shoes to order for the local folk. A customer who went to be measured "bespoke" his order, and the shoemaker pro-

[2] "American Shoemakers, 1648-1895," *Quarterly Journal of Economics*, November, 1909.

duced the complete article. Later the first entrepreneur, or capitalist, appeared. He hired workers to make shoes and then he sold them in the immediate neighborhood. Specialization began; some workers made soles and some made uppers, but there were no machines.

So we come to the great change. In 1852 a machine for stitching uppers was invented, and within a decade many other tasks had been mechanized. The saving in labor costs per pair of shoes was fabulous, sometimes up to 90 percent of the old hand cost. Where an expert hand laster could process 50 pairs a day, the lasting machine spewed out 700 pairs. The shoes themselves changed only in detail, but the process of manufacture shifted from a single skilled trade, carried on by a craftsman from start to finish, to a process involving hundreds of operations per pair, most of them done by machine. Workers no longer owned their tools; they had no part in designing the machines they were asked to operate, and no way of predicting what operations would next be mechanized. At a stroke they lost both their security and their pride.

By the time the last old shoemaker died, financial interests in New York had bought out the local factory owners, and the final link of control within the town was broken. Shoemaking in Yankee City had become a strictly impersonal operation for a distant market. New York interests might speed the factories up or close them down; nobody in authority seemed to care.

So the "American Dream" dimmed and faded out in the shoe factories of Yankee City. Warner's men had finished reconstructing the story and come to the end of the trail. They understood now why workers had marched out as one man on that cold March day and joined the union. The same evidence indicated one reason why the American labor movement has grown from two million to 16 million members in recent years. Unions restore some of the pride and self-respect which machines have taken away.

Shoes used to be made by people who wore them themselves,

or took pride in their skill, or both. They are now made by people who rarely wear the shoes they make, have no idea what happens to the output, and have lost their skill and the status which went with it From a dynamic and absorbing human occupation, mass production has revolutionized shoemaking into an impersonal, monotonous routine. So Newburyport shoemakers in 1933 were under tension not only economically but *emotionally*. Their work had ceased to give meaning to their life.

On the Belt

Shoes today are made by machines which the worker feeds, but mass production has taken a long step beyond that. In the conveyor system, used for automobiles and other durable goods, the machine sets the pace of the job The worker briskly attaches the windshield wiper as the car goes by. This presents us with the problem of the *robot,* the mechanical slave, the man on the belt. He has long been pointed to as a major liability of the machine age, but only recently have social scientists found out what the menace really amounts to. Some managers allege that there is no menace at all, the robot enjoys the job What are the facts?

Here is an automobile plant in New England, employing 1,800 workers. About a thousand of them are on various assembly lines —chassis, body assembly, final assembly after the dramatic "body drop" onto the chassis, and various subassemblies. A team of social scientists from the Institute of Human Relations at Yale, headed by Charles R Walker, have selected a group of men as a quota sample of the total force on the line. These men are given intensive interviews at their homes, with both management and union endorsing the investigation. The results are set forth in *The Man on the Assembly Line*, by Walker and Guest, published in 1952—a small book which is making industrial history.

What did the scientists find? They found that nine men out of ten did not like their work. Most of them preferred some for-

mer job in a smaller concern. They stayed on the belt because of the high pay and job security. But absenteeism and labor turnover were higher for them than for other workers in the plant, and some said they could not take it much longer. One out of ten either liked his work, or was indifferent to it. "If you can daydream," one worker said, "it isn't so bad."

Grievances

What did the majority object to? They hated being paced by a machine rather than by their own working rhythm. "The work isn't hard, it's the never-ending pace. . . . The guys yell 'Hurrah!' whenever the line breaks down, you can hear it all over the plant!" Again, they were bored beyond endurance. "The job is so sickening, day in and day out plugging in ignition wires. I get through one motor, turn around, and there's another motor staring me in the face."

They said that they had no opportunity to develop personal skills, which made them feel inferior and stupid. "One of the main things wrong with this job is that there is no figuring it out for yourself; no chance to use your brain."

They said that the job was in a kind of mental twilight zone; they had to pay attention, but not *enough* attention to interest them. A job which left the mind completely free was better, but a job which absorbed the mind was best of all. The craftsman in them was in revolt—like the shoe workers of Newburyport.

Perhaps the biggest grievance, however, was that each man *worked alone*. Assembly lines, as commonly run, break up the natural teams and groups which always tend to form in industry, and which can do so much, as Mayo discovered, to make factory work more tolerable and human.

These automobile workers had few grievances against foremen, equipment, the plant. The light was fine, the washrooms clean. But their unhappiness was reflected in the bitter things they said about "the company," off there in Detroit somewhere. They had to blame somebody. Frustration, as another group of scientists at Yale once concluded, usually leads to aggression.

Can the Belt Be Humanized?

The scientists found the men ready with suggestions to improve their lot. Two appeals stand out: give us a chance to use our minds; give us a chance to work together. Both are close to basic human nature and no culture can deny them indefinitely without risking an explosion.

Rest pauses, they said, might help. Instead of waiting for the line to break down, why not stop the damn thing for a few minutes morning and afternoon? "It would be something to look forward to." Any opportunity to *change pace* would help. It was suggested that they be allowed to "work up the line," attaching, say, defrosters, rapidly—and then relax for a few minutes, thus beating the remorseless rhythm Instead of one nut, screw in half a dozen, giving more *variety*. "I'd like for once to do a whole fender." A whole fender may be too much to ask, but the poor chap might do more of it than he does now.

Once set, the pace of the conveyor cannot be changed much, but workers would feel better if they were *consulted* about it at retooling time. If they had a hand in the process, they said, they would not resent it so much.

Instead of learning the job at only one station on the line, the men suggested, learn the job at five or ten stations, and take turns doing them—this week at Station 6, next week at Station 17. This is the principle of *rotation*, and not so impractical as it may sound. "Utility men," who substitute for sick or absent regulars, learn to handle a lot of stations, and feel much better about the job than the regulars The scientists found one foreman who had organized his whole crew this way, and the rotation worked so well that management considered extending the practice.

Many observers, both in and out of industry, have said that variety cannot be introduced into the conveyor system without abandoning the central idea. Mr Walker does not bear them out. The robot can become a good deal less of a robot without sacrificing the moving line. But the big problem of social relationships inside the plant needs much more research How can team-

work, which is essentially circular, be combined with the belt, which is essentially linear? The conveyor is in conflict with a cardinal social principle.

The Yale scientists have demonstrated that there is a crack in the door. More research may well push it open. Industrial engineers have shown how physical materials can click in a moving line, delivering a Buick every 45 seconds. Social scientists, in consultation with workers, have now to show how human beings can click at stations along the way and retain their humanity. Mass production may never rival a ball game as entertainment for those who work at it, but it can become more tolerable if it allows for the laws of human behavior as well as the laws of physics.

CONDITIONS OF INDUSTRIAL PEACE

We have looked at some of the causes of labor unrest, and listened to a few constructive suggestions. Have any large companies really solved their labor problems? Is there a tested formula for stopping strikes?

No, there is not. In totalitarian countries you can shoot strike leaders, but that does not make the rank and file work any better or cure their grievances. Some American corporations, however, have operated for many years without a strike, and social scientists are trying to find out why An outstanding example is the Standard Oil Company of New Jersey.[8] From 1917 to 1955 it went without a serious strike in any of its far-flung operations. Even though it may have a strike some day, its record cannot fail to remain impressive. When most American refinery workers were out in 1945, Jersey's employees remained on the job.

All this began during World War I, when a series of terrible strikes in the Jersey plants produced pitched battles on the streets of Bayonne, with men killed and the state militia mobilized. Management, at its wit's end, called in an expert on human relations, Clarence J. Hicks, a forerunner of Mayo, Roethlis-

[8] On which I reported in their magazine, *The Lamp*, October, 1946.

berger, and Warner. After a careful survey he advised a change in policy which, for 1917, was revolutionary. He said that if managers wanted to stop strikes, they would have to think about workers as human beings rather than as commodities He said that executives should not be hired unless they had demonstrated their ability to get on with people.

This was a heresy like telling the Republican Party it should come out for free trade. But the traditional policy had broken down so catastrophically that Jersey's managers were ready to try anything. They swallowed the bitter pill of Mr. Hicks. His specific recommendations included: collective bargaining, the highest wage scale the industry could afford, a full set of what we now call "fringe benefits" for workers, the encouragement of teamwork, better communication between men and management—especially the prompt settlement of grievances.

Since that day, Jersey's management has been in the hands of executives who have followed these policies in good faith, and added more along the same line The policies were first suggested by a social scientist, and the company has employed other scientists to carry them forward It has on the payroll, for instance, several expert counselors, who meet with older workers and advise them about the tough psychological problems of retirement at age sixty-five.

One activity which particularly interested me, when I was looking into Jersey's labor relations, is the survey conducted from time to time by Elmo Roper Associates to determine what workers think about the company and their jobs. These consultants first secure the full cooperation of the union, and then conduct a mass questionnaire When the poll was first proposed, the men were naturally suspicious. Mr. Roper at a shop meeting guaranteed that no names would be revealed, and that the union as well as management would see the results. After a period of uneasy silence a union president spoke up:

"I'm for it," he said. "It's a good idea and here's why. I tell the management what the workers want. They want this and they want that, and I bang the table. So Bill here [the superin-

tendent of the plant], he says no, that's not what the workers want, they want that and they want this. And *he* bangs the table. But neither of us knows a damn thing about what the workers *really* want, and I'm for Mr. Roper finding out!" The questions Mr. Roper asks include:

Does management consider you as a human being or a number on the payroll?

Does it make you feel your job is important?

Do you like your foreman? Does he welcome your suggestions? Show favoritism?

What is your favorite company policy? (Sick benefits get a large vote, also the promotion system.)

Would you rather work for a big company or a small company?

Eight Principles

In 1947 the National Planning Association, a private research group in Washington, set up an ambitious project—to find the principles of industrial peace. Instead of relaxing and thinking about it, the Association sent field crews of social scientists all over the country to study big companies where strikes were few and labor relations good.[4] Clinton S Golden, of the Harvard School of Business Administration, assumed command of the project with these classic words: "Instead of looking into the causes of the conflicts we hear so much about, we ought to try to discover how much peace there is and what makes peace"

Twelve companies were analyzed in the field, and 18 more by questionnaire and records, over a period of five years—the most comprehensive study of labor relations ever undertaken. They were all "good" companies, selected deliberately to answer the question How do the good companies do it?—so that the word could be passed along to the not-so-good companies All 30 corporations had strong unions, which was also central in the program.

[4] Some of the companies were Crown Zellerbach Corporation, Libby-Owens-Ford Glass Company, Hickey-Freeman Company, Lockheed Aircraft Corporation, Colorado Fuel and Iron Corporation. Now recorded in a book, edited by Golden and V. Parker See Bibliography.

The story of the research has been published in detail by the National Planning Association. Here we have space only to list the eight "universals" for industrial peace which were found to be operating in all the companies We can be confident that these same principles also help labor and management to get on relatively well together in America today.

The principles were taken hot and dynamic from actual operations. If you are thinking of starting a nice little business some day—say the manufacture of magnesium wheelbarrows—you could do no better than to plan your labor policies with these eight guides. You may not need them all, you may modify them, but they will start you in the right direction, they are something to predict with, based on careful scientific research.

1. Management accepts the union as here to stay, and begins looking for ways and means to put the union to work to help the company. Rather than a headache, the union becomes an ally A responsible union, for one thing, can take over the administration of discipline in the shop.

2 Management gives top priority to human relations. Its personnel department is the best that money and brains can obtain.

3. Management recognizes the union as a different kind of social organization from the company itself. Union leaders are responsible to the rank and file, while company leaders are responsible to the man above. Deals with union leaders are accordingly dangerous; management must keep its eye steadily on the rank and file.

4 The union unreservedly accepts the company as a profit-making institution. All thoughts of "taking it over," or raising wages to the point of financial loss, are abandoned. The class struggle is out the window.

5. The union expects management to manage. The union ceases to be a protest outfit and becomes a watchdog outfit. This marks a profound change in labor philosophy In the early stages of union organization, violence is frequent, bosses are always wrong, name-calling is loud and eloquent But in these

30 companies the union has grown up, leaders assume that managers are ordinary decent human beings. Ordinary decent human beings, however, need to be checked up from time to time, and the union exercises this function.

6. Both union and management deliberately subordinate drives for power to a search for the *accommodation* of their differences. They do not expect to agree on everything, but they do expect to avoid violent conflict, and to find a modus vivendi, a way to live and let live.

7. Both union and management use the "problem-solving" approach rather than the legalistic approach. Instead of reading the fine print on the contract and battling for their "rights," both sides try to settle problems as they arise, on their merits.

8 Both union and management keep communication lines open, ready to discuss practically anything, any time, anywhere We noted earlier that the American Management Association is concentrating on this principle, promoting it throughout industry. It has become as live a topic as Taylor's scientific management was a generation ago.

This is all very fine, the skeptic may say, but what is the net result? All the 30 companies were found to be paying relatively high wages, while earning very satisfactory profits. Good human relations, it seems, pay off.

I have given only a hint of what the scientific attitude is accomplishing in labor-management relations in America. My business friend, who described the change from czardom by referring to the three successive presidents under whom he had served, was not talking about an isolated case. The new ideas are making astonishing headway. One finds them not only in private business, but in some government agencies like the TVA, and in many nonprofit organizations—charities, universities, foundations—wherever men and management face one another. The college student who wants to make a career of social science as researcher or consultant will find here a vast and exciting field.

17

The Science of Polling

Polls of public opinion are used increasingly by all the social science disciplines as a research tool, and are now a formidable discipline in their own right. Research centers for training interviewers are operating at Princeton, Columbia, the University of Michigan, Chicago, the University of Washington at Seattle, and in large private organizations like Gallup, Roper, and Crossley.

Customers for opinion research include government at all levels, the mass media, businessmen, advertisers, labor unions, foundations, political candidates. Polls have lately spread halfway around the world. The same question can be asked in Canada, the United States, England, France, Denmark, Italy, Belgium, Australia. Whatever its scientific accuracy, obviously the product would not be in such large supply unless there were a powerful demand for it. The case of Jersey Standard, cited in the preceding chapter, is one example of its use. The study of the robot on the assembly line was done by a special polling technique, so-called "depth interviews."

To the man on the street, the word "poll" usually means the prediction of elections, especially for United States President. These get the most publicity, though they constitute a very small part of opinion research. This chapter is primarily concerned with less sporting matters, but election results need an introductory word.

Election Polls

The original election polls were "straw votes," where a reporter might ask a few people on the street how they intended

to vote. Then came an elaborate tabulation of a great many straw votes, like that of the *Literary Digest* in the 1936 election. The *Digest* sent out millions of return postcards, asking the respondent's preference as between Roosevelt and Landon. Returns indicated that Republican Landon would be overwhelmingly elected. When the actual voting in November showed him overwhelmingly defeated, the *Literary Digest* as a vendible property presently folded.

Messrs. Gallup and Roper, newcomers in the field, correctly foretold the 1936 election of Franklin Roosevelt. They foretold it again in 1940 and in 1944. In 1948, however, they predicted the election of Thomas E. Dewey over Mr. Truman. In the words of Mr. Roper, "We could not have been more wrong." In the presidential elections of 1952, the pollsters retreated to more cautious estimates. Some of them concentrated on measuring changes in public opinion during the campaign rather than venturing flat predictions.

There is a very important difference between straw voting and the sampling technique of modern opinion research. The former has no protection against bias; the latter is scientifically designed to eliminate it. The *Literary Digest* poll contained two serious errors in selection: (1) postcards were sent to people listed in telephone books—who, especially in 1936, were the more well-to-do; (2) most of the cards returned came from those who had the clerical habit strongly enough to fill out and mail them Republicans tended to have more telephones, and superior clerical habits, so the *Literary Digest* poll was doubly biased in Mr. Landon's favor.

Gallup and Roper used the sampling method, whereby representatives from all groups in the voting population were interviewed, in their estimated proportions. Thus if Negroes were 13 percent of all American voters, the sample interviewed would include 13 percent of colored citizens—and similarly for other major groups, with various qualifications for regions.

Sampling theory is scientific, as we shall see, why then did the pollsters go so wrong in 1948? There has been a good deal of

soul-searching analysis, and a number of explanations. The outstanding reason seems to be that the pollsters did not allow for voters *changing their minds* between late summer, when the predictions were announced, and November, when citizens actually voted. It is possible that if the electorate had marked their ballots for President on September 1, Mr. Dewey would have been elected Both the labor vote and the farm vote were seriously affected by events after September 1, while many Republicans, thinking that the election was in the bag, did not bother to vote. Several local polls that persisted through October caught a large drift away from Dewey in the last three weeks before election

Certainly one of the reasons for the pollsters' success in 1936, 1940, and 1944 was the outstanding personality of Mr. Roosevelt. Voters were strongly for him or strongly against him, and there was not much change in their feelings between September and November of those years. In 1948, however, Mr. Roosevelt had passed from the scene, and opinions had not crystallized so strongly about either Mr. Truman or Mr. Dewey.

Opinion research was in low repute for months after Mr. Truman's election, but presently it emerged, and today is at an all-time high It furnishes useful information which can be got in no other way. Even if results are occasionally wrong, the demand is massive enough to overlook some errors. The pollsters, moreover, are not likely to repeat their carelessness of 1948.

Sampling Theory

Sampling theory has been in use, largely for material things, for thousands of years Instead of counting or tasting or weighing the whole lot, you analyze a sample which represents the whole lot. But unless the sample is truly representative of the whole lot, or "universe," as the scientists call it, the technique is not only valueless but dangerous.

An early illustration was sampling wine by tasting it, a few sips would define the whole vintage A "universe" of sand, marbles, or other free-flowing material can readily be measured

by sampling. When units are not free flowing, they are said to be "clustered," and the sample must then be composed of similar clusters.

Most of us use sampling to save ourselves work, without realizing that we are on the edge of a scientific technique. If, for instance, I want to find out how many words I have written so far in this book, I select half a dozen typed pages at random, count the words on each page, average them, and multiply by the number of pages typed. The result will be close enough for my purposes. I know from previous tests that it will be within 2 or 3 percent of the exact number of words.

If we have any way to find a representative sample, we can determine the total of the universe at a fraction of the cost of a complete census. To count all the words in a book would take many hours. Not only can we get answers to more questions, but we can get a given answer faster; the technique has both coverage and speed. It applies to many aggregates, organic as well as inorganic—nails, bolts, most mass-produced units, trees, grain, sheep—anything which has some uniform characteristics.

The first use of scientific sampling in the social field seems to have been when Halley, whom we met in the Royal Society, employed the mortality statistics of the town of Breslau for 1693, to draw conclusions about the mortality of mankind. Breslau was the sample, and mankind the universe. In 1800 Sir Frederick Eden, using the sampling technique, estimated the population of England at 9 million, and next year the actual census confirmed the estimate. Among the most active uses today are:

Inspecting mass production articles and parts in factories. Johnson & Johnson, for instance, have scores of sampling stations in one of their factories at New Brunswick.

Estimating crop yields—widely practised by the Department of Agriculture.

Compiling economic data, such as the number of unemployed, wages, prices, housing conditions—and thus saving the taxpayers' money The number of unemployed published by the government

every month is calculated on a sample basis. If a complete census were taken, results would be months behind and the cost fantastic.

Health surveys, crime surveys, youth surveys, indeed all manner of social surveys. As I write, the United States Public Health Service is estimating the effects of smoking on health by interviewing 25,000 Americans.

Market research: to find answers to such questions as "What don't you like about Plymouth cars?" "What is your favorite toothpaste?" Also to measure the popularity of radio and TV programs

The depression of the 1930's gave sampling theory tremendous impetus. The government needed figures in a hurry concerning the number of people unemployed, on relief, eligible for social security benefits, and so on. Time did not permit a complete census, samples would serve the purpose within a calculable margin of error.

World War II carried the technique further. Samples were taken to determine consumer wants, housing facilities, goods in short supply, dealer inventories, public reaction to war measures, characteristics of selectees, employee attitudes in war plants, radio listening habits, quality control of munitions

"The science of sampling," says Angus Campbell, "has reached the point where it can select unbiased samples of known probable error to represent virtually any universe a surveyor is interested in."[1] In the face of this comprehensive demand, the question of who is going to be elected president or senator or dog catcher is minuscule We can summarize the development of public opinion research something like this·

First comes *sampling theory*, founded on the mathematics of probability and rigorously scientific.

From it many useful applications have been worked out in *counting material things*—beans, rice, gravel, many kinds of industrial and military inventories.

From it, counts of *human populations* have also been developed, such as the total number of boys subject to the draft, of housewives with electric washing machines, etc.

[1] *Journal of Social Issues*, May, 1946.

Counts of *opinions* are next in line—what people think of the United Nations, the Marshall Plan, President Eisenhower's performance, the Jack Benny program.

Out on the far edge is the prediction of *political elections*—since the trouble in 1948, the boys are going easy on this one. It would suit a lot of us if they would forget the whole thing. But the popular demand for a winning prediction, as in the case of the Kentucky Derby, is great.

Until scientific sampling came along, no politician, leader, reformer, had any objective way of knowing what the people thought about public issues Leaders relied mostly on intuition, wishful thinking, or pessimism about the intelligence of the rank and file. Congressmen tended to draw conclusions from their mail—which provides a perfectly terrible sample of the congressman's universe! Only angry people, or very earnest and literate people, or people prodded by pressure groups, write letters to Congress. Congressional mail in 1941, for example, ran 90 percent against the draft law. But careful polls indicated a majority of citizens *in favor* of the bill. The bill won by one vote.

Wartime Polls

Samuel Stouffer, whom we met at the Harvard Laboratory, directed many of the Army polls during the war. Soldiers were asked what they thought about their food, about their equipment, their uniforms, the entertainment offered, promotion methods in the Army, deficiencies in leadership, methods of discipline, personal plans after the war. The soldiers themselves determined the "point system" of discharge. Subsequently the system never fell below the 70 percent line in soldier approbation It worked so well that even the Marines took it over The Army knew two years in advance, and within 3 percent, how many claimants there would be under the G.I Bill of Rights. The government probably saved millions for the taxpayers by knowing what to plan for in this costly business.

Rensis Likert found out by opinion research that if the

Treasury made it easier for people to refund war bonds, more new bonds would be bought, and *more net would stay bought.* This was contrary to some positive opinion in high quarters, but the Treasury trusted the poll, and made the change, with the results predicted. The Price Control Board kept in close touch with the public by frequent opinion surveys. When a poll showed a bad public reaction to some ruling in, say Cleveland, trouble-shooters were rushed to Cleveland before the grievance grew. Sometimes the ruling was changed, sometimes a better explanation was given of its necessity. . . What a future in public relations this opens up!

A poll in June, 1946, showed that 78 percent of Americans wanted price controls maintained for a while longer Presumably they were afraid of inflation without them. Yet Congress killed the agency, on the assumption that competition would reappear after its long hibernation and bring prices down. Congress turned out to be wrong and the people right

Outstanding Accomplishment

This brings us to an outstanding achievement of the polls. They have given strong statistical proof of the wisdom of the people, and thus vigorously supported the theory of political democracy. Time and again the polls have shown the majority of the people ready for a given change ahead of their leaders, and even farther in advance of Congress William A. Lydgate, of the Gallup organization, has written a book, *What Our People Think*, packed with evidence. His first chapter is entitled, following Carl Sandburg, "The People, Yes." He cites the pluralities for rearmament, higher taxes for defense, the draft, price control, wage control, rationing, an antistrike law —all approved by the people ahead of Congress. In March, 1940, six months after Hitler's armored divisions marched into Poland, the Army asked Congress for money to build 1,200 fighting planes. Congress appropriated funds to build exactly 59. Yet samples of the American people were showing majorities of nine to one in favor of more air power!

The people are not always right judged by subsequent events; but as Mr Lydgate shows, they often sense reality better than those whom they elect to represent them. The rank and file are soon lost when questions become technical, but when broad policies are put before them, the polls vigorously support the famous warning: "Never overestimate the people's knowledge, nor underestimate their intelligence."

18

Steps in Opinion Research

To run a poll today is a major operation, in which an amateur would do about as well as he would trying to produce sulfathiazole in the kitchen sink. If the "universe" is all the adults in the United States, as many as 400 skilled interviewers may be needed, stationed at strategic points throughout the country. Perhaps the best way to understand the operation is to follow the process of polling for a public policy question from beginning to end, and note the steps involved. There are eight of them, and we will consider each in turn.[1] Why not save the cost of personal interviews and send questions by mail? Because, as the sad case of the *Literary Digest* made painfully clear, mail returns often introduce a systematic bias.

Step 1: Selecting the Question to Be Polled

Suppose that you are the director of a polling agency, what do you want to ask people about? Granted that it would be interesting to have an answer, is there any reason to believe that enough plain citizens know anything about the topic to make the answer significant? Do not try "free enterprise," for instance, for only three Americans out of ten have a clear idea what "free enterprise" means. Many think it is something given away, like premiums for soap wrappers. Citizens need *background* before they can answer a policy question—unless you are polling specifically to determine the *lack* of background. In 1955 there was a good deal of agitation about a private power combine, called Dixon-Yates, supplying current to the

[1] Following Maccoby and Holt, in *Journal of Social Issues*, May, 1946

TVA. Most Americans had no idea of the facts, which were complicated. So any poll you might have taken would be not on the issue but on symbols—"Private Power vs. Public Power," or "Republican vs. Democrat." This would tell you how people feel about symbols, but not about Dixon-Yates.

Again, even if people know about the subject, do they care? This brings up the *intensity* of public feeling; questions which carry low intensities may not be worth the cost of polling. Again, how *permanent* is the reaction likely to be? Questions subject to large and sudden changes in popular attitudes are less meaningful than those which have more stability, unless you are specifically studying changes, as in "panel" polling to be described later, where the same group is interviewed at different periods

Step 2. Selecting the Universe

Will the universe be the whole adult population of the country, Negro sharecroppers in Mississippi, Ph D.'s in sociology, consumers of Post Toasties, unskilled workers in the Ford Motor Company; or what?

Though opinion can be studied not only in the United States but in other Western nations, polls behind the so-called Iron Curtain have only recently begun, and are conducted so differently as to be useless for comparison. To compare reactions between nations is always interesting and can be important. An international poll asked the question· "Do you think most people can be trusted?" Only 6 percent of Germans said yes, compared with 66 percent of Americans—a penetrating sidelight on feelings of security in the two countries ten years after World War II.

Step 3· Selecting the Sample

Individuals, as we have seen, must be selected from the universe in such a way as to represent the universe. Here the amateur goes completely out of his depth As director you choose among various alternative methods. "random sampling," "quota sur-

veys," and so on. You choose the one which seems best to fit the universe—remembering too your client's pocketbook.

Random sampling means using some automatic method of choosing which gives each individual in the universe an equal chance of being included in the sample. If one is sampling marbles, random sampling is quite satisfactory. It can be done by picking up a handful anywhere, though it would be a good idea to shake the whole collection first. If, however, one is sampling people, random sampling is more complicated Suppose we want to know how many members in a given service club go regularly to church. Here is the card file, with tens of thousands of club members' names. Now pick up a book, any book, and open it at random. If the page is 64, take 4, the last digit. Good, we will start with the *fourth* card in the membership file, and take every hundredth card thereafter. If we want to work to a larger sample and thus a smaller margin of error, take every twentieth card. Prior experiments have proved that when some *person*, however wise, tries to pick the random sample, bias gets in

A *quota sample* tries to arrange the units in the sample in the same proportions as in the universe. If the universe is total adult population, then divide the sample into corresponding proportions of rich, poor, white, Negro, farmer, city man, old, young, skilled worker, unskilled worker, etc. Elmo Roper claims that by asking 5,000 Americans selected on a quota basis whether they expect, say, to take a vacation in the next six months, he can get, within a few percentage points, the same answer that 100 million adult Americans in a complete census would give. If he is correct, and there is strong reason to suppose that he is, the saving in cost is in the order of 20,000 to 1. Incidentally, here is the reason why *you* may not have been polled (I was polled for the first time a few days before writing this paragraph. It was about United States oil companies abroad.)

The quota theory is sound, trouble comes in making clusters which truly agree with the clusters in the universe. The studies of Dr. Kinsey in sex behavior have been criticized for

having too many respondents with college education. This may be true, but the results are still useful. Though the Kinsey samples may not be perfect, they have told us more than was ever known before about the subject, and may quite possibly have laid the foundation for more intelligent sex education in the future.

STEP 4: PHRASING THE QUESTION

How best to word the question is as delicate as approaching the boss for a raise. Here the survey director must use taste, sympathy, intuition, and semantics. There is no such body of knowledge to help him as in the theory of sampling. He is confronted, among other things, with a problem in the meaning of words. What he must strive for above all else—with an exception to be noted later—is to get a completely dead-pan question, to remove all emotion-stirring words[2] so the respondent can answer spontaneously from his own inner feeling.

When Franklin Roosevelt was President it was found that attaching his name to a policy which was being polled increased its popularity—although not necessarily in the Union League Club. Out where votes are counted this produced a bias in favor of the proposal. "Do you think the United States should send food to starving people in Asia?" gets more votes than the same question with "starving" deleted.

Mr. Roper once ran an interesting semantic test. He matched two groups of people so they were practically identical samples, as proved by asking them various questions and getting close percentage results. He then asked each group a series of questions, identical except that for one group a new and ugly word was introduced, the word "propaganda." The general topic was the usefulness of foreign broadcasts by the State Department.

Interviewers asked Group A "Some people say it is better to explain our point of view as well as give the news: do you agree?" The answer came back "yes," 42.8 percent. Group B got the following wording, *and observe it is substantially the*

[2] Sometimes called "purr" words, or "slur" words.

same question: "Some people say it is better to include some propaganda as well as give the news." The "yes" reaction was cut almost in half, to 24.7 percent.

In Step 4, the director has to decide whether to use "closed" questions, "open" questions, or a combination of both. Closed questions are those to which the respondent answers "yes," "no," "don't know," or selects one reply from a number of alternatives. For instance "If the election were held today would you vote Republican . . . Democratic . . . Don't know. . ." The "don't knows," or D. K.'s, used to go down the drain in some of the polls, but now their importance is emphasized. Public ignorance of certain questions can be measured by the percentage of "don't knows." Percentages based only on those who indicate a preference, adding up to 100 percent with the D. K. vote excluded, can give a strongly biased conclusion.

An open question, on the other hand, is not so clean-cut as the closed variety. It gets in shades of opinion and also may show intensity. The interviewer starts with a big general question and works down to cases, encouraging the respondent to express his views in his own words and think all around the topic. For instance:

"What do you believe will happen to prices in the next year or so? . . . Why do you think so? . . What are you doing about it in your own buying? . . ."

Open questions are often a better measure of public opinion, but the interviewer must be better trained and work harder, with a much tougher job of coding and note-taking. Instead of ticking off a "no," "yes," "don't know," he must take down nearly all the respondent says—and most of us like to talk.

Another rule in phrasing questions is to ask only one thing at a time. "Do you think it wise these days to put money into real estate and securities?" is bad wording. George Adams may favor real estate and be afraid of securities, while his banker holds the opposite view Split it into two questions

The one time when it seems permissible to load a question is

in polling for the extent of prejudice. The usual impersonal questions about race and religious prejudices will not be answered honestly. Many Americans are ashamed of their feelings about Jews or Catholics or Negroes. They will give stereotyped replies based on the Declaration of Independence. But when the interviewer says: "Well, we're through with that. Now tell me what you *really* think about those so-and-so's?" prejudice emerges from its dark den Marie Jahoda has reported that this technique may cause a 25 percent shift.

Miss Jahoda also says that when parents are polled about corporal punishment, 80 percent give the textbook response: they are against it. But when followed up by a probe of actual behavior 70 percent of the same people are found not to be sparing the rod.

Step 5· The Test Run

After we have the question worded to our satisfaction, the next step is to put it into the wind tunnel and measure reactions. This gives us the "feel" of what to expect in the larger project. In a study which I followed closely, 22 questions were tried out on a preliminary group of 100 people. The ultimate sample was to be 5,000, for a universe including all United States adults. In this sample of a sample, the interviewer took down replies in full and asked respondents to explain what they meant by all their answers Thus cloudy wordings were identified and corrected before the final survey.

Step 6. The Interview

Poorly trained interviewers can ruin everything we have arranged so far—the universe, the sample, the wording, the test run It is easier to train an interviewer for closed questions than for open, but good judgment is always required. He needs it, to get people talking (As a matter of current practice, most interviewers are not he's but she's—intelligent matrons working part time.)

An interviewer on an unemployment survey must never say:

"You're not working now, are you?" but always. "Are you looking for a job now, or are you waiting for a while?" Thus the respondent is permitted to keep his pride. Also an interviewer must never put answers in the respondent's mouth "Do you say that because of the high cost of living?" will cause many a respondent to follow the leader with, "Sure, that's why." Then bias is in.

Four main causes can make trouble in the communication line between interviewer and respondent: (1) deliberate misstatements, (2) pretense, the respondent assumes a special role for the interviewer's benefit, (3) psychological blockages in the respondent, (4) honest mistakes

Some respondents try to influence poll results. This is especially true of community leaders who want to make a good showing for the town's schools, or crime record, or whatever the question is. Unless the ground is well prepared, a troop of interviewers invading a small community will start a blizzard of rumors. To cite a case After all the families in "Springdale" had been briefly contacted by a team, two contradictory rumors spread through the town the interviewers were FBI agents, no, they were communist spies!

The Fund for the Republic retained two big polling agencies to find out what was worrying Americans in the middle 1950's.[8] It appeared that we were not nearly so much upset about Communists in the State Department, or even in Russia, as we were about our jobs, our health, and our families. Each agency, of course, had its own squad of interviewers, but they asked the same questions of different respondents. Both groups of respondents represented samples of all adult Americans. Here was a rigorous test of the technique of interviewing, but it was brilliantly met. The results, when tabulated, were almost identical.

STEP 7· TABULATING RESULTS

Interviewers have made the rounds, and sent their notes to the central office. The modern method is to make punch cards, one

[8] Samuel A Stouffer, *Communism, Conformity and Civil Liberties.*

per respondent, and let a computing machine tabulate them. In practically no time at all it will sort and count the cards in as many ways as the director desires.

Attaching equal numerical weights to all responses and adding them, performing least squares and other fancy mathematical operations upon them, could result in a fearful hash. The data should be kept relatively simple For depth interviews—where the respondent gives the interviewer the whole background of his answers—statistics must be used with great caution. These data are still beyond the mechanical level, a handicraft job for highly skilled interviewers. Depth interviews are also the only way to find out *why* people hold the opinions they do.

Step 8. Reporting the Final Result

The director of the survey now takes the figures, discusses them with his staff, and sits down to write his report for client or press. An advertising client may be handed a special market survey of how his new TV set is liked, while George Gallup's reports have been widely syndicated in the newspapers.

The report must explain clearly not only what the figures show, but also what they do *not* show. The common habit of generalizing from insufficient data can raise havoc with any poll not carefully guarded. The director must repeatedly caution his readers against generalizing the findings to a different universe from the one being measured. For instance, if the universe is *Iowa farmers,* guard against extending the results to *United States farmers.*

A Look at the Future

All the eight steps are now under scientific microscopes. The *sample* is increasingly subjected to mathematical analysis and verification. The *questions asked* are being developed from a static to a dynamic phase, registering changes in opinion through time. Louis Harris, with the Roper organization at the time, described the progress of polling to me.

We began years ago, he said, with a simple yes-or-no. *Do you approve of UNESCO?* Anwer yes or no.

Then we discovered the critical importance of "don't knows." A lot of Americans had never heard of UNESCO

We went on to "cafeteria questions," where the respondent is asked to select one·

Do you highly approve of UNESCO? Mildly approve? Mildly disapprove? Highly disapprove? No opinion?

We experimented with such multiple questions, using the *index* method and the *scaling* method. Sometimes we arrange a series of questions all bearing on a single topic. Take, for instance, race prejudice. We put, "*Do you approve of complete segregation?*" at one end of the scale, and "*Do you approve of mixed marriages?*" at the other end. In between are a number of questions registering reaction to such things as desegregation in schools, F E.P.C , Negro players in big league baseball, joint housing facilities, and so on—all in scale between the two poles. The result gives us a deeper insight into the respondent's feelings.

The "panel" method is used more and more to follow shifts in feelings. We used to ask a sample what they thought about a given topic, say on January 1, and then ask another sample on June 1. Now we ask the *same people*· they are the panel. Ask 1,000 people on January 1 if they approve of admitting Red China to the UN. Ask them again on April 1, and again on August 1. This gives us a picture of change, and it develops interactions The technique can be used to bring out the various pressures and influences which bear on the respondent and influence his opinion—such as his trade union, his industry, his church, his region.

We are a long way from the old "yes-no," said Mr. Harris, though we still use it for some questions, but we still have a long way to go Harris believes that ultimately a great deal will be discovered about human behavior by the panel method.

Here are some areas where opinion research was especially active in the mid-fifties

Consumer opinion. Paid for by advertisers, businessmen, government. It includes product research, design research, impact of advertising, behavior of consumers in the market, cost of living, TV and radio ratings.

Worker opinion. Paid for by management and labor unions. How employees feel about the boss, the company, the union, the foreman, their jobs.

Public opinion. Paid for by government, foundations, the mass media, business. Includes popular opinion on United States foreign policy, international problems, internal security, political pressures, studies dealing with the fear of communism, behavior in disasters, education—a long list.

A significant report on political pressures was made by a group of social scientists who conducted panel studies in Elmira, New York, covering the 1948 elections.[4] Results have formed the basis for a startling hypothesis about the workings of political democracy, upsetting many cherished ideas of the past We will save the story for Chapter 24, which deals with political science more specifically. Enough that it shows how opinion research, as conducted by qualified experts, can fertilize new political, economic, and social theory.

We will let Samuel Stouffer sum up the subject. Polls, he says, can replace myths with facts when people are discussing current political questions in press, radio, TV, or barber shop. "We, as social scientists, have an obligation to make the tools better and better, and we as citizens have the obligation in and out of government to see that these powerful instruments are wisely employed . . . There is no turning back."[5]

[4] See Berelson, Lazarfeld, and McPhee, *Voting*

[5] *Scientific Monthly*, December, 1946.

19

Is Economics a Science?

"The Republican congressional leaders are preparing to go ahead with their plan to cut taxes, but economists disagree as to whether a reduction would be inflationary or deflationary. Those fellows have the whole thing down to an inexact science."

As one who has written several books on economics, I confess that my mirth at this crack in the *New Yorker* is somewhat forced. Our "science" is fortified with many learned theories and many impressive curves and graphs, but repeatedly it proves unreliable for prediction, the acid test of science as we have seen. George Soule once wrote a book called *The Useful Art of Economics*, but one may ask—and many do—how useful is a body of doctrine which says that things will go up which then go down, or will go down which presently go up?

Despite the frequent failure of prediction, economics is a popular subject, with flourishing departments and business schools in the universities. It wins great attention in financial sections of the newspapers, and is pursued in magazines, monographs, and books without number. If, for the purposes of discussion, we divide the field into three parts, General Theory, Special Theory, and Practical Economics, a pleasanter and more revealing landscape appears

The two big General Theories in the world today—Ricardian and Marxian—are dogmatic, contradictory, and not reliable for prediction. What the theory says will happen usually does not happen.

The Special Theories cover a more modest area—like Berle and Means's discussion of the evolution of the modern corpora-

tion, Colin Clark on the tertiary trades, Keynes's analysis of business depressions. These are capable of verification, and close to social science.

Practical Economics, or the use of economic tools, is often excellent, and a great help to government administrators and businessmen in planning and forecasting their operations. The United States economy in World War II, as we shall see, would probably have jammed without the work of economic administrators and statisticians.

All three departments, however, lose by their failure to draw on the behavior sciences—especially the General Theory department. Economists have worked late, employing some high-powered mathematics, trying to find dependable laws for the behavior of money and prices, without sufficiently realizing that prices often fluctuate with the way people *feel* about the situation—a phenomenon in behavior.

A scientist armed with the operational definition would look in vain for any world of economics functioning according to a system of laws of its own. He can find only the behavior of people—as workers, consumers, managers, borrowers, lenders—concerned with getting a living, achieving security, protecting the family, fortifying their egos. He can record and classify this behavior in a number of ways, such as:

Producer behavior—on the farms, in the crafts, factories, mines, laboratories.

Financial behavior—first in the form of barter, then in the invention and use of money, followed by the scramble for the division of the money income in a given society.

Consumer behavior—the impulse to spend or not to spend, the impact of advertising, the stimulation and satisfaction of wants, and so on.

It all goes back to people's needs, drives, desires, fears, hopes for security—psychological incentives. Recall again the girls in the relay room at Hawthorne This is the reason why the Big Theories ring so hollow. They either leave out human be-

havior altogether or assume a psychology which does not exist in flesh and blood. They speak of "other things being equal," when things are not equal, and of "self-evident truths," which cannot be proved.

Fifteen Forecasts

To illustrate the inadequacy of much economic theorizing, suppose we glance at some confident predictions of recent years.

1. Following the prompting of leading bankers and financial experts, Britain returned to the gold standard after World War I. They were confident it would restore her economic position in the world. It did nothing of the kind. After six years of steadily accumulating financial difficulties Britain abandoned gold in 1931.

2. When the U.S.S.R. proposed her first Five Year Plan in 1927, it was ridiculed by economists in London, Paris, and New York. The U.S.S.R. was bankrupt, they said, and where would she raise 60 billion rubles to invest in capital assets? Where would the money come from? At the end of five years the factories, power dams, railroads, transmission towers, schools, housing developments, steel plants were there, ugly, solid and substantial, as planned. Where *did* the money come from?

3. In 1928 there were almost no economists in the United States who saw the looming depression. On the contrary, many were coming to believe that the business cycle had been smoothed out and permanent prosperity reached.

4 After the stock market collapse in 1929, few financial experts would admit that it was more than a little swerve—and a healthy one at that. Prosperity, we were told, was "just around the corner."

5. In 1935 a noted financier and economist announced that unless the federal budget were promptly balanced, a dire inflation would ruin the nation. I remember it well, because I debated the question with him before the Economics Club of New York. He won the debate hands down, but the budget was not balanced and the inflation he predicted for the 1930's never came.

6. When Hitler proposed to rearm Germany, the cry went up from the highest authorities: "Germany is bankrupt, she cannot even pay reparations; Hitler has no gold or foreign exchange; where will the money come from?" So the rest of us breathed easier to think of ragged, bankrupt Hitler.

7. A leading economist cited by Beardsley Ruml said in 1937 that unless federal expenditures were brought into line with revenues, the interest rate would rise to 6 or 8 percent. Deficits continued as before, and the interest rate continued in the deep freeze.

8. In 1940 economists affirmed that with a federal debt of the staggering proportions of $45 billion it would be difficult if not impossible to finance a program for defense and rearmament. It proved, on the contrary, surprisingly easy. In 1940, indeed, there was not an economist in the country—including your author—who would have dared to suggest that the United States could shoulder a debt of $280 billion by 1945.

9. As we entered the war economists sternly bade the nation choose between guns and butter, we could not have both We got both—the mightiest assortment of guns in human history, and a total volume of consumer goods slightly greater than before the war, though differently divided among the population.

10. In the fall of 1941 a flood of articles and news stories assured us that Japan presented no real danger. The long years of war in China had exhausted her resources, she had no gold and was nothing but a hollow shell economically. The attack on Pearl Harbor came as these pronouncements were at their height. The hollow shell gave us a painful amount of trouble for more than three years.

11. In 1943, the Bureau of Labor Statistics estimated that there would be 7 to 12 million unemployed six months after the war's end. The actual number in March, 1946, proved to be 2,710,000. Unemployment during reconversion never went above three million.

12. Early in the war economists were having nightmares over

what they ominously called the "inflationary gap." The gap never opened—not, at least, in any ominous way. Citizens did not spend their money the way economic theory said they should.

13. Many economists opposed any plan for general price control at the beginning of the war. It was believed to be unworkable and would only make the price situation worse. As J. K Galbraith said· "Standard pedagogy had emphasized this conclusion quite literally for generations "[1] The Office of Price Administration was set up nevertheless, and worked astonishingly well, holding most prices within narrow limits throughout the war.

14. On July 3, 1946, as Congress was enthusiastically dismantling price controls, the National Association of Manufacturers ran full-page advertisements saying·

> If price controls are permanently discontinued, the production of goods will rapidly mount and, through free competition, prices will quickly adjust themselves to levels that consumers are willing to pay. . . . Then as production gets rolling again, supply will catch up with demand . . . prices will be fair and reasonable to all

For at least 20 months thereafter, prices for most goods continued to increase What happened to the leveling power of free competition the NAM economists have never explained.

15. In the spring of 1947 most expert opinion held that the peak of price inflation had been reached, as the merchants of Newburyport made their well-publicized 10 percent price cut across the board. A business survey announced that signs of a business recession were abundant, and that it would strike in the late summer. August came and golden September, and all lines continued their mighty zoom upward.

This melancholy story could be indefinitely continued Business economists, government economists, labor economists, great bankers and fiscal experts, college professors, financial editors, your author—all have missed the boat by alarming margins.

[1] *American Economic Review*, June, 1947

What is the trouble? No other branch of the social sciences which we have been examining has such a record. Reviewing it, one can scarcely be surprised that the man on the street thinks himself an economist as competent as the professors.

There must be some good reason why such grave miscalcu-lations keep coming from serious and intelligent scholars. Var-ious explanations have been offered by members of the fraternity as well as by outsiders. The *Economist* of London has put its finger on one source of the trouble. As perhaps the leading eco-nomic journal of the world the *Economist* speaks with author-ity:[2]

> Economics is a curious science, if indeed it is a science at all. The investigator who digs down through the textbook generaliza-tions in the physical sciences finds at their root a series of facts, checked by carefully controlled experiments, and as accurately known as human ingenuity can compass. The investigator who does the same for economics, penetrating the smoke screen of curves and mathematical symbols, will find not facts, but a series of elementary psychological assumptions checked, if at all, by crude common sense. And, like most assumptions of this kind, he will find that most of them are wrong. . . . It is this lack of a solid factual basis which has brought it about that, while the Army is alleged to be always win-ning the last war, economists are almost invariably engaged in de-feating the last slump. The characteristic of a genuine science is that its practitioners . . . can tell the practical man what to expect around the next corner. Economists may sometimes do the same; but as often as not they have to wait to formulate their theory until the practical man has himself turned the corner. . . .

There have of course been correct predictions. Roger Babson achieved a prodigious reputation by forecasting the great slump of 1929 in his business letter a few weeks before it struck. But observe, if economics were social science, the majority of the profession would have checked his calculations and agreed with him, instead of being practically to a man on the other side of the fence.

[2] July 27, 1946.

As things are now, one faction is delighted at the discomfiture of another school when a forecast fails to materialize. The opponents of John Maynard Keynes were overjoyed when the prediction of the Bureau of Labor Statistics about unemployment after the war proved wide of the mark. But the man on the street took it as one more sign that *all* economists are unreliable. Real scientists take pride in their discipline and are concerned when careful forecasts go wrong. Can one imagine, for instance, a group of astronomers rubbing their hands and saying: "Splendid! Halley's Comet never came around the way he said it would"?

Big Theory: Ricardo

For almost a century, economic theory has been dominated by two schools which largely contradict each other. The laissez faire or classical school holds that the government should keep out of practically everything, while the Marxist school holds that it ought to get into practically everything. The former has been preferred by most American economists, the latter by many European. It is now the official philosophy—if not indeed the official religion—of the U.S.S.R. and her satellites.

Classical theory was first formulated in a comprehensive way by Adam Smith with his epoch-making book, *The Wealth of Nations*, published in 1776. His ideas were refined by David Ricardo early in the nineteenth century, and were summed up in the term "laissez faire"—let things alone. Ricardo became the chief theoretician of the classical school—the economics which my generation was taught in college.

The theory says that when each individual seeks his own interest and is given opportunity to do so, a higher harmony is established, which cancels out the apparent selfishness, coincides with "natural law," and makes for the maximum of wealth and happiness. The intervention of the state is fatal to this harmony, and must be kept to the absolute minimum necessary for law and order Let the free play of the market determine prices,

wages, rents, interest rates, and let profit be the judge of those entrepreneurs who are to survive.

The culture in which Adam Smith, Ricardo, John Stuart Mill, and the other giants of the classical school did their writing was barely past the handicraft stage, with mass production all but unknown.[8] The machine age was in its infancy. an economy of little markets, little mills, and little ironmasters. Classical theory may have fitted that scene—though this is in some dispute—but it fails to fit the world of electronics, jet planes, and billion-dollar corporations.

Ricardo was trained in the London brokerage business, with little first-hand experience in industry. His powerful mind elaborated the imposing logical structure which came to be called laissez faire. The philosophy was never verified but for a century and more students in all the universities of the Western world have been drilled in its syllogisms, and even expected to go out and run their businesses in accordance with it.

Elton Mayo, from his post in the Harvard Business School, declared it impossible to square Ricardo with practical problems in business administration, or in labor-management relations He cited Chester I. Barnard, at the time president of the New Jersey Telephone Company, who complained that he could find no treatise in all economic literature which covered business organization as he had to deal with it day by day. Mr. Barnard finally had to write his own book about it, which he called *The Functions of the Executive*. Worse still, said Mr. Barnard, economists fail to recognize the extreme importance of *organization* as the principal structural aspect of society itself. That is, the businessman is doing something out there in the real world which economists are supposed to interpret, but which they are mostly unaware of.

Society as viewed by the laissez faire school, Mayo continued, consists of a rabble of unorganized individuals striving to serve

[8] Muskets for the War of 1812 in the United States were manufactured on an elementary mass production principle—uniform parts were made and then assembled

the self-interest of each, and yet, by a curious alchemy called "natural law," achieving harmony in the whole. Anthropologists have not discovered anything corresponding to this state of affairs. Ricardian economics "is a study of human behavior in non-normal situations, or, alternately, a study of non-normal behavior in ordinary situations" The number of people activated entirely by self-interest is small. Observe again the 14 men in the bank wiring room at Hawthorne. In Mayo's extensive clinical work over a 30-year period he found that human beings relapse into exclusive self-interest only when society has failed them. Hermits and recluses are examples. Meanwhile Linton fails to mention "natural law" among his universals, and reports no Economic Man, except as an abnormal type.

The laissez faire postulates, in brief, run counter to the culture concept as we outlined it earlier, where man is found to be not an atomistic unit in a human rabble, but an integrated member of a band, group, society, bound together by immemorial patterns. Smith and Ricardo can be excused, for they wrote long before Morgan's initial study of the Seneca Indians. It is harder to explain why their followers have consistently disregarded cultural anthropology, sociology, and social psychology right down to the present day.

Economists Support Mayo

Mayo was an industrial psychologist, but many professional economists now agree with him. As far back as 1914, the late Wesley Clair Mitchell, an outstanding American economist, anticipated Mayo by emphasizing the lack of attention paid to the other social sciences. Economists, he said, have "tacitly imputed to the men whose behavior they were analyzing, certain traits consistent with common sense and convenient for theorizing, especially the pleasure-pain principle. . . ."[4] Meanwhile, psychology has abandoned hedonism or pleasure-pain as a governing principle of human behavior. The economics of both Ricardo and Jevons rests squarely upon it. Yet when hedonism

[4] *Quarterly Journal of Economics*, 1914.

was dethroned by the psychologists, were the theories of Ricardo modified by the economists? They were not, said Mitchell; it was ruled that psychology is no concern of the economist. "Thus economics is said to rest upon the simple facts of choice, and the psychological explanation is said to be a matter of indifference to our science."

This neat elision leaves classical economic theory so purified and rarefied that human nature has no place in it. Mitchell called for a restoration of human behavior as the basis for economic assumptions. Only then, he said, will economics "cease to be a system of pecuniary logic, a mechanical study of static equilibria under non-existent conditions, and become a science of human behavior." This was a daring position for an economist to take in 1914, but everything which has happened in the intervening years has served to strengthen it.

Thorstein Veblen anticipated Mitchell in his *Theory of the Leisure Class*, published at the turn of the century. It was an ironical amalgam of anthropology and economics. He undertook to show how members of the upper-upper class in America helped to maintain status by what he called "conspicuous consumption"—big town and country houses, steam yachts, retinues of servants, diamond tiaras, fox-hunting, and collections of Old Masters. The study dates a bit today, but it was acute observation before World War I, and before the graduated income tax.

Big Theory: Marx

Karl Marx, who published *Das Kapital* in the 1860's, based much of his theory on Ricardo, but with a special twist. Also he relied heavily on the philosophy of Hegel with its "thesis, antithesis and synthesis," which, despite its fine verbal roll is a hard thing to measure

We have already noted in Chapter 4 how Marx developed his theory in a state of emotional sympathy for the poor, and emerged with the principle of the class struggle. He made it an absolute, but anthropologists like Linton find it operating only

under special temporary conditions. Perhaps such a condition prevailed when Marx was haunting the British Museum, but it is anything but universal in the West today. Let the reader run back through the last two chapters dealing with relations between labor and management, and note how many exceptions to the class struggle can be found. There was a vicious struggle between men and management in Jersey Standard for a time, but after 1917 it changed first to accommodation, and then to active cooperation. A truly scientific postulate cannot seesaw like this, it must hold for all conditions, and for long periods, if not indefinitely.

Marx predicted, and Lenin repeated the prediction, that as capitalism developed, the rich would grow richer, and the poor would grow poorer. In America, both groups have become richer, but the graduated income tax shaves more than 80 percent from the income of the very rich. The graduated income tax indeed, both here and in Britain, is a vast machine for the redistribution of income, unthinkable in the Marxian philosophy. The divorce of ownership from management in our great corporations, to be described in the next chapter, is also unthinkable. Capitalism has taken a course utterly different from what either Marx or Ricardo expected, bursting the bonds of both socialistic theory and laissez faire. Ricardo, I suspect, would recast his ideas in line with the facts if he were writing today, Karl Marx was a more obstinate man.

Critical Barrage

With the rise of the behavior sciences, both economic schools have been under increasing criticism. Both tend to be static theories, while economic behavior, spurred on by technological change, is dynamic Both have become "self-sealing doctrines," to use Robert Oppenheimer's phrase, with disciples of each vociferously maintaining that their school is absolutely right, and the other school absolutely wrong.

At a time in the early 1950's when the Moscow radio, in ringing Marxian prose, was calling on the downtrodden peasants of

America to arise and shake off their chains, I was making a survey of the Palouse wheat area in the state of Washington. The State Agricultural College at Pullman reported that the *average* yearly income of farmers in the area was $28,000 a year. After the combines had harvested the wheat crop, the downtrodden peasant and his family got into the new Cadillac and took off for Florida or Southern California.

Is Economics A Science?

We are back at the initial question raised in this chapter, and so far as the two big theories are concerned the answer seems to be "no." When one examines the operations going on inside the National City Bank, for instance, or in the Standard Oil Company of New Jersey, or the Social Security Board, or the Supermarket Institute, or the Hartford Empire Company, or the United Mine Workers Union, or the New York Stock Exchange, or the United States Treasury—the dynamic happenings therein do not correspond to the economic theories about them, either Ricardian or Marxian. The universe of the atom has been described, but not the economic universe—not in such terms that you can make an economic bomb with it. Economic bombs go off, right enough, but nobody knows exactly why.

For 30 years I have been reading economic literature, and as a professional accountant I have had an intimate view of many business enterprises. I have been through all the standard theories—laissez faire, socialism, single tax, social credit, Keynes, the cooperative commonwealth. None of them fits the objective realities which I have seen. Parts fit here and there, but as general systems they do not fit.

I have come to the conclusion that the quest for an economic "system" is a forlorn one, as forlorn as the quest for a complete philosophical system. I have come to believe that prices, wages, costs of production, profits, are expressions of the economic behavior which underlies them—what human beings *do* about them. Such economic behavior, in turn, is only a part of cultural behavior. Economic acts therefore will often be irrational, often

elaborated far beyond the necessities pursued by Economic Man, and quite incalculable on any "equilibrium" framework, no matter how powerful the mathematics.

Probably no human being ever lived who possessed the characteristics ascribed in the textbooks to Economic Man. No society ever existed which followed the "economic determinism" formulated as a cardinal principle by Marx and Engels The perfect "equilibrium" is an economic dream world, beyond space and time. The great words go round and round, but I cannot make them connect except in the most spasmodic and discontinuous way with any reality I know.

Little wonder then that the forecasts often fail to materialize. He who tries to formulate "pure" economic theory is like Alice trying to play croquet with no points fixed The mallet is a live flamingo, the ball is a perambulating hedgehog, and the wickets are soldiers who like to get up and walk around.

If we economists can break away from the notion that there is one perfect, natural, right economic system to which mankind must adhere no matter what the concrete situation may be, our progress in solving specific economic problems should be more rapid. If we can come to realize that economics is only one aspect of the science of man, closely allied with both the culture concept and social psychology, we will abandon quixotic quests for perfect markets, perfect equilibria, perfect states, and concentrate on techniques to halt *this* depression, curb *that* inflation, eliminate malnutrition here, adjust factory conditions to workers there, prepare for automation, raise living standards as the curve of technology rises.

A good share of this book has been dealing with situations which can in one sense be called economic—the experiments at Hawthorne, the strike at Yankee City, the credos of Middletown, the testimony of the polls, the exponential growth of invention. We cannot tear this living fabric apart Human society is all of a piece and a genuine science must treat it so.

20

Some Economic Tools

The mass production industries, like aircraft, chemicals, motorcars, are based on the work of scientists, but few of our economic institutions are based on the work of professional economists. Most banks, brokerage houses, public treasuries, supermarkets, chain stores, labor unions, trade associations, the gold standard, Farm Bureaus—either just grew like Topsy or were blocked out by lawyers.

The founding fathers of economics—Adam Smith, Ricardo, Karl Marx—came along, looked over the scene, and retired to their studies to evolve those massive theoretical structures we have been reviewing; and most students coming later were satisfied to choose which structure they preferred. It remained for Wesley Mitchell to call for exhaustive observation of what is actually going on as a necessary condition for the formulation of theory.

Most American economists, until the great depression at least, had, so to speak, been making poems about business. These often fortified the businessman's morale but did not tell him what to do—as Chester Barnard complained. For advice on that the businessman went to a first-class corporation lawyer, or accountant, or public relations man. (Now he is also going to industrial psychologists)

The depression and then the war put economists to work on practical problems. From this experience came some remarkable new techniques, and the shape of more than one new institution—for example, the Securities and Exchange Commission.

Economists, furthermore, did not work alone but often in teams with lawyers, engineers, statisticians, sociologists.

Here and there, of course, ever since Malthus' famous monograph on population, economists and political scientists have produced sound theoretical analyses of specific institutions Some of them properly belong in the storehouse of dependable knowledge, having far more than historical interest. I should like to outline briefly three studies published in the 1930's that seem to belong in that class They are Colin Clark's analysis of shifts in occupation, the work of Berle and Means on the modern corporation, and J. M. Keynes's study of the causes of business depressions

Conditions of Economic Progress

Colin Clark, British economist, tiring of grandiose economic "systems," produced a solid book of facts and figures entitled *Conditions of Economic Progress*, in which he draws some useful conclusions With a certain irony he quotes Bacon on the title page· "It cannot be that axioms established by argumentation can suffice for the discovery of new works, for the subtilty of Nature exceedeth many times over the subtilty of argument."

To handle his data he invents at least one new concept and one new measuring device. The concept is a classification of occupations and industries on three levels, while the measuring rod is what he calls an International Unit, defined as the average amount of goods and services which could be purchased for one dollar in the United States over the decade 1925-34.

Armed with these tools, Professor Clark establishes two principal points. First, that the world as a whole is a long way from the age of plenty. Only the United States, Canada, Australia, New Zealand, Argentina, Great Britain, and Switzerland had, when he wrote, a standard of living of 1,000 International Units per head per year or better. These countries account for only about 10 percent of the world's population.

Five hundred International Units, or less, was the lot of 81 percent of mankind. More than half the world, including India

and China, subsists on less than 200 International Units. The economy of abundance holds good only in those areas where science and quantity production are energetically applied to both industry and agriculture.

The second point I think is even more important. Colin Clark says:

> Studying economic progress in relation to the economic structure of different centers, we find a very firmly established generalization that a high average level of real income per head is always associated with a high proportion of the working population engaged in *tertiary* industries. *Primary* industries are defined as agriculture, forestry and fishing; *secondary* industries as manufacturing, mining, and building, the *tertiary* industries include commerce, transport, services, and all other economic activities.

In the United States, Canada, Great Britain, Australia, and New Zealand, nearly half the working population was engaged in tertiary activities so defined. They include the professions, as well as what are called the "service trades." In other countries of Western Europe, and in the Argentine, from 33 to 44 percent was so engaged just before World War II.

When a country begins to industrialize, Clark's figures for man power show a relative decline in primary industry (agriculture), and an increase in secondary (manufacturing). After a while the secondary industries reach a maximum and in turn begin to level off. This seems to have happened in Great Britain and France after the turn of the century, in the United States around 1920, in Germany in 1925. Thereafter—except in the special circumstances of war production—only the tertiary industries, the service trades, can be expected relatively to expand. Common sense agrees with scientific analysis in this conclusion. As the machine contributes more energy, human beings are bound to contribute less. The number of jobs will increase in intellectual and clerical fields—the professions, education, recreation, government work, and the services generally.

This is a conclusion of great importance to the economic fu-

ture of the world, and one as yet inadequately appreciated. It amounts to a formula for a mass production society, close to a scientific law. It is close enough for me constantly to advise young people that tertiary occupations offer the widest opportunities for future careers. It is close enough to encourage the government of Puerto Rico to launch an industrialization program, in the hope of getting surplus workers out of the sugar cane fields, where unemployment has been rife, into factories, and ultimately into the service trades.

Modern Corporations

Adolf A. Berle, Jr., and Gardiner C. Means in *The Modern Corporation and Private Property* contributed another conclusion of long-term importance. They took a hard look at big American corporations in the era of President Coolidge: what they owned, what they did, how they priced their products, who owned them, who controlled them. The 200 largest nonbanking companies in the country were selected, companies which together accounted for nearly half of all business activity. Means as an economist assembled the corporate statistics; Berle as a lawyer assembled the legal status or analyzed the lack of it.

One effect of the study was to shatter various economic "laws" of both Marx and Ricardo. The great corporations—United States Steel, International Harvester, and the rest—had little in common with laissez faire theory. The legal owners, or "capitalists," were found to be virtually stripped of their power by a new elite of self-perpetuating corporation managers, who controlled the vast properties without owning them—something Marx had never dreamed of. The leviathans thus were left swinging in a kind of property vacuum. As the authors put it: "Ownership of wealth without appreciable control, and control of wealth without appreciable ownership, appear to be the logical outcome of corporate development." A voting proxy is not a means whereby an owner of corporate stock controls his property, but a means whereby control is taken away from him. If

he gets his "conventional dividend," however, he does not normally complain.

For the 200 corporations, control was found to lodge as follows:

In self-perpetuating management	44 percent
In legal devices, including pyramiding, non-voting stock, voting trusts	21
In minority interests	23
Total control without majority ownership of stock	88 percent

Thus property has come to be a different thing, and ownership a very different function, from most textbook stipulations In many cases the great companies were found to be beyond and above the free competitive market. Either they were outright monopolies, or they practiced "monopolistic competition" like the great tobacco or motor car companies—a condition called by the awkward name "oligopoly" in another famous study, by E. H. Chamberlin.[1]

Gardiner Means, in a later analysis of prices in the depression, showed conclusively that prices in markets where there was active competition among small units like farmers, tended to fall as demand declined. The "law" of supply and demand worked. On the "administered" markets of great corporations, however, as demand fell, output was curtailed, workers were laid off, but prices were substantially maintained. Supply and demand did not work.

Keynes and the Great Depression

John Maynard Keynes first came to public attention when, as a young man, he wrote *The Economic Consequences of the Peace*. He took a gloomy view of the Peace of Versailles after World War I, and later events, culminating in the rise of

[1] *The Theory of Monopolistic Competition.*

Hitler, turned out to be even gloomier. He wrote with wit and precision, and was widely read through the 1920's, but the publication of *General Theory of Employment, Interest and Money* in 1935 made him world-famous. Hardly a professor could write a paper without discussing him pro or con. For a time it looked as if he were to join the ranks of the Big Theory men, to stand with Ricardo and Marx as a scholar who offered an answer to every economic question.

Now, a generation later, we are realizing that his contribution was more modest He analyzed brilliantly what happens in a business depression, and went on to demonstrate how to prevent or halt depressions. He analyzed the up-phase of the cycle too, and showed how to check inflation His slim volume, *How to Pay for the War*, contained suggestions for curbing inflation which all belligerent governments put to use in some degree in the 1940's, with the result that inflation was better controlled than during any other war in history (Later it broke loose when the controls he recommended were relaxed.)

Keynes outlined what has been called the "compensatory economy," whereby the business cycle can be leveled out in peace time. The government engineers it, but businessmen and unions cooperate. The basic idea is to promote spending vigorously when the economy starts down, and vigorously restrain further spending and expansion when the economy starts soaring toward the stratosphere. He outlined the various tools to be used, such as public works, interest rates, controls on consumer credit, taxation policy, and so on.

His major thesis was that "the spending of income does not take care of itself automatically in such fashion as to tend constantly toward full employment"[2] He denied the Ricardian assumption that it did. Keynes said, in effect, that when an economy starts up, or starts down, in a major movement of inflation or deflation, political and business leaders had better

[2] I am following Dr John Maurice Clark's analysis of Keynes, in an article for the *American Economic Review* in 1947.

do something about it, not fold their hands and wait for "natural law" to set things straight.

In a downswing, if consumers have no money to spend, and businessmen are afraid to spend for new investment, then the government had better spend. This policy was as reasonable as it was heretical from the Ricardian standpoint, for it contravened a major postulate of laissez faire: that intervention by the state is an absolute evil. But Keynes was no Marxian either; to the day of his death he was a vigorous defender of free competition whenever and wherever it would work.

He emphasized that men in bread lines, not prices in the market, are the more significant economic data. He split the academic guild wide open, and created a ferment among professional economists which rivaled the ferment Einstein had created among the physicists a generation earlier. He formalized a feeling which many economists were beginning to share, namely, that Ricardian theory did not fit reality closely enough to warrant following its principles in a major depression. Meanwhile not many economists, especially in America, were prepared to embrace Marxism as an alternative; it too was founded on exceedingly shaky assumptions, as we have seen. Keynes came to the rescue with a middle-road, pragmatic program which said in effect: "Don't stand there hoping for a god from the machine; *do* something!" And he made some excellent suggestions about what to do. It may well be that because of his work, no large nation will ever again submit to such a catastrophic depression as that of 1929-39. J. K. Galbraith, speaking of the United States, after the promises of the Republican administration to halt a downswing in 1954, puts it this way:[8]

> There is a widespread notion that one of the most primitive of modern ideological choices is whether a government shall be Keynesian or not. In fact, faced with the reality of a depression, this comes to nothing more or less than a choice of whether or not to commit political suicide. . . . No present or future administration really has the non-Keynesian choice, come a serious depression, of

[8] *Economics and the Art of Controversy*

trying to balance the budget and letting nature, unemployment, farm prices . all take their course.

Keynes offers national administrations anywhere a three-point formula to stop depression: (1) lower taxes so that consumers can spend, (2) liberalize credit, (3) promote public works. It is to be presumed that no administration will refuse the gift after the harrowing lessons of the Great Depression.

While Keynes discussed in his writings the "propensity to consume," and the "propensity to save," which look like psychological factors, it is doubtful if he ever really grasped certain fundamentals of economic behavior. He was primarily an economist, not a sociologist. His economic theory did not allow, for instance, for the behavior of housewives after World War II. His school looked for a sharp depression when war spending stopped; estimates ran up to ten million unemployed in America unless the government took vigorous compensatory action. No action was taken, and unemployment never went above three million. Why? Because five long years without durable goods —refrigerators, washing machines, houses, automobiles—had built up a tremendous spending drive in millions of American households. Consumers descended on the market after the war like a tidal wave, bought everything in sight, and clamored for more. It would be hard to find a better illustration of the frailty of economic theory without the study of actual behavior.

New Deal Philosophers

"The New Deal" is a label covering a series of congressional and administrative acts over a period of about seven years, 1933-40. The people who originated and refined these acts— the FDIC, SEC, AAA, TVA, and the rest of the "alphabet soup" as critics called it—had no settled economic philosophy at all. They were trying to stop the depression with any means which came to hand. Their efforts undoubtedly helped to stop it, but not until the war boom of 1941 was unemployment finally liquidated.

Two main ideas struggled for mastery in the ranks of the New Dealers. I used to sit in at some of their conferences and listen to the uproar. One group was for accepting Big Business, Big Labor, Big Government, and proceeding from that base with big overall planning. The other group, heavily influenced by Mr. Justice Brandeis, was for curtailing Big Business, enforcing the antitrust law, getting back to the grass roots and small units. Thurman Arnold was one of the leaders of the latter school, with his spirited campaign against monopoly.

There was, accordingly, no ideological unity among the New Dealers, no strong group of embattled followers of either Ricardo or Marx. There were some followers of Keynes, especially in the analysis of savings and investment. There were deliberate attempts, such as the Public Works Administration, to keep dollars moving according to Keynesian ideas

Political opponents called the New Dealers "agents of Moscow." The actual agents of Moscow, with headquarters in Union Square, New York, called them "lily-livered liberals," "social fascists," and "agents of Wall Street." History, I suspect, will record that the period was marked by intelligent young men, some with degrees in economics, some with degrees from law schools, working 14 hours a day trying to find food and employment for a stricken people, trying to make the economic wheels go round again. In Middletown, we remember, a quarter of the population was on relief.

PRACTICAL ECONOMICS

We have looked at the two Big Theories, Ricardian and Marxian, and retreated in some disorder. At best they are social science$_2$—unverified hypotheses. We have inspected the less lofty formulations of Colin Clark, Berle and Means, Keynes, and found them helpful for a better understanding of what is going on—not *all* that is going on, but some of it.

Now we will sample some of the significant work performed by economists during World War II; work not only useful

but soundly scientific and capable of prediction. After the attack on Pearl Harbor, a large number of professional economists and statisticians volunteered for public service. Their activities were divided into these main groups (1) Price control and rationing, (2) The allocation of materials, (3) Techniques for financing the war, (4) Manpower mobilization, (5) Economic intelligence—such as finding out the economic condition of the enemy, and preclusive buying to keep strategic materials out of his hands.

Galbraith gives us a lively account of economists in action, especially in the price control board[4] "During the second World War the United States, partly by improvisation, partly by plan, developed a system for mobilizing economic resources that, by commonly accepted standards of performance, proved highly satisfactory." In common with most belligerents, the United States employed the "disequilibrium system," by which Galbraith means that the normal market economy was suspended for the duration. Old motivations were supplanted by new forces for determining economic behavior, among them government control over economic resources and over prices, including rationing.

Ordinary market incentives proved largely useless. Automobile makers, for instance, would not voluntarily convert to tanks and bombers even when guaranteed large profits. Similarly, steel makers declined to enlarge their capacity. Finally, the government through the War Production Board had to lay down the law, telling automobile men and steel men what they must do if the war was to be won.

As prices on many markets had long since been "administered," i.e., kept in line by business management, Galbraith found that in this case "price fixing presents no problem of principle, and the war experience came close to showing that such markets are not the exception . . . The designing of price regulations to fit the structure of such markets and their enforcement was the price administration's ablest piece of craftsman-

[4] "The Disequilibrium System," *American Economic Review*, June, 1947.

ship." Thus the thesis of Berle and Means was amply verified. When war came, the government took over the control of prices from the large corporate or trade association interests which for years had been exercising that supervision, and the transition was relatively smooth.

In those markets where free competition still remained, "price control must be supplemented by rationing. In spite of brilliant initial successes, this was the area of . . . failure in the operation of the disequilibrium system." But the failure was not the fault of the economists. The early rationing programs were ably conceived and ably executed. "A good case could be made that the rationing of meats, canned goods and fuel, were among the outstanding administrative achievements of the war." Meat rationing, in particular, brought order to markets which price control without rationing had reduced to chaos.

Price control, guided by such men as Leon Henderson, Galbraith, Donald Wallace, and John M. Clark, achieved brilliant success in holding prices. It was designed, launched, and administered largely by economists. Yet while it was in full career, Congress suddenly banned professional economists from holding administrative positions! Presumably they had never met a payroll, and did not know what they were doing. This was a savage thrust at social science. Scientists were not only saving the country's morale by holding prices firmly, but also saving billions of dollars for taxpayers. Yet Congress banished them to Siberia.

GNP

The letters GNP stand for Gross National Product, which is an elaborate statistical compilation to estimate the total dollar value of goods and services turned out by a nation in a year. It is a rate of work and so a useful figure for peace as well as war, indicating levels of production, employment, and general economic well-being. A whole complex of studies have clustered around GNP. Isador Lubin believes that war production could not have reached the volume it did without this statistical information. He credits its inception to Wesley Mitchell's work on

national income at the National Bureau of Economic Research years before.

Thanks principally to the GNP studies, everybody who is interested in the economic shape of his world now knows that there are three, and only three, agencies which can spend money: (1) the ultimate consumer, (2) the businessman, (3) the government. Gross National Product is the total of their combined efforts. If the total begins to shrink, the first step is to find out which agency is curtailing its outlays, and why. The second step is to offset the shrinkage by stimulating one, or two, or all the agencies. This is the heart of the "compensatory" program for maintaining permanent prosperity.

Keynes, like Einstein, introduced the idea of relativity into his science. An increase in government spending at a time of full employment is an invitation to harmful inflation, but an increase at a time of serious unemployment is a blessing. More money placed in the hands of business when investors are alarmed by fears of depression will not "trickle down" to the consumers, but will remain frozen. When business investors have confidence, the reverse is true. It all depends upon when, and by whom, the spending is done—the judgment is relative, not absolute.

Other War Activities by Economists

Stacy May headed a brilliant statistical group in the War Production Board that not only helped to find raw materials, but calculated the proper allocation between essential and less essential uses. The central control agencies, such as the Requirements Committee and the Controlled Markets Plan, were largely devised and staffed by economists, including E. S. Mason, W. L. Thorp, Clair Wilcox.

Then there was a series of Anglo-American economic control boards, some headed by economists like Thomas Blaisdell. There were economists in the War Shipping Board, in the Office of Defense Transportation, in the Board of Economic Warfare, in the Treasury advising on war loans, in the Bureau of the

Budget and in the Federal Reserve Board. Chairman Marriner Eccles was himself a profound student of economics.

The war called for all the analytical and administrative talents which classroom teachers of economics had ever concealed. It gave them full scope to show what they had in them. They responded magnificently but they worked within a closed system. The *end* was given: to win the war. Only the means were sought. This wartime experience, however, represented an important stage in the relation of economists to society. Thousands of them streamed across the bridge from uncertain theory to practical reality.

Some Financial Lessons of the War

Perhaps the major economic lesson of the war is the one underlined by the International Labor Office at its 1946 convention in Montreal: "A nation can afford anything it can produce." If this lesson had been learned before the stock market crash of 1929, there never would have needed to be a serious depression. Factories and workers were all there, ready to produce. But in 1929 it was believed that the country could not "afford" to let them go to work. This catastrophic cultural lag has now been pretty well overcome.

Beardsley Ruml continues the theme.[5] New discoveries due to war have not been limited to the natural sciences, he says. Great advances have also been made in the fields of finance and economics. The full impact is not yet understood, but we "know enough to know that some things which many competent people thought were true, are either false or true in a different way than was believed." For instance, during the 1930's most people believed that a budget deficit must have an inflationary effect Now we know that this is not necessarily so.

"The plain fact is," says Ruml, "that the war was actually financed on a declining rate of interest. What does this mean? It means that a *new relationship* has been created between the private money market and the national state." To meet its ex-

[5] In a speech to the New York Employing Printers' Association in 1946.

penses, a nation can either tax or borrow. Borrowing postpones the tax. In the past this has meant higher interest rates charged by the private money market as the national debt has grown. Thus up to 1940 the private market—in the United States we call it Wall Street—dictated the terms for government loans, and usually dictated the tax structure.

In World War II this system was outgrown. Financing became too great for private lenders to handle. Private bankers no longer have the final word on the fiscal policies of the United States government, and control, says Ruml, must henceforth come from the whole community, not from private lenders. Washington, not Wall Street, is now the financial center of not only the country but the world. "It follows that our federal government has final freedom from the money market in meeting its financial requirements. Accordingly the prime consideration in the imposition of taxes has become the social and economic consequences"

It is interesting to note that while Ruml was describing this great historic change in the relative positions of Wall Street and the Treasury, Communists in Moscow were reviving their ancient slogans to the effect that Wall Street was out to dominate the planet. The Communists suffer more from cultural lag than many American conservatives.

Perhaps there is nothing to be called an "economic system" and therefore no laws foretelling its overall performance. But if somebody wants to operate a Central Bank, or float a bond issue, or finance a war, or halt a depression, or arrange an international loan, there are many useful tools now in the hands of economists to assist the process.

Both the great depression and the great war shook economists out of their classrooms into the market place—the real market, where they had to face the National City Bank, United States Steel, Henry Kaiser, John L. Lewis, Ed O'Neal of the Farm Bureau Federation, and the embattled Cattlemen's Association. Their classroom theories were of little use to them in the

"disequilibrium" system, but their habits of analysis and of suspended judgment, their ability to handle statistics, were of the greatest value. They got rid of their academic frustrations[6] by experience in practical policy-making and administration.

[6] ". . Long-standing frustration on the part of many economists that economic theory gave no answers to questions of economic policy . . ." Paul T. Homan in *American Economic Review*, December, 1946.

21

New Dimensions

We have applied the test of the scientific method to three departments of economics—General Theory, Special Theory, and Practical Applications. The first was found to be shaky, but the other two stood up well. Let us now look at some experiments, hypotheses, and studies in the economic field today which are opening a new dimension in economic thinking.

Operation Bootstrap

The island of Puerto Rico is smaller than the State of Connecticut, but has a larger population. It is a beautiful, mountainous island, with sugar fields along the coasts, white beaches, palm trees, old Spanish forts, and the incredible colors of the Caribbean sea all around. Those economists who have been fond of erecting theories with Robinson Crusoe's island as a model—a two-man economy—might turn with more profit to Puerto Rico, where they find a two-million-man economy.

"Operation Bootstrap" is an attempt to shift from a one-crop sugar culture to a diversified industrial society in a few years' time and do it without exploiting workers or surrendering democratic freedoms. It took the United States nearly a century to become a society primarily industrial. Political democracy was maintained, but the condition of workers in factories and mines, especially in the early years, left a good deal to be desired. It took the U.S.S.R. forty years to become a great industrial nation, for which the Russian consumer paid a heavy cost in low living standards.

In America our economic slogans have celebrated the indi-

vidualism of Ricardo, in the U.S.S.R. the collectivism of Marx. But in Puerto Rico we find a more realistic and scientific approach to economic problems. Operation Bootstrap is not "capitalism," or "socialism," or "labor unionism," or any other -ism. Its standard is the well-being of the whole island, using whatever agency—government, private business, cooperative enterprise—best serves that goal.

One would have expected a more ideological approach from the political party of Governor Muñoz Marin, for when it rose to power in 1940, the party was frankly socialistic. Early reforms were along socialist lines, with government corporations set up for both agriculture and industry, and plans for further nationalization on the drawing board. Private owners were to be bought out at a fair price (which is of course not the communist idea of nationalization) and the state was to become the major entrepreneur. The government acquired a cement plant, and built factories for the manufacture of shoes, paper, glass, clay products. It began collectivizing the sugar industry.

Presently the program got into management troubles, labor troubles, credit troubles. The cement plant did fairly well, but the other four state factories showed persistent losses. A serious difficulty was that the labor unions, who thought that a socialistic government was *their* government, expected exorbitant favors.

With the economy beginning to crack, the Governor and his staff abandoned socialism as a policy guide, and inaugurated Operation Bootstrap. They deliberately designed it to encourage the development of private business on the island, and to get the government out of losing enterprises. The five plants were sold to local capitalists who had demonstrated their managerial ability, and the proceeds were promptly used for new construction. Hotels and factories were built, to be leased or sold to businessmen. Proceeds from these were later reinvested in a kind of perpetual revolving fund. Taxes on new enterprises were abated for a series of years, and the labor force required was trained by the government.

Local businessmen and businessmen from the States began to

feel differently about a government which was so mindful of their interests, and good relations grew apace. While I was investigating the program in 1951, I used to hear American businessmen, interested in establishing a branch in San Juan, damn Washington as a nest of interfering bureaucrats, and in the next breath praise the staff of *Fomento* (Operation Bootstrap) as gentlemen and scholars. Their whole ideological mechanism seemed to have gone into reverse.

This was a strange but cheerful shift of gears. It meant that neither the structure of modern business, nor that of government, necessarily prevents friendly cooperation for common goals. The difference is ideological, not structural Also it means, I am afraid, that Puerto Rico has forged far ahead of the mainland in developing this new dimension.

A major goal of the program is to cut down the birth rate, increase employment opportunities, and so reduce emigration to congested areas in New York and elsewhere. Industrialization, as population experts have demonstrated, always reduces the birth rate. It also reduces the death rate, especially of babies. I do not know whether this goal of balancing births against jobs can be reached, but there seems to be a good fighting chance. What nobody can overlook who studies the island is that Puerto Rico now offers a unique and significant laboratory for experimenting with economic change and economic behavior.

Other Economic Laboratories

There are other laboratories exploring the new dimension, though none so tidy as that of Governor Muñoz. Sweden has long practised the "Middle Way," with wide areas of agreement among businessmen, government men, and the managers of large cooperative associations. The powerful Social Democratic Party however, is committed to a mild type of socialism, as is the British Labour Party. Turkey provides another interesting laboratory in rapid economic and social change.[1]

[1] The U S S R. has the largest economic laboratory of all but publishes no dependable results The best guess is that it is old-fashioned in labor policy, and very hard on agriculture, but does turn out a surprising volume of munitions

The Tennessee Valley Authority has developed close coöperation with businessmen in the Valley, but not with businessmen elsewhere, especially executives in the power and light industry. The United States Atomic Energy Commission is now promoting joint projects with private business in developing peacetime uses of atomic fission. In the manufacture of aircraft, partnership is well advanced; some 95 percent of all United States airplanes are built in private plants to government order, with the aid of research in government laboratories.

The fact of partnership in common goals is widespread, but only in Puerto Rico has a cease fire in the ideological battle of "Bureaucrats" vs. "Profiteers" been declared.

Countervailing Power

Probably the most arresting economic theory since Keynes is the concept of "countervailing power," advanced by J. K. Galbraith in 1952.[2] Puzzled because the "disequilibrium" system had not foundered, despite the gloomy prophecies of both conservatives and liberals, he sought a theory to explain the relative stability of the American economy in recent years.

Five massive political and economic forces, he finds, have supplied the checks and balances to keep the system on a reasonably even keel. They are: (1) Big Industry, (2) Big Distribution—the great mail-order houses, chains, supermarkets; (3) Big Labor; (4) Big Agriculture—with probably the most powerful lobby in Washington; and (5) Big Government

When one of these giants attempts to dominate the national scene, the others—one or more of them—make a countermove, thus producing in effect a competitive system on the highest level. If Big Industry gets too tough, Big Distribution will build its own factories to cut the price on washing machines or TV sets. If Big Labor thinks it owns the roost, Big Business, Government, and Agriculture may join to slap it down with a Taft-Hartley law If Big Government tries to extend its industrial controls, the others may combine to set a limit. The old com-

[2] *American Capitalism.*

petitive system of small units, says Galbraith, has passed into history; but this supercompetition now provides a brake on excessive power in any one place.

It is a stimulating hypothesis, and is being widely discussed. Verification will have to wait for tangible performance over the years. Like the laboratory in Puerto Rico, the theory of countervailing power takes economic thinking into fresh new fields.

The Concentrates

Adolf Berle in a recent book has pushed ahead with his theory of the development of corporations in America.[3] In his earlier work with Gardiner Means, he demonstrated how control had passed from legal owners to self-perpetuating managers, who might or might not own a share of stock. This demonstration helped to overturn traditional ideas about "capitalism"—as noted in the last chapter.

In the quarter-century since the publication of *The Modern Corporation*, the big firms in America have continued to grow, and owners have become still more detached from their legal property. Competition among giants, sometimes called monopolistic competition, is very different from competition among the little firms of Ricardo's day "It means quite another thing when four or five large units are grinding against each other." In motorcars, only three giants now grind, and if Chrysler is not careful, there may be only two. The few great companies grinding within a given industry Berle calls a *concentrate*. "Competition within a concentrate is more a struggle for power to balance supply against demand, than to secure customers by price competition."

Concentrates are found in oil, sugar, railroads, electric power, meat products, aluminum, chemicals, rubber, and many other mass production industries. Where are they headed? Nobody knows, but Berle ventures some preliminary speculations. "We are nibbling," he says, "at the edges of a vast, dangerous and fascinating piece of thinking." Americans are not used to think-

[3] *The Twentieth Century Capitalist Revolution.*

ing of Big Industry as the political institution which it has now actually become. We have not created any frame of responsibility, any formal mandate to make the concentrates legitimate.

"There is no recognized body of doctrine by which they themselves must test their choice as they act from day to day... no one has ever made a blueprint of the community desired by Jersey Standard, Sears Roebuck, Southern Pacific, Ohio Edison, least of all the corporations themselves."

I would like to pause for a moment here, and quote Mr. Frank Abrams, who as Chairman of the Board of Jersey Standard, once told me something of the future he desired for that vast enterprise. Its mission was to use scientific research to explore new and better ways of providing things that people wanted. It must become a kind of public service, said Mr. Abrams, responsible to at least four publics· to the consumers of its products, to its employees on all levels, to suppliers of its materials, and to government as representing the whole community. Unless Jersey Standard holds steadfastly to this role, Mr. Abrams prophesied, it will not survive—not in the kind of world which lies ahead.

To return to Mr. Berle: he calls in effect for the kind of corporate conscience expressed by the Chairman of the Board of Jersey Standard. Such conscience has not been widely developed. The "concentrates" swing in a legal and political vacuum, turning out half of America's goods, holding enormous interests abroad, "capable of becoming one of the master tools of society—capable also of surprising abuse. . . ." A common abuse today is for a concentrate to pick up and leave a town—say Manchester, New Hampshire—tearing the economic heart out of the community as it goes.

Berle finds that 135 nonbanking corporations control 45 percent of United States industrial assets and account for a quarter of the manufacturing output of the world Their managers decide. (1) the activities of millions of workers—subject to certain checks and balances by Big Labor and Big Government. (2) whether and how to carry on operations, whether to get out

of a city regardless of its future. (3) what markets to serve—either to meet a public demand, or create one. (4) the important function of technological development—for example, deciding how much automation to introduce, and how rapidly. They try (5) to influence public opinion through mass media. Finally (6), managers control the extent and rate of capital expansion, making that cardinal contribution to gross national product (GNP) noted in the last chapter.

The above six powers of management, says Berle, add up to an informal planned economy, leaving the "judgement of the market place" far behind. Some two thirds of the funds for expansion, furthermore, do not come from borrowing in the market place, but from sources within, or available only to, the concentrates—reinvested profits, depreciation and other reserves Of $150 billion of new capital improvements, 1946-53, about $9 billion, or 6 percent, came from stock issues. Only at this point do "we approach the risk capital so much relied on by classical economic theory. The capital is there; so is capitalism. The waning factor is the capitalist"

The concentrates, says Berle, share the goal of most American businessmen: "Fundamentally they all want not a perpetual struggle but a steady job—the job of producing goods at roughly predictable cost, under roughly predictable conditions, so that goods can be sold in the market at a roughly predictable price." They want, of course, to grow in size and power.

Well, there it is, the economic powerhouse of half America, and a quarter of the world, the climax of a long process, markedly accelerated since 1930. Mr. Berle wants the managers to get religion, and feel greater responsibility for their massive institution, now in effect a political institution. Mr. Abrams seems to feel it, so does Murray Lincoln, the insurance company executive and cooperative leader, and one could name a few more. Most managers, one suspects, have little comprehension of the role into which history has thrust them.

Here then is another new dimension, demanding scientific analysis. It connects with the thesis of countervailing power. We

find in the concentrate the essence of America's secret of production. It is indeed a secret in the sense that nobody knows much about the forces which brought it to pass, or the trend it rides To declaim about "our glorious free enterprise system" explains nothing. To declaim about "the blessings of competition," is not much better, until the extraordinary character of the competition, the grinding of the concentrates, and the countervailing thrusts of other institutions, are explained.

"If ever corporation managers base their continued tenure on power and not on reason, the end is disaster." Social scientists have plenty of work cut out for them here. Mr. Berle is of course not alone in the field, others are making contributions too—including acute studies of the new corporation structure by David Lilienthal and Peter Drucker.

Research in Economic Behavior

New institutions obviously cannot be successfully analyzed with the tools of traditional economic research. The behavior sciences, including opinion research, must all be enlisted to help. To begin with, the postulates of the traditional Big Theories need more examination, not necessarily to refute them, but to determine what drives really underlie the behavior we call economic. Will an increase in wage rates, for instance, induce more or less work from the society? The Hawthorne experiments tell us something but not enough. Should a government seeking more output from citizens raise income taxes or lower them, make tax rates more steeply graduated or less? There is plenty of theory both ways, but what are the facts? We need more research on the behavior of unions, the behavior of household consumers—where, for instance, is the do-it-yourself movement taking us?—the behavior of large financial institutions, of government managers, as well as corporation managers.

What does "full employment" mean in human terms? What are the consequences of consumer attitudes on future economic conditions? Is there any saturation point to consumer demands? What is the process by which a new product—TV, for instance—is absorbed? What makes consumers spend or save? The

above questions, raised by a member of the economics faculty at Yale, are fundamental to an understanding of the American economy, and for most of them we have only tentative answers.

STUDIES AT MICHIGAN

George Katona of the University of Michigan, writing in the *Scientific American* (October, 1954), supplies some answers based on sampling United States consumers in recent years. After the outbreak of war in Korea, he says, prices rose sharply, with little increase in government spending or money in circulation—the classical reasons for inflation. But in the spring of 1951, when government spending in the form of rearmament outlays really began to roll, United States householders ceased their panic buying and began to save their money—contradicting traditional theory again. "People's economic behavior appeared to be governed more by their expectation of what was going to happen, than by the situation at the moment."

Katona reports that five sets of variables should be considered when research into economic behavior is undertaken: (1) enabling conditions—assets and income of the group being studied; (2) precipitating circumstances—a new house, a new baby; (3) habits as imposed by the culture; (4) contracts already in force—for installment purchase of the new car, for rent, insurance; (5) psychological state of consumers at the time. "As a result of group identification and mass communication, similar changes in attitude often occur among very many people at about the same time," and so a measurable trend can be plotted

In an economy held to bare subsistence such trends will not appear, as all income goes for stark necessities. As abundance comes in, the definition of a "necessity" expands, and consumers' choices become more complicated. Analysis of economic behavior becomes increasingly essential as living standards rise. Katona offers the following generalizations.

> Keynes said that in prosperous times, people whose income declines will draw on savings to maintain standards. Research shows this to be correct, provided they expect the decline to be temporary.
>
> Keynes said that as consumer income rises, savings also increase.

No, says Katona, our studies show that spending often goes up faster than income. In the period 1947-50, people with rising incomes borrowed the most; people with declining incomes came second; people with steady incomes borrowed least.

Classical postulates say that if people expect prices to go up they will buy; if down, they will not buy. Advertised bargain sales contradict this conclusion, and such sales have a substantial effect on consumer behavior today.

If people think prices are "about right" they will buy briskly; this is the condition most favorable to consumer spending. The current business policy of aiming at price stability, tempered with bargain sales, suits householders.

There is no "saturation point" in buying-as-a-whole, says Katona. If people have enough cars, they will send their children to college "We give up aspirations when we have failed, not when we have succeeded." Following the American success saga, our buying proceeds from one level to another. "Saturation" for most people comes only when they feel economically insecure. (For some of us, however, saturation comes with material comfort Personally I do not want to be bothered with any more stuff, and buy less than I did 20 years ago. But my status in the culture depends on my work as a writer, not on keeping up with the Joneses, and so I am probably an abnormal case.)

The last generalization of Katona's is encouraging. His surveys show no reason to expect a depression automatically following a period of prosperity, but rather the contrary. Consumers do not behave in a way to give the business cycle any regularity of ups and downs. (Perhaps we ought to drop that word "cycle" as a semantic misfit.)

We have learned enough from these surveys, Katona says, to know that "economic psychology very usefully supplements the theoretical and statistical approach of traditional economics." Mr. Katona is too modest. his surveys do not so much supplement the traditional approach as make a shambles of it.[4]

[4] Another fruitful lead in this connection is the work of a team composed of Oskar Morgenstern, economist, and John von Neumann, mathematician, Their book, *Theory of Games and Economic Behavior*, brings the laws of probability to bear on decision-making by executives and other economic agents

Reviewing the art and science of economics today, one finds encouraging signs of a new dimension. Fortified with studies in behavior, in probability mathematics, and aided by electronic computers—as in Leontief's "Input-Output" calculations[5]—some fresh and important economic theory may be close at hand. Galbraith and Berle are obviously on the edge of it, and a whole school may blossom quite suddenly. It will not be grandiose, full-whiskered theory covering the entire economy, but limited, verified theory, which policy-makers in government and in business—and in households too—can put to useful work.

[5] In which the raw material used by every industry is balanced against the finished product of every industry, an impossible statistical achievement before electronics See his book, *The Structure of the American Economy*.

22

Reforming the Reformers

To one who has been advocating reforms of one kind and another ever since he read Henry George on the single tax many years ago, social science in its more rigorous aspects comes with something of a shock. Your author looks back at his enthusiasms and begins to realize that some of his aims were unachievable, and most of his means were unworkable. Clearly he will have to start again from the beginning, and he is not as young as he was.

We are speaking of reformer$_1$, who genuinely wants to see conditions remedied, without too personal a motive. Reformer$_2$, on the other hand, as the psychologists describe him, is a frustrated individual with something wrong in his home or job or emotional life. He takes to communism, currency reform, or technocracy, as an escape from personal difficulties. Reformer$_2$, furthermore, tends to select a cause where he can do a lot of hating—communism, for instance, is ideal for this, with its hierarchy of demons: "Capitalists," "Wall Street," "Imperialist Warmongers," "Trotskyites." The best service which science could render reformer$_2$ would be to clear up his emotional insecurity.

What can social science do for reformer$_1$? A number of helpful suggestions are on file and more are being accumulated all the time. We have met a few of them earlier in this book and will now try to get them in some sort of order. This chapter is addressed to those who seriously want to change an institution or a custom in the culture, especially in the field of economics.

Perpetual Motion Machines

Perhaps the first task for the genuine reformer is to take a look at the history of perpetual motion machines. For centuries, at least as far back as the Greeks, ingenious persons have devoted themselves to a search for the principle of perpetual motion. Some wanted to make their fortunes, others a great name, most, perhaps, were just curious

Whatever their motives, the inventors spent years constructing frictionless wheels, ball-bearing spheres, dissolving chemicals, and mechanical constructs that would amaze cartoonist Rube Goldberg. The wheel which the Marquis of Worcester devised in 1660 was 14 feet in diameter and elaborately rigged with 40 sliding weights of 50 pounds apiece. Even Leonardo gave his attention to a wheel to turn itself forever by quicksilver. The screw of Archimedes, the "hydrostatical paradox," capillary attraction, were all employed by the savants. Crackpots to this very day are working on electronics, magnetism, natural heat, and liquid air, hoping to give their construct a shove which will keep it going forever.

As early as 1775 the Paris Academy of Science refused to receive any more schemes for perpetuum mobile, though the theoretical refutation was still incomplete. When the first and second laws of thermodynamics were laid down a little later, perpetual motion machines were thrown finally into the scientific ash can. Nobody in his right mind would ever again waste time on them—except to sell a gold brick to the scientifically illiterate.

How many social and economic mechanisms for reform—agitated and supported by leagues, societies, institutes, celebrities, mass subscriptions, and high-priced publicity agencies—are perpetual motion machines? Every week as I open my mail and the appeals and summonses to action drop out, I finger them and ponder how much of a perpetuum mobile is this, and had the Marquis of Worcester anything to beat that?

The social scientists have not yet produced generalizations as

elegant and definitive as the first and second laws of thermodynamics, but they have produced enough to raise a large question mark over my mail. They are certainly as far along as the Paris Academy when it banged the door on callers with a box of sliding weights. Already they have chilled my crusading zeal, built up my bank account, and caused me to get a larger wastebasket.

Here is a sample from an aspiring inventor. During the great depression I received literally hundreds of such plans, representing incalculable devotion by their authors.

Dear Mr Chase:

The fateful years prior to and during the late war with their terrible aftermath have impressed all thoughtful people with the pressing need for some basic change in our social system.

In my manuscript, *The Perfect Answer*, I have outlined a plan to eliminate the boom-and-bust economic cycle, as well as the peace and war political cycle. I have also devised a transition period which would ultimately give us the perfect world of tomorrow through a form of evolution allowing complete fairness to all concerned.

Feeling that you would be interested, I am mailing you a copy of my plan. Please send me your comments as soon as possible and suggest what publisher would be most interested in it.

Yours very truly,
Ernest Mead

Mr. Mead—I am shielding his real name—is obviously on the side of the angels. But I am afraid that he was beaten by the laws of the culture concept before he started.

Linton explains in one sentence what is wrong with most Utopias and with such omnibus schemes as Mr. Mead's. "The greatest difficulty which confronts a leader who seeks to develop a new society is that he has to start with persons who have already been trained to live in some other society." The Utopia builder can compose admirable constitutions and codes; but the wayfaring citizen is unable to accept them outright no matter how much he may desire to. "People live mainly by habit, acting as they have been taught to act without stopping to think first."

If we were suddenly transported to Utopia we should have to stop and think before nearly every act we performed, and would go stark mad long before we acquired a whole new set of automatic habits. We should be like the centipede who was asked which leg came after which, only to fall exhausted in the ditch, considering how to run.

Training to live in one's culture, as we have seen, begins at birth. By the time George Adams is even half-grown he has accumulated a mass of unconscious habits closely fitted to his Middleburg society. If George's little son were sent to live in a Burmese village, the boy could probably shift over within a few years. But if a large group of Americans go to live in Burma, they will take most of their culture with them and not even learn the language. The typical Utopian reform is like trying to move a whole American town to Burma and make it a Burmese community overnight. It is a perpetuum mobile. So is the converse, sometimes attempted by missionaries and economic advisers—making a native community behave like Americans.

When Reform Has a Chance

A second fundamental principle for practical reformers is that a successful movement requires enough tension and frustrations in the society to offer political leverage. When the majority of citizens are going contentedly about their business, the reformer had better teach canasta or give a course on the Great Books. A good illustration is the postwar period in the United States. With practically full employment all large plans for housing, health, minimum wages, inflation control, were received with yawns. There was not enough frustration to give such reforms a chance, however useful they might have proved.

A major problem of the reformer is to determine when the lag between popular credos and real need is great enough to promise some success. Franklin Roosevelt, who was far from being a typical reformer, happened to arrive when the lag was long, and a change overdue. Three years of economic paralysis had made the need for jobs, food, security, abnormally great.

The credos of the American culture, with their insistence on self-help, had come to sound unrealistic, if not positively cruel. Action was accordingly possible over a wide front, and Roosevelt and his New Dealers moved briskly in with a whole alphabet of reforms. The tensions and the frustrations were there; and though the old credos began to be heard again on Main Street after 1935, the needs of the mass of the people were strong enough to reëlect Roosevelt repeatedly, a political phenomenon without precedent.

Had Roosevelt been aware of these cultural laws he might have laid his communication lines more wisely and achieved wider agreement. Unfortunately he saw the situation as a fight, good people against bad, when it was not that kind of two-valued situation. He called the "bad people" a number of hard names—"moneychangers," "economic royalists," and the like. Naturally this infuriated the well-to-do; and they heaped on Roosevelt all their depression-born frustrations and fears. If the President had consistently spoken for *all* the people whom the depression had hurt or bewildered, including the upper brackets, and summoned all brackets to move toward recovery and freedom from fear, he might have averted much of the Roosevelt-hating. The point is that the great depression provided one of the few periods in history when a large majority of the people were ready for change.

Class Struggles Again

Many reform movements, as we noted earlier, assume an inevitable conflict between the classes and the masses. Two types of conflict are always latent, though they do not often follow the Marxian pattern. They arise between the individual and society, and between groups inside the society. The individual is kept in line by formal or informal penalties, ranging from ridicule, through ostracism and imprisonment, to death at the hands of the law. The important thing to remember, observes Linton, is that these penalties are rarely used. Most individuals are successfully conditioned to the patterns they are expected to conform

to, and carry them out unconsciously. The thief and the murderer get the headlines, but they are exceptions

In handicraft societies even stealing is rare. Among the Sakalava of Madagascar, for instance, when a person steals for the first time the circumstances are carefully investigated If the thief was actually hungry, he is given land and a chance to reform. If he steals again, he is speared—not in a spirit of revenge but because he has shown himself a public liability.

Struggles between groups, or class struggles, are not frequent in societies where all members have a fixed place in the culture, as noted earlier. They arise when status is being undermined—as the factory system undermined it in Europe in the nineteenth century Factory workers were under continual tension because they had no accepted place—until labor unions were invented to give them one. In the United States status has never been rigid, except perhaps for Negroes. Classes here are mobile, as the proverb "shirtsleeves to shirtsleeves in three generations" indicates. Few Americans care for the role of "proletarian," while the managers of industry, as Berle and Means pointed out, have superseded the "owner" and split the solid front among the "capitalists."

I would venture a guess—a wild one to be sure—that more than half the reform energy in this country over the past 50 years has been directed to a perpetuum mobile. The reformers' research, such as it was, had never included a controlled study of human behavior. Old-line socialists, dimly recognizing this, used to complain about the "dumb" workers who could not be brought to recognize their class interest How could they recognize what they did not have?

In Chapter 12 we observed a few perpetual motion machines in efforts to improve race relations. We concluded that where a caste system exists, as in the deep South, reforms based on logic, justice, reason, are unavailing, while strong-arm measures are likely to boomerang. People in the deep South hold their belief systems as sincerely as people in the North. To them, logic, reason, and justice are on the side of caste. They will fight

any one who tries to destroy caste abruptly or violently. Reformers who neglect these scientific findings are squandering their energy, to say nothing of the funds of their well-meaning subscribers.

Factors of Social Change

W. F. Ogburn, whom we met as a student of social change, advises reformers[1] to figure out the social forces which will aid the change, and those which will oppose it. The next step is to study carefully three factors which are bound to affect any but the smallest change, namely: (1) the natural environment; (2) the biological factor of heredity; (3) the culture, including customs and beliefs.

Natural environment changes only over long periods, but man can control it to a degree by using oil-heated houses, igloos, woolen clothing, umbrellas, air conditioning, snowplows, headlights, deep freezes, TVA systems, irrigation, contour tillage, rain-making.

Human heredity has apparently not changed much since Cro-Magnon man. Eugenic programs to modify homo sapiens deliberately are mostly talk, though we see what might be done in the effects of deliberate breeding on plants, fowls, and race horses. Fortunately, in the present state of knowledge we cannot tamper with our genes, which are singularly well encased against reformers. Even sterilization does not get far, Hitler provided some revolting examples in this department. The genes possessed by different family lines, says Ogburn, are not well known. The best thing we can do now is to reform our diets, especially by the better feeding of babies, and so improve each generation. Already we can measure the effects of orange juice, green vegetables, and plenty of milk on the present generation of American college girls and boys. As a group they are taller, heavier, and larger-footed than their parents.

Moving on to the third factor, culture, Ogburn says that progress can be made if the reformer carefully fits his program into

[1] Letter to *The New York Times*, September 29, 1946.

the folkways and allows for cultural lag—a precaution which Franklin Roosevelt did not take One New Deal reform, however—the Food Stamp Plan—did exactly that. So skillfully did Milo Perkins, its inventor, map his campaign that when the plan was finally launched on a nation-wide basis it was everywhere applauded, without a single vested interest in opposition

Head-hunting, a strong cultural trait in various primitive societies, may lead to rapid depopulation, and colonial administrators are always trying to check it. In Sarawak, British reformers have abolished the active practice but have wisely kept the tribal credos unimpaired. Officials accumulate old skulls as trophies and issue them when needed for a given ceremony. Among the Papuans, meanwhile, bridegrooms have been persuaded to offer a boar's skull to their brides It is pointed out that a boar is harder to bring down than a human, especially a woman or a child, and is therefore a better proof of manhood

These, like the Food Stamp Plan, are examples of really effective reforms. Belief systems are maintained while the harmful practice is eliminated and a better one substituted.

Laboratory for Testing Plans

Such prevision and calculating take time, while the typical reformer is in a hurry. "Unbridled social idealism," says George Lundberg in *Can Science Save Us?* "unbalanced by scientific criteria as to possibilities and cost, is a social liability and in effect a type of fraud on the body politic." The American prohibition law of 1920 was probably of that type. It was promoted, at least in part, by fanatics who lacked the remotest idea of the culture concept and the probable psychological effects of their reform Alcoholism is a social calamity, but it must be controlled by a different strategy.

Social scientists have been at a disadvantage in competition with eager reformers who promise panaceas. But now scientists are getting into a position to tell us not only what won't work, but what might I, for one, would like to see a series of competent scientific reports on such current proposals as

Plans for the control of atomic energy (like the Lilienthal-Acheson proposal).
Restoring international free trade.
Federal World Government.
Calendar revision.
The Social Credit proposals.
A wide extension of Rochedale cooperatives.
Protecting witnesses in congressional investigations.
Installation of the metric system by all nations.
Adoption of a universal language.

Proposals such as these cry for analysis, and every day there is a new one, judging by my mail. Perhaps a permanent laboratory should be set up by scientists to dissect economic and social reforms. It might even be made self-supporting. When an inventor is seized with a plan to save the world, he might take his blueprint to the laboratory, and for say $100, get a report on any stray elements of perpetual motion it might contain.

Inventors of nonpuncturable tires and plastic TV selectors can choose among a number of testing laboratories, to say nothing of patent attorneys, and Consumers' Research and Consumers' Union. Social inventions are much harder to analyze, but a scientific appraisal would be welcomed by those whose goal is benevolence, not hatred, and who really want to get a mess cleaned up.

The Muckrakers

Lincoln Steffens made a significant contribution to political science during the great muckraking era after the turn of the century. He cut through the stereotype of the big, wicked political boss, and gave us the real story.[2] Low-income people in the great cities of the power age have deep-seated needs, both material and emotional. Their economic security is low, their status indeterminable, and their relations with city neighbors uncertain and often unsatisfactory. Into this situation steps the city boss. He finds out what people want and, in exchange

[2] In his autobiography.

for votes, tries to satisfy these desires. He sends groceries to a hungry family, finds a job for an unemployed bricklayer, delivers coal when the thermometer drops to zero. Above all, through the "organization," he re-creates the face-to-face group. It may be a sorry substitute for the immemorial village community but it is something.

Thus the boss not only wins votes for the party and power for himself, but reduces frustration, bitterness, and even violence. If the Japanese-Americans at Poston had had a "boss" to discover their needs and satisfy them, tension might not have mounted so high. A case could be made, though I do not remember that Steffens ever made it, that the political boss is the institution which keeps Megalopolis from disintegration, especially during its melting-pot period.

In contrast with this shrewd analysis, most reformers, muckrakers, "do-gooders," Steffens pointed out, conducted their strategy on the hypothesis that bosses were "bad," politics "dirty," poor people weak and gullible—and not very clean either[8]—and that "good government" with a spry businessman in the mayor's swivel chair was the answer.

After many spirited reform campaigns, businessmen swiveled in dozens of chairs but they did not prove to be the answer. The voters, it turned out, missed the boss. If Uncle Timothy dies, the boss calls to express his sympathy and helps out with the funeral expenses The boss can tear up a parking ticket or help out a juvenile offender for a grieving mother. "All of these rewards," observe Miller and Dollard, "are immediate and therefore more effective than the delayed consequences of good government." The real task of a municipal reformer is thus very different from the assumed task; *it is to beat the boss in finding out what people need and meeting those needs.* Indeed it is similar to the task of the foreign aid administrator in the international field—to get ahead of the communist infiltrators in satisfying local wants.

[8] Bathtubs, if any, were used for storing coal, according to the stereotype.

National Economic Planning

Reformers who advocate planning can find some excellent advice in the files of the London *Economist*. Suppose, said the *Economist*,[4] that after the war Britain had called her best social scientists together to plan for demobilization and reconstruction. *First*, the planners would use polls to find prevailing attitudes. What do people want most—what will they stand for? *Second*, they would appraise Britain's foreign balance of payments, exports, imports, United States loans and lend-lease contracts, with a cold eye. *Third*, they would similarly appraise Britain's production possibilities. *Fourth*, they would study the attitudes of the government of the U.S.S.R., the Indian leaders, for areas of possible international conflict and danger.

On the basis of these hard looks, the scientists would block out a flexible program, and use all the modern arts of communication to put it before the British people and also the people of the United States.

But what actually happened? asked the *Economist*. The Labour Government then in power did not use polls; it had no clear idea of the needs of the people at all. It made too many campaign promises. When the government tried to keep some of them, like permanent housing, it found the program completely out of place in the postwar emergency. It forgot other promises, and hushed up bad news; yet psychologists know that in many emergencies people stand things better if they are frankly told the worst. In an earlier crisis, Winston Churchill had promised nothing but blood, sweat, and tears.

Finally and most serious of all, said the *Economist*, the Labour Government wasted valuable time trying to nationalize industries on the Marxian formula. The coal industry was breaking down because of ever deepening shafts and *had* to be nationalized, but other nationalization proposals—like steel—were dubious even in normal times.

[4] December 14, 1946.

In a democratic state, the planning must be done by political parties. Yet no economic policy is right at all times, and the skilled economic planner must know when to reverse his engines. But political parties are not equipped with reversing gear. In 1931 the Tories showed how stubbornly they could defy the facts and follow a policy of contraction in the middle of deflation Their performance has been equaled by the Labour Party since 1945, with its devotion to the trade union doctrine that it is always right for the pay envelope to grow. Clearly, if it is unsafe to let the Tories out of jail in a slump, the Labour Party ought to be locked up in times of inflation . . . However, in spite of the doubts, mankind is not now going to abandon the resolve to be master of its economic circumstances.

If the *Economist* is right in believing that nations will increasingly try to plan their economic destinies, the social scientist becomes a consultant of the first importance. Working in a team of specialists, everlastingly digging for the facts—he can advise a government whether its plans have a chance to succeed, or are just so many perpetual motion machines.

23

The Behavior of Groups

The scientific analysis of face-to-face groups was launched in the 1930's by a social psychologist who came to America from Germany, the late Kurt Lewin. His experiments with children making masks have become a classic in the field of group dynamics, like Elton Mayo's classic experiments in the labor-management field.

We have crossed the trail of small groups repeatedly throughout this book. Not only did the relay room and the bank wiring room at Hawthorne illustrate group behavior, but so did the informal teams in aircraft factories, the solidarity of combat fliers in World War II, and many more.

Handicraft Classes

Shortly before World War II, Lewin, with Ronald Lippitt and R. K. White, made an intensive study of ten- to twelve-year children in handicraft classes at the Iowa State Welfare Station. The scientists were allowed to rearrange the classes, and they set up three structures: autocratic, democratic, and anarchistic.

In the first an adult leader told the youngsters exactly what to do; in the second he kept his hand on the group, but let the children make most of the decisions; in the third he left them to make *all* the decisions, without any real leader. Children were shifted from group to group to make sure that structure, not personality, was chiefly responsible for results.

Conclusions from the experiment proved heartening to believers in democracy and the techniques of participation. The

autocratic group caused a good deal of internal friction, forcing some youngsters to leave, and began to disintegrate after the adult leader withdrew. The anarchistic type fell apart almost immediately. But the democratic group, starting slowly, built up so much internal stability that when the adult leader left, it went right on functioning.

The experiment demonstrated that participation and so-called "permissive" leadership make a stronger, more productive group than either autocratic leadership or a policy of everyone for himself. The results agree with other experimental findings, as well as with much practical experience. They still need more detailed laboratory checking, especially in other kinds of situations, and more theory to explain them.

Expanding Laboratories

The movement Lewin started is now literally sweeping the country. Face-to-face groups, of course, had been studied before,[1] but Lewin added precision, and deliberately undertook to make it social science$_1$. His books are concerned with experimental techniques in group behavior, how controlled experiments may be set up and verified, how research may be applied to change.

The famous National Training Laboratory, now operating each summer at Bethel, Maine, was founded by Lewin, and "little Bethels" are spreading across the nation to the Pacific Coast. I have visited the Maine laboratory three times, and find it a fascinating enterprise. "Delegates" who work professionally with groups at home—teachers, adult educators, business executives, union leaders, Y.M.C.A. secretaries, government administrators, Army and Navy officers—are formed into experimental groups of various sizes, with various tasks, under various kinds of leadership. Their performance is analyzed by a competent research staff, using observers, tape recordings, a special ques-

[1] As in the work of E. C. Lindemann, Charles H. Cooley, Mary P. Follett, Alfred Sheffield, and others.

tionnaire called "PMR" (post meeting reaction), and other techniques.

Sometimes a giant role-playing project is set up. In 1954, members of the laboratory impersonated various citizens of a community faced with a crisis in its school building program. I played the part of a member of the planning commission, and became increasingly involved as the crisis developed. Role-playing, much used in group analysis, has the strange effect of involving one's emotions in the role he is playing, and making him share the other fellow's feelings. Our school crisis at Bethel took two days to work through. It is safe to say that everyone who participated will approach a real crisis in his own town with greater awareness of the forces involved.

The goal of the Bethel Laboratory is to learn to predict how people will react in face-to-face groups, and to improve performance, both individual and collective. The field for practical application is virtually unlimited—school committees, P.T.A. meetings, directors' meetings, classroom teaching, Army training, faculty meetings, fraternity meetings, union meetings, business conferences, international conferences, UN meetings —an endless array now full of headaches and frustrations Perhaps Americans hold too many meetings. Bethel can help us find out.

One of the staff at Bethel, Herbert A. Thelen of the Education Department of the University of Chicago, has dramatically demonstrated how the techniques may be put to work.[2] He used them to set up a series of block organizations in the Hyde Park district of Chicago, a large section with many fine houses, which was threatening to become a "blighted area," if not a slum. Homes had been thrown on the market for sale, white residents were beginning to leave, real estate values were dropping, rumors were rife and violence in the air.

Five years later, in 1954, more than 400 blocks had been organized by white and Negro families together, in a cooperative

[2] See Dr. Thelen's account of the experiment in his book, *Dynamics of Groups at Work*, and Julia Abrahamson's *A Neighborhood Finds Itself*

effort to improve the section and make it a better place to bring up children. The city and the University have started a huge redevelopment project for the seedier blocks, and it looks as though Hyde Park will be saved. A vigorous application of group dynamics has helped to save it.

The adult education movement is vitally interested in group analysis, both to improve performance in classes and as a subject for study. Its magazine, *Adult Leadership*, keeps up with the latest research findings.

Lewin said that if a person is to change his habits, he must change *as a whole*. This can often be done best through a group. Alcoholics Anonymous is a good illustration, in which members, trying to break the drinking habit, support one another's resolution It has proved far more effective than lectures, logical arguments, or taking the pledge.

Alexander Bavelas was one of Lewin's associates at the Massachusetts Institute of Technology. He continues there as an experimenter and industrial consultant, arranging ingenious structures to test face-to-face groups He gives the example of introducing a new machine in a factory, a machine which requires a rearrangement of jobs. If it appears suddenly on Monday morning, already connected, the morale of the whole department is likely to be shattered. If, however, the machine is placed on the floor unconnected, and its functions are carefully explained—"Look, this is how it works"—disorganization will be less. But the best method, says Bavelas, is to consult with the men *before* bringing in the machine. If the workers themselves can be involved in its adoption, the new machine will be introduced without a tremor. Such a course can transform an impending change "from a misfortune to be resisted or endured, to a positive step to be willingly taken."[3]

Group dynamics has already developed a body of principles, of which these six impress me as particularly helpful.

[3] Confirmed by Edmund Brunner, when studying the introduction of a cane cutter and harvester in Hawaiian sugar fields in 1937.

1. Identify oneself with other members in the group, rather than play a lone hand.
2. Encourage maximum participation in activities and discussions.
3. Practice democratic or "permissive" leadership.
4. Protect the emotional security of others. Never let a member feel ridiculous.
5. Keep communication lines open.
6. Encourage better listening.

IN CONFERENCE

In Stouffer's laboratory at Harvard is Robert F. Bales, specializing in group analysis.[4] Let us stop for a moment and gaze through his "one-way window." He has important suggestions for us to employ at the next meeting we attend, supplementing the principles listed above.

Here is a room about the size of a small classroom, with blackboard, round table, chairs, and what seems to be a large mirror on one wall. Out in the hall we enter a closet behind that mirror, and find to our surprise that we can look through it and see everything going on in the classroom. One-way glass divides the two groups; a microphone catches all the talk in the classroom, and a tape recorder can preserve it.

In addition, the staff has developed a machine like a typewriter to record changes in group behavior. Twelve standard types of interaction can be clicked off on this machine: three kinds of questions, three kinds of answers; three kinds of negative behavior—disagreement, tension, antagonism; three kinds of positive behavior—agreement, release of tension, friendly solidarity. It takes long training to record these changes rapidly and reliably. All the techniques have been improved since Bales first set up his window in 1947, and thousands of group meetings have now been studied.

What kind of meetings? Many kinds—family discussions, business conferences, labor-management negotiations, classroom

[4] See his book, also accounts in *Harvard Business Review*, March, 1954, and *Scientific American*, March, 1955.

seminars, problem-solving meetings. Will people talk freely when they know they are being watched? They are always told, and experience shows that the group usually takes about five minutes, like a motor on a cold morning, to warm up. It then forgets the unseen observers and turns over normally.

Problem-Solving

A long study, involving hundreds of meetings, has been made by Bales of groups trying to solve a specific problem—say a business staff discussing a pension system for employees. What happens in such a situation? What is the best group size? What leaders arise? What antagonisms develop? What can be learned to help problem-solving groups elsewhere?

About half the time in a problem-solving conference, the experiment shows, is spent in answering questions. Such a 50-50 balance may be one characteristic of good communication, allowing plenty of give-and-take, so that members do not leave the conference with unresolved doubts. A group decision is not successful unless members feel actually bound by it, as proved in their subsequent behavior. Members feel bound, furthermore, only when they have participated in making the decision. This need not mean an equal amount of talk, some may not even talk at all. It means a *mental* involvement. But a voiced reaction does help for there is "no adequate substitute for some actual verbal participation of each member."

When a real row develops, the observer behind the window is in danger of becoming involved himself. He may have heard the same case discussed many times before, but he is "caught in the illusion of reality" as the temperature in the classroom rises. Here is an example of what follows.

> Suddenly the credulity of the observer is strained beyond some critical point The illusion that the group is dealing with some external problem breaks. It becomes perfectly transparent . . . that emotions have taken over, and that what one member is saying does not refer at all to some external situation but to himself and the other members present. "Facts" are unwittingly invented or are

falsified. Other facts drop out of sight entirely. When one member insists that "people in this office should be treated like human beings," it is clear that he refers to himself and how he feels he should be treated. When his opponent insists that "troublemakers should be fired," it is equally clear that he refers to the man who just spoke to him.

If this particular business group reaches a decision—which is unlikely—it will have all the characteristics of a bad dream.

On the other hand there can be too much sweetness and light in problem-solving. A group determined to agree on everything rarely arrives at durable decisions. There must be some give-and-take, some pungent criticism, usually some compromise, to arrive at consensus on tough problems.

The laboratory has determined the best order for discussing a problem, and it happens to be the "exact opposite of that which is characteristic of formal parliamentary procedure." Successful groups go through three steps, always in this order:

First, they assemble the largest possible pool of facts.

Second, they make inferences and evaluations based on these facts, and try to form common opinions on a level *above* the actual problem in hand.

Third, then, and only then, do members begin offering specific suggestions for the actual problem—suggestions fertilized by a rich background of fact and common opinion.

Not all groups do this by any means; many begin with suggestions. Many members "are hardly conscious of any difference between a fact and an opinion." Then trouble lies ahead. A good suggestion given too early either dies for lack of support or "is trampled to death in the general melee"

Twin Leaders

Bales and his staff have reached a striking conclusion about group leadership. It is usually assumed that members in a face-to-face group compete for leadership—provided a leader is not designated in advance. They do compete but this is only part

of the story. A problem-solving group normally develops *not one but two leaders: a task leader and a social leader.* The function of the first is to keep the boys on the problem. The function of the second is to keep the boys in good temper

The task leader emerges as a rule in the first session, and often he will be voted "best liked" in the PMR as well. In the second session, however, his popularity wanes as he holds noses to the grindstone. Somebody else wins the "best-liked" role, somebody who can crack jokes, relieve tensions, make members feel good. By the end of the fourth session, on the average, the chance of the task leader also being the social leader has sunk to *one in seven!*

Not many persons can fill both roles because the functions are so different. But it is important for each leader to recognize the other's role, and form a working coalition. "There are indications that such small and durable groups as the family . . . are constructed this way, and apparently the coalition also takes place in many administrative staffs, sometimes consciously but more often accidentally." In the family, presumably, father is the task leader, and mother the social leader. Says Bales

> Millions are spent each year by business, government, and the armed forces in developing means for recognizing leaders—yet it appears that whatever superior qualities the individual may possess he may be unable, just because of the way groups work, to maintain a stable leadership position without a co-leader of complementary qualities.

Quite a window, this of Mr. Bales. Here are some further conclusions, drawn after years of analyzing face-to-face groups:

> Seven members are about the limit for problem-solving. Two or three are not enough, they get into power difficulties—one against one, or two against one.
>
> Be wary of too many "high participators," i.e., bright boys who know the answers and are oververbalized. For best results, the group should be salted with a few quiet characters
>
> If a row is brewing, *back-track to the facts with all possible*

speed—before facts become weapons and unrecognizable. Also try to find similar experiences—referents—for the words being used. Unless experiences overlap, the same words often mean different things to different people.

Keep your eyes on the group rather than on a particular member. "Nothing tones up general harmony like a good strong undercurrent of direct eye contact."

Keep your ear, meanwhile, to the ground. Do not become so absorbed in the problem that you forget the play of group tension and interaction. Try to hold yourself and your fellow members "in good operating condition."

I do not know about the reader, but I have a meeting of the zoning board at four o'clock tomorrow afternoon, and I shall take this whole tool kit right along with me.

24

Notes on Political Behavior

Albert Einstein was once asked, at a meeting in Princeton. "Dr. Einstein, why is it that when the mind of man has stretched so far as to discover the structure of the atom we have been unable to devise the political means to keep the atom from destroying us?"[1]

To which the great scientist replied· "That is simple, my friend. It is because politics is more difficult than physics."

Political science, like economics, has many brilliant names on its roster—Aristotle, Marcus Aurelius, Machiavelli Its large general theories, however, again as in economics, lack adequate verification. The study has been a curious amalgam of philosophy, history, polemics, brilliant prose, common sense, and primitive psychological assumptions. Only lately has there been added a good deal of hard-headed observation, and the beginning of some verifiable theory. Like economics, political science badly needs help from the sciences of behavior. *Who Gets What, When, How?* as Harold Lasswell subtitles his stimulating book on politics, is obviously oriented in this direction.

The political columnist, Gerald Johnson, gives us an example of shrewd psychological observation when he says: "A professional politician may be secondarily a Democrat or a Republican, but he is primarily a professional His function, as he understands it, is to give the people what they want, and he will supply crass reaction, or creeping socialism, with the complete indif-

[1] Reported in a letter by Grenville Clark to *The New York Times*, April 20, 1955.

ference of a haberdasher handing out blue shirts or white, according to the customer's demand."[2]

High Talk About Inevitability

Some political scientists employ a literary style which carries a special ring of doom. They speak of the "implacability," the "inevitability," and the "remorseless processes," of history, and do not hesitate to chart its predestined course. The career of James Burnham, for instance, shows us how a skillful political writer, equipped with plenty of gloomy foreboding and a forensic vocabulary, may range unchecked over the field In physics he would hardly get to first base.

In 1941 Burnham published a book called *The Managerial Revolution*, which extrapolated the theory of Berle and Means about the shift in corporate control from owners to managers, and made considerable sense. Its central thesis has been amply vindicated. Along with this solid contribution, however, Burnham has given us a number of predictions, mostly doleful, which have not been vindicated by events. What he announced as "inevitable" at a particular time, later lost its inevitability, to be succeeded by a new inevitable. His score card, according to Lewis Corey, runs like this:[3]

1. In the 1930's Burnham thought the Trotskyite revolution was inevitable. The Stalinites would be overthrown; 100 percent wrong.
2. In 1941 the managerial revolution was inevitable, true up to a certain point.
3. A little later the victory of Germany was inevitable; 100 percent wrong.
4. After the war, said Burnham, three superstates will dominate the world—Germany, Japan, and the United States. Mark him 33 percent
5. After the war, again, the U.S.S.R. will inevitably break up and be swallowed by Germany on one side, and Japan on the other; 100 percent wrong.

[2] *New Republic*, November 18, 1954.
[3] *Antioch Review*, Summer, 1947.

6. The 1940, or at the very best, the 1944 United States elections will inevitably be the last free elections. Well, we have had a number since then, free and flamboyant as usual.
7. By 1947 it became inevitable to Mr. Burnham that Number 5 was wrong, and that war with the U.S.S.R. was inevitable.

He may be right on Number 7, but it is the purest speculation. Political speculation is entirely legitimate provided one posts it as such. Posted as the truth, inevitable as Halley's Comet, it is dangerous stuff. If war with the U.S.S.R. were inevitable, readers of Mr. Burnham might conclude the sooner we began it the better.

The Great Society

We have encountered many examples of political behavior earlier in this book—in the relocation camp at Poston,[4] the Middletown studies, opinion research, Puerto Rico, in much of the economics section. Economics used to be known as "political economy," a term which recognized that the two disciplines overlap. As part of the concept of culture, we remember the cardinal distinction between formal and informal government. The first carries the written laws, the latter carries the ultimate sanction of what is permissible in the society.

Mass production and the machine are largely responsible for the rapid, often painful growth of formal government They have increased the division of labor and destroyed the old self-sufficiency of the family and the small community, as in the shoe factories of Newburyport Acute problems appear—great armies of unemployed, destitute old people, child labor, strikes, breakdowns in transportation, slums and blighted areas, juvenile delinquency, soil erosion, stream pollution—problems which individuals cannot cope with alone. Yet they must be solved if society is to go on. So big government comes in, on federal, state, and city levels, especially the first and the last.

Frederick Jackson Turner produced a famous hypothesis in

[4] Leighton's book is of course an important contribution to political science, as shown in the title· *The Governing of Men.*

1893, called "The Significance of the Frontier in American History." Many of our culture habits, he said, can be explained only by the frontier. In the United States, with its tradition of self-help and rapid expansion, government up to 1900 tended to be loose and flexible. But by the twentieth century, it proved inadequate for its new functions, especially for coping with the great depression. Political scientists have been trying to design improvements to keep pace with the march of the machine, but they still have a long way to go before government structure is adequate to handle the demands put upon it. The old forms come down from handicraft days; George Washington never saw a railroad, let alone a power line.

To study this serious lag, the Social Science Research Council has set up various committees, and some universities have established courses in public administration. These include specialized graduate schools, and whole departments to work on administrative techniques, as in the University of California. In governing a big city, modern methods include the city manager plan, uniform accounting, city planning, public housing and slum clearance, great recreational centers like Jones Beach near New York. Outstanding technicians have come to the fore, such men as Robert Moses, Joseph McGoldrick, Luther Gulick, Louis Brownlow, and the late Clarence Dykstra.

But rapidly as techniques expand, aided by such invaluable organizations as the Public Administration Clearing House, Megalopolis accumulates its problems even faster The outlook for traffic control was never darker than it is today. Within a year or two, the way traffic jams are now multiplying, Fifth Avenue in New York, and the Loop in Chicago, will be frozen solid.[5] Somebody has said that if you are injured in the Loop, you can get to the nearest hospital faster in a wheelbarrow than in an ambulance.

Fresh ideas on the federal level have come from such men as Thomas Finletter, Paul Appleby, the late Senator Robert M. LaFollette, Jr.—who have seen government from the inside, and

[5] Admittedly an extrapolation.

then generalized from first-hand experience. The President's Committee on Administrative Management, headed by Charles E. Merriam, produced some original thinking on the vast change in the office of the American presidency in recent years. Because of the pressure groups which flatten so many congressmen, only the President can now represent the whole people.

The TVA should be mentioned again as an important new development in political science. Its regional position between federal and local governments gives it many advantages, for it starts comparatively free of red tape and political vested interests. Its boundaries correspond with geographic realities better than do most of the States. Experts come from all over the world to study this new agency, to admire the towering dams, the gleaming instrument panels which control navigation, flood waters, power, as on a great organ The TVA may be working out a new adjustment to the machine age. It may show us how businessmen, labor men, government men, professional men, can coöperate for their mutual welfare; how decentralization can be carried to the limit consistent with technology. The TVA is still treated, however, as an ideological football.

Eight states have entered into a compact to eliminate pollution in the Ohio River Two states cooperate in the tremendous tasks of the New York Port Authority; three states try to compose their differences as to who gets what from the Colorado River—with Mexico as a fourth claimant. All such compacts require new political and administrative thinking. If the United Nations takes a further step, and begins to exercise mandates over territory now disputed, a new dimension in international politics will open.

Administrative consultants and government technicians can be aided by electronic computers, says H. M. Davis in the *Scientific American.*[6] The new machines can help us keep up with the machine age by flashing out statistics almost simultaneously with the event The "curse of bigness" has been due, in part at least, to people's ignorance of what is going on over vast

[6] April, 1949

territories. One trouble with planning, says Davis, is that the planners cannot learn the facts rapidly enough to keep abreast of their plans. Computers can remedy this lag, and redefine "bigness" upward. "They may even offer a technical means of contributing to world peace by helping to make world government possible."

When the science of polling is refined a bit further, computers can transmit to government leaders what citizens think, and how their ideas are changing about many important political questions—such as foreign policy, disarmament, taxation, the price of wheat, proposals for an annual wage, public housing, health and vaccination programs, school buildings, traffic jams, desegregation. Elmo Roper favors this idea, but says a research agency to carry it should have a status equivalent to the United States Supreme Court—beyond political pressure. Political scientists are here presented with the nice task of designing such an agency.

Political science may be on the verge of great developments. Certainly many of the old patterns, classifications, and theories stand in urgent need of revision. John M. Gaus[7] has outlined a research program along this line, emphasizing the following questions:

What is a realistic foreign policy for the United States in the atomic age?

What are workable relationships between federal, regional, state, and local governments?

What are the proper relationships between executive, legislative, and judicial power today? (Some recent congressional investigations have stretched and distorted these relationships.)

What are the proper line, staff, and auxiliary relationships in government?

What is happening to the presidency? Is it moving toward some quite new status?

What does the average citizen think of his government today?

[7] Memorandum to Social Science Research Council.

What does he want from it? (A kind of perpetual inventory of public opinion.)

LABORATORY IN ELMIRA

In Chapter 18 we noted how social scientists have been analyzing the voters of Elmira, New York,[8] using the panel method of opinion research. Some arresting new theory has come out of the charts and figures. We will describe it briefly, not as the last word on political democracy, but as an example of social science$_1$ in action, and a dramatic contrast with the polemics of Mr. Burnham.

Classical Theory

The Elmira researchers quote a British writer, A. D. Lindsay: "There is always a terrible gulf between the fine and elevating theories about democracy which we read in books on political theory, and the actual facts of politics." Locke, Burke, Hobbes, Bentham, Mill, and the other great classicists wrote about politics because they wanted to change methods then in practice. Out of their observations and arguments came injunctions about how you and I, as citizens in a democracy, should behave. We have, according to the classicists, four political duties. (1) our interest in politics should be strong, (2) our knowledge of issues should be competent, (3) our political principles should be cherished and acted upon, and (4) our political behavior should be guided by reason and logic. All citizens may not be in such firm possession of these virtues as thee and me, but a majority must possess them, says classical theory, or democracy cannot survive.

How do the citizens of Elmira meet these standards? A panel of 1,000 voters, studied over a period of many months before the 1948 elections, were found to lack all four essential virtues. Their political behavior did not follow the classical theories. As a group they had little sustained interest in politics, their

[8] See Berelson, Lazarsfeld, and McPhee, *Voting*.

knowledge of issues was rudimentary, their political principles were hard to find, beyond voting the way their fathers voted; and often they seemed to exercise their reason in reverse. In brief, the figures showed this sample of United States voters failing on all four counts. So democracy should be deader than the dodo.

Yet democracy in Elmira, and in America, is very much alive. How is the paradox to be explained? The scientists seek to explain it with this hypothesis: Classical theory concentrated on the *individual citizen* and neglected the social system in which the individual operated. Once the requirements of the system are brought into the analysis, it is unnecessary if not positively dangerous for the average voter to exercise all the standard virtues. Why? Because political apathy on the part of a substantial bloc of voters in America has cushioned the shock of disagreement and change. If one does not take his politics too seriously, social change is easier. The United States, we recall, has been a regular roller coaster of change, geographical, technological, cultural.

Again, if too many voters cling devotedly to fixed party principles, change will be impeded, and bitter fights more frequent. A reductio ad absurdum of fixed principles was found in the behavior of a small group of Puerto Rican "nationalists," who were convinced some years ago that it was their high patriotic duty to go around taking pot shots at their own governor, the United States president, and congressmen.

The Elmira research shows that most voters do have some principles, some information, some political interest, and some rationality, but not in the degree called for by the classicists. Happily for the system, voters distribute themselves along a continuum, running from *sociable man* (including many women voters)—who is bored by politics, to *political man*—who takes an intelligent interest, to *ideological man*—who is a party stalwart with rigid principles and a low boiling point At the outer edge of the last group are characters like those Puerto Rican nationalists. If we were all ideological men, democracy would

dissolve in a cosmic Donnybrook Fair. If we were all sociable men, it would expire from lack of motivation.

In the United States we have these types in the proper proportions apparently to make the political system work. (It reminds us a little of Galbraith's theory of "countervailing power" which accounts for the working of the economic system) "This distribution itself, with its internal checks and balances, can perform the functions, and incorporate the same values ascribed by some theorists to each individual in the system, as well as to the constitutive political institutions."

The die-hards, the apathetic, and the quick changers (mostly youngsters on the make), provide "enough consensus to hold the system together, and enough cleavage to make it move." Too much consensus would be deadening—as in Bales's problem-solving groups at the Harvard Laboratory. Too much cleavage would be destructive—as in the case of various Latin-American republics. Total politics, of course, as Lenin well knew and advocated, leads to one-party government and the monolithic state, the opposition is banished or shot. Total apathy could lead to authoritarianism too, as the man on horseback rides in to fill the political vacuum.

The Elmira studies indicate that American voters have found a happy medium, a kind of mulch in which political democracy can grow. If the hypothesis of these scientists stands up, it may well revolutionize our ideas about democracy, and be one of the few substantial additions to democratic theory since the close of the eighteenth century.

25

Learning Things

Granted that most of our habits come from the culture, how did we learn them? The anthropologists toss this fundamental question to the psychologists, and some of them have accepted the challenge. Practically all agree that it is in the first few years of life that we acquire the basic habits which distinguish one culture from another; which enable us to live with our families and neighbors, communicate with them, and thus go on learning. A child becomes "socialized," or "acculturated," as his nervous system is trained in innumerable unconscious routines. How are we to explain even the simplest of these habits?

The Institute of Human Relations at Yale, backed by many experiments over a long period of years, ventures an explanation. John Dollard and Neal Miller, working with others, including the late C. L. Hull, have formulated and tested a hypothesis which they call "learning theory." They have written two books about it, the first, now a classic, called *Social Learning and Imitation*, the second, which restates the theory and applies it widely, called *Personality and Psychotherapy*.

MONKEYS AND RATS

I visited the authors at New Haven to see some of their experiments. The first exhibit was a small, brown-eyed monkey. He crouched in the back of a cage about three feet square, while the man with the notebook turned the page to trial number 873. The man touched a switch and a bell rang sharply. In one sweeping movement the monkey leaped to the front

of the cage, thrust a hand through the bars, and pulled the lever of a small box with a light in it. As he did so the bell stopped ringing and the light went out. He looked up at us with his sad eyes, relieved that the noise had ceased but still worried. He stretched a long finger through the bars again as though to say: "I hope the damn thing is really off." Then he turned around, leaped to the back of his cage, and crouched there again to wait for trial number 874.

The bottom of the cage was made of metal strips capable of giving a mild electric shock. After repeated exposure the monkey had learned to pull the lever to stop the current. Then the shock had been associated by the experimenters, first with the light in the box, next with the bell, on the best Pavlov principles of conditioned reflex. Now without getting an electric shock at all, only an emotional one, the sad monkey pulled the lever to stop the bell.

Next I saw a documentary movie about two white rats and how they learned things—a film that compared favorably with a Walt Disney production One rat was very hungry, the other not. They were placed in identical cages side by side. The camera would focus first on one cage, then on the other. An ingenious mechanism attached to the cage deposited a pellet of food in a dish whenever a metal bar was depressed

The hungry rat with quick, eager movements explores his cage for possible food. About the fifth time around, he hits the bar by accident, and down comes a pellet. He gobbles it but makes no connection between cause and effect Round and round the cage he goes, with now and again another accidental reward. Then light begins to dawn—the bar! At first he presses it deliberately but awkwardly, gradually performs more swiftly and surely, until in the end he does it as nonchalantly as Groucho Marx lights a cigar.

Meanwhile, the well-fed rat continues to digest ruminatively in a corner of the other cage, taking no interest whatever in his slot machine. Unfortunately for him, however, his cage is equipped with a shockable bottom like the mournful monkey's.

A shock is applied and the rat, for all his satiation, leaps to the top of his cage. Then ensues a sort of super-Disney ballet, in the course of which he accidentally hits the bar and shuts off the power.

More shocks are given, resulting in more wild dances and more accidental collisions. Presently rat Number Two learns to associate depressing the lever with a reward—not food, but relief from annoying sensations in the soles of his feet. Furthermore—and this is important—he learns more rapidly than rat Number One learned about food. The pain drive is more powerful than the hunger drive—at least for those white rats under those conditions.

Learning Theory

What lesson have we here? According to Dollard and Miller, the process of learning in the case of the higher mammals, including man, normally proceeds in four steps:

1. A drive—such as hunger or pain, which makes the individual ready for action.
2. A cue—such as the metal bar.
3. A response—such as pulling the bar.
4. A reward or reinforcement—such as food, or relief from electric shock.

After a stiff shot of theory on the learning process in New Haven, I drive home and try it on our cat. Did you ever teach a cat to sit up and beg? The four steps are conspicuous in this act of learning. The drive is hunger. The cue is a piece of meat held well above the cat's head. The first response is an eager reaching, but the reward must not be given until the animal sits erect on its haunches, paws hanging down. I taught Boots in twenty minutes flat—though I admit that he is a smarter cat than most—and he now sits up politely for anything he wants—dinner, a drink of water, to go out of doors, to have somebody play with him.

"After learning has been completed, response and cue are

bound together in such a way that the appearance of the cue evokes the response. . . . The conditions under which human learning takes place . . . are primarily social and cultural. . . ." If the reward is not forthcoming, the response gradually suffers extinction The reward, as we have seen, can be either positive or negative—pleasure, or relief from pain.

The theory is derived from Pavlov, Thorndike, Watson, and Hull. On human levels the theory has been verified by many experiments with children, students, soldiers. Here is one of Dollard and Miller's simple experiments which you can repeat with a six-year-old.

Candy Experiment

Hide a piece of candy under a book on a bookshelf. Bring the youngster into the room—making sure he is hungry—and tell him to look under the books and find the candy Then count the books he picks up and keep track of the time. He may take three or four minutes to find the candy, after moving thirty or forty books.

Now send him out of the room again, hide another piece of candy under the same book, call him back as before. He is likely to find this piece within two minutes. Try again and he will get it in less than a minute and, after some ten trials, he will go at once to the right book and find the candy in about two seconds.

You can chart the curve of this learning, either by time or the count of books, and you will find that it starts on a high level at the upper left and descends steeply toward the lower right of the chart. Analyzing it for the four elements, it is clear that the drive was the child's desire for candy; the cue, instructing him where to look for it, the response, searching the bookshelf; the reward, eating the candy.

In more mature learning, of course, the drives become more subtle and remote, the cues more complex. The reward, often deferred, may be a word of approval, the hope of a promotion, even a private feeling of satisfaction. When human reasoning

and foresight are interpreted in these four steps, the theory can be widened to include most forms of human behavior. A whole chain of responses may take place inside one's mind, each one becoming the cue to start the next.

The public cue-producing responses, like words and sentences, that are used in social communication receive an enormous amount of social training. The accumulated cultural heritage of generations of trial and error is represented in the categories, common-sense rules of logic, standards of reasonableness, and sequences of orderly narration of language. This greatly increases the usefulness of verbal responses and their derivatives, such as mathematics, in the solution of social, emotional, and instrumental problems.[1]

Behavior in controlled situations can be predicted, even quantitatively predicted—for instance, the number of trials needed to teach a subject a simple lesson, like a set of nonsense syllables. At higher levels, in situations which are really complicated, the scientists cite many cases on which the theory throws light. Meanwhile they realize that much research remains to be done. Miller and Dollard, like good scientists, are willing to take the hard, gruelling path to knowledge, the path of measurement and counting and endless repetition of experiment —the same path the physicists took for so many decades before the clouds suddenly opened.

Meanwhile, parts of the theory can be usefully applied in innumerable ways: for instance, to simplify and improve teaching in school, to help interpret and explain the habits of an individual or even a culture, to win friends and influence people for business, advertising, social, or political reasons; to help people analyze and overcome their neurotic problems.

Like all scientific findings, learning theory has been challenged. Some critics complain that the parallels between animal and human learning have been pressed too far; again, that not all four steps are present in every case—that is, some learning may take place in the absence of either drive or reinforcement; and again, that in the perennial argument of nature versus nurture,

[1] Dollard and Miller, *Personality and Psychotherapy*

this theory, like others of the behaviorist psychologists, tends to overemphasize nurture.

HEREDITY PLUS ENVIRONMENT

Well, how about nature versus nurture? Probably no scientist today would admit a bias in favor of either heredity or environment, since the importance of both has been so clearly demonstrated Yet the argument continues in a different form. Perhaps as clear a statement as any of how the two forces interact appears in a study by Norman Cameron of the University of Wisconsin, *The Psychology of Behavior Disorders: A Biosocial Interpretation.* Dr. Cameron is a specialist in both psychology and psychiatry who believes that personality is developed by the interweaving of physiology with training. Every culture, he says, is built to an unrealized extent around the biological needs for food, shelter, mating, and parenthood, all of which are satisfied—or denied—in a *social situation* The baby cannot eat without help, or keep himself warm or clean, so his comfort or discomfort is connected at every stage with an older person on whom he depends. Thus physical and emotional habits grow together, as one "grows from a biological newborn to a biosocial adult in an environment of other individuals and cultural products. . . It is always this interplay of biology and society." Thus Cameron explains the connection among individual structure, drive, and learning, in developing the total personality. Nature and nurture are woven tightly together.

CODE FOR PSYCHOLOGISTS

Psychology is easily the most discussed of all the social sciences, far outdistancing economics, its nearest rival. The word "psychology" is bandied about by most of us quite irresponsibly, along with tags and phrases from popular psychology. Big-time baseball players, prize fighters, taxi drivers, salesmen, tycoons, labor leaders, as well as college graduates, claim a working knowledge of its principles: "I used psychology on

him, and he signed up" . . . "She's got an inferiority complex" . . . "Bad case of Oedipus." And "Too much unsound speculative psychology in the stock market" came over my radio from a financial expert this morning.

The growing interest in psychology has of course increased the number of "psychologists," including a considerable group of gentlemen—and some ladies—who harbor no objections to turning a fast buck. Anybody with a penetrating gaze and a command of the lingo could hang out his shingle and line up the customers. But as our visit to New Haven makes clear, psychology in the hands of honest investigators is a rigorous and demanding science. By the time the student has won his Ph.D., he may have spent as many years as a medical man in rigorous training. Also he is painfully aware of how many questions of human behavior are still unanswered.

The American Psychological Association has boldly attacked this problem. It has set up a code of ethics to stiffen the profession, and to protect the person in need of psychological counsel from half-trained "doctors" and outright quacks. Thus it follows the lead of the Bar Association, the medical societies, and the Certified Public Accountants, in putting an official stamp on accredited professionals.

The making of the code was a kind of polling operation. Instead of sitting down and thinking about ethical behavior, the Association asked its 12,000 members to describe ethical problems arising from their personal experience. More than 2,000 replies were received, and cases were classified six ways: ethical behavior (1) toward the public, (2) toward clients, (3) toward other psychologists, (4) toward students, (5) in research work, (6) in writing. A code covering all these matters was officially adopted in 1953. Prospective clients might do well to find out if the counselor they select is a member of the Association and bound by the code.

Here is one of the problems sent in: A famous feature writer visits a clinic to get a story on juvenile delinquency. A psychologist on the staff uses a hypothetical case to illustrate the

clinic's work. The writer seizes on the case, and writes it up as true, with a sensational twist, as the lead for his story. The psychologist objects, and the journalist hits the ceiling. On appeal, the trustees of the clinic think the psychologist ought to play along. "It's good publicity," they say.

What should the psychologist do? The Code indicates clearly that he should refuse to cooperate with the journalist, however fine the publicity. "The psychologist may be expected to offer every assistance to reputable reporters, but he may refuse to give materials to a reporter who does not adhere to the ethical standards of the profession"

Another case. A psychologist is retained to make a market survey for a soap company, using a questionnaire prepared by the publicity department. He complains that it contains a built-in bias for the company's soap against competitive brands "Take it or leave it," says the management. *What should the psychologist do?* The Code gives him no choice but to leave it.

Thousands of such cases are in the Association's files. They constitute a unique method of establishing professional ethics, one that can be recommended to other professions with ethical problems. Ask the members to participate in digging out the facts, classify the types of problems, and build the code on that objective base (Notice the connection between science and ethics).

F. H. Sanford, Secretary of the Association, tells us that more than half the members are now outside the universities, acting as consultants and researchers for industry, government, schools, private clients. Industrial psychology is booming. Research is progressing in aptitude testing (such as Flanagan's work in the Army, described earlier), in group therapy, in counseling methods. Many colleges provide counseling service for students worried about their grades or their personal problems. (Nowhere is social pressure more visible and acute than in the case of a student who does not make the team, or the fraternity, or the glee club—the niche in the subcultural structure which gives status and security.) By and large, psychologists give advice to

normal people, or people only normally upset; they send severe cases to psychiatrists.

The therapist or counselor, says Sanford, should establish a brotherly relationship with his client, rather than the fatherly role of most doctors and lawyers. The client states his problem, and the doctor or lawyer fixes it for him (or tries to), speaking a special language, keeping his distance. Not so the good psychologist. His task is to listen, talk out, advise, set forth alternatives, *but not to take command and fix*. Human behavior problems "by their nature must be solved by the human beings who have them." The wise psychologist helps people solve their own problems.

Industrial psychologists, Sanford observes, should not make the administrator's decision for him. "That's his job, not yours." (Remember how Leighton waited at Poston, while the administrator, looking out at the desert in the fading light, decided not to call in the Army.) A psychologist often makes a good administrator, but in this role he becomes an ex-psychologist.

A psychologist addressing a meeting, he continues, should also avoid the fatherly approach. Do not talk *down* to the Parent-Teacher Association, talk *with* them. Do not imply that "technical knowledge is only for experts, and that parents, if they had it, would only use it to clobber up the already miserable job they are doing with their children." Give parents new hypotheses, new facts, new ways of testing old ideas, alternative courses. The children are theirs, not yours.

Mr. Sanford adds this somber warning, during a time of many attacks on academic freedom and traditional American liberties:[2]

> Societies that become sick . . . restrict first the psychological and social sciences. Individuals who have a violent neurotic need for security are noted for their hostility to knowledge about the inner workings either of personality or of institutions. . . . Only those societies characterized by considerable maturity will tolerate at all those individuals who have new and boat-rocking ideas about

[2] Address at Houston University, April, 1954.

human behavior. . . . Psychologists must do all they can to see that knowledge is available for the solution of human problems. But if psychologists are ever perceived as using their knowledge to impose any sort of control over society . . . they will be the targets of great and deserved hostility.

Perhaps the most important item in the Code of Ethics lies right here.

Social psychology, like economics, appears in many places throughout this book. Chapter 6 is almost nothing else. The present chapter has not attempted to summarize modern social psychology, but to pick up some interesting theoretic material, experiments, and cases, to add to what has gone before.

26

The Communication Sciences

"Much vain disquiet maketh mankind," said the Psalmist—long before singing commercials, broadcasting from airplanes, and mass communications generally, had made the disquiet a good deal vainer.

Every case we have discussed, and every generalization drawn, is also an exercise in communication. Those students who first observed the case received a communication and recorded it. They used language, perhaps the language of mathematics, sometimes maps or photographs as well. Next I, the author, had to study what the observer reported (or what I myself had seen), and then communicate what I found to you, the reader of this book. The line could be broken or distorted between event and observer, between observer and me, between me and you. Communication is almost as pervading as the air we breathe, and often as unnoticed.

Animals, of course, communicate in many ways, mostly by making sounds. Parrots can even imitate the sound of words. But only man has true language. Evolving through the culture, first as talk, and only lately—in the last 5,000 years or so—as writing, language is the most human of all our characteristics, and many scientists think it the most important. Science, literature, abstract thought, logic and reason would be impossible without words.

Yet, at the same time, words can compound misunderstanding and generate needless conflict. Organized warfare would be impossible without language, and so would the savage disagree-

ments about race, religion, and ideologies. We have been given this power, and have proceeded to foul it up. A major goal of the communication sciences is to find out how language works and if possible abate some of its misuse.

The power of words comes home to me as I compare what you and I know, with what Boots my cat knows. His universe consists of the house and the land around it—perhaps three square miles of lawn, garden, orchard, swamp, pasture, and woodland, mostly belonging to the neighbors. He knows the detail of this area better than I do, especially the habits of field mice, he could survive in it during a blizzard as I, without human shelter, might not. He knows the environment which he sees, hears, smells, feels—*and that is all he knows.* He has no means of relating this experience to wider environments in the same town, to environments beyond that in the State and nation, and beyond that to the spinning planet on which we live, and beyond that to the solar system and the galaxies whose light may take a score of light-years to reach us.

Looking inward again, he has no knowledge of the processes in his own body, or the cells which compose it, or the molecules within the cells, or the atoms which nobody will ever see, or the electrons and the packed nuclei which compose them. Out to the almost inconceivably great, and down to the almost inconceivably small, lies knowledge which we humans may master, chiefly because of our command of words.

Language has been taken too much for granted, but we can now report important progress toward understanding this gift so useful and so dangerous Many, if not most, of the political and social problems which plague us today are at bottom communication failures. Take for instance the big words in the headlines—"aggression," "appeasement," "coexistence," "socialized medicine," "free enterprise," "liberty," "security," "bureaucracy," "welfare state." It is not difficult to prove, using the discipline of semantics, that such high abstractions mean different things to different people, and unless great caution is taken in using them, they become not only meaningless as coin for

common understanding, but actively productive of misunderstanding.

Among current problems which are in good part communication failure are the true menace of communism, international relations, labor-management conflicts, advertising misrepresentation. Much of the trouble between man and wife, parent and child, teacher and student, is due to communication breakdown. "Talking it out" might have repaired the line before a small grievance developed into a monstrous injustice. "Reasonable men," said Beardsley Ruml, "always agree if they understand what they are talking about."

Elton Mayo, in *Social Problems of an Industrial Civilization*, observes.

> I believe that social study should begin with careful observation of what may be described as communication, that is, the capacity of an individual to communicate his feelings and ideas to another, the capacity of groups to communicate effectively and intimately to each other. This problem is beyond all reasonable doubt the outstanding defect that civilization is facing today. . . . Our international troubles are unquestionably due to the fact that effective communication between different national groups was not accomplished. . . . On the contrary, an effort was often made to "find a formula," a logical statement which should conceal the fact that neither side had any insight into the actual situation of the other. . . .

As Mayo develops it, communication is like the circulation of the blood—the free flow of ideas through structured channels *within* groups of all sizes, and *between* groups, up to nations, to the great alliances, to the United Nations. Communication depends at the lowest cycle on the articulateness of individuals; next on the functioning of small groups where individuals express their needs and desires, and where the expressions are passed upward to the next cycle, and so on. Such flexible communication, helped by the mass media, could respond sensitively to an appeal from the grass roots, from the little people who want peace and reasonable security. It could—but so far it does not.

Education, science, human progress depend on expressing an idea clearly and being understood by one's fellows. As Edward Sapir puts it:

While we often speak of society as if it were a static structure . . . it is a highly intricate network of partial or complete understandings between the members of organizational units of every degree of size and complexity, ranging from a pair of lovers to a league of nations, or that ever-increasing portion of humanity which can be reached by the press. . . .[1]

"A network of partial or complete understandings." This is as good a definition of communication as we are likely to find, as well as a dynamic definition of society itself. It suggests that *relations* between people, in patterns that are active and changing, are the important thing. Sapir goes on to point out the three main techniques of human communication: (1) languages; (2) symbols in special technical situations—such as wigwagging at sea, bugle calls, smoke signals, and other wordless devices; and (3) inventions favorable to communication, such as the telegraph, telephone, radio, airplane

Through these techniques a given culture is spread. It is due to the third, mechanical invention, that the culture called Western civilization has overrun a large part of the globe. But its very speed has produced serious difficulties at every stage. In an individual, blocked communication may be a major cause of mental breakdown. In a group it may cause conflicts of any degree of violence up to atomic warfare.

This new urgency is one reason for the present vogue of communication about communication, and another reason is the expansion of the mass media. We are all being constantly attacked by messages in ever-growing volume, and we need screening and translating devices, as well as sufficient skill to hold our own in the babel So in various universities we find departments for the study of communication, which include everything from public speaking to electronics engineering. We

[1] In *Encyclopedia of the Social Sciences*

find great national societies, and new scholarly magazines Valuable research is being done, not only in universities but by consulting firms. Without attempting to do justice to all this useful work I will try to classify briefly the most active sections of the field.[2]

Twelve Disciplines

It would not be too much to say that every serious study known to man is wrestling with communication, but 12 of them are now particularly concerned with it; four of them full time, eight part time. The 12 cut across that shadowy boundary between natural and social science, for three—physics, cybernetics, and neurology—are classed with the natural sciences. We cannot do much more than list them here with a few comments, reserving for semantics a somewhat closer preview. Semantics is a study with which I, as a writer, have long been concerned. A short, useful definition is that semantics is "the systematic study of meaning."

1. The Communication Engineers and Cybernetics

The Bell Laboratories in New York are doing fundamental research into the theory of communication today. It is strictly within the field of natural science, being more concerned with the fidelity of the transmission of messages than with their meaning But the sciences concerned with meaning also depend in part for their future development on a brilliant analysis by Claude Shannon and his staff The Telephone Company puts the findings to work in expanding the dial system

Every message, they say, whether by sounds, words, flashes, flags, gestures, wires, wireless, begins with an *information source.* From this a *signal* in the form of light waves, sound waves, radio waves, is sent out over some kind of transmitter, to be picked up by the *receiving mechanism* There the message is *decoded* and passed on to its destination. At any point, "*noise,*" as the

[2] In the *Tyranny of Words* and *Power of Words,* I have reported at greater length

engineers call it, may get in to distort the signal. "Noise is universal and insidious"—such things as static, fading, "snow" in television. The engineers' goal is to get the message through with a minimum of "noise." They do not yet care what the message is, it can be dots, dashes, music, pictures, letters, nonsense phrases.

Now let us move to another level. The word "cybernetics" was coined by Norbert Wiener, of the Massachusetts Institute of Technology, from a Greek root meaning *pilot* or *governor*; and he defines it as "a study of messages which control action." Cybernetics has to do with the theory and design of electronic computing machines, those uncanny robots like the famous "Univac," "Eniac," and their kin. I once compared my rate of multiplying four-digit numbers with that of "Number 701," an electronic computer designed by International Business Machines. It did not take long to determine that he was 100,000 times a better man than I!

Computers send messages which control action like the human brain Like the brain, a computer has a memory system—Number 701 indeed has *three* memory systems. As they build computers for more complicated tasks—say operating an oil refinery, or guiding a Nike, or figuring out the weather a month in advance—the engineers increase our knowledge of how the human brain and nervous system work to encode and decode messages

2 *The Neurologists and the Physiologists*

These scientists study the impact of signals on the retina or the eardrum, follow their course to the brain, then the corresponding signals sent out by the brain to the muscles for action. Take such a simple case as the light waves coming to you from a car that is veering over to your side of the road, the decoding of the signal in your mind, and the action of your hands on the wheel and your foot on the brake. If you do not interpret the message correctly and rapidly there will be a crash.

The whole process inside us is deeply buried and very com-

plicated, but it is obviously cardinal for understanding communication.

3. *Perception Theory*

Now we go over the line to the social sciences. A school of psychologists, headed by Hadley Cantril of Princeton, is investigating how we perceive things: how we know that a rose is a rose, or a chair is a chair. They use elaborate apparatus, invented by the late Adelbert Ames of Hanover, and since extended and improved One comes away from a morning in their laboratories slightly seasick, because of what his eyes, his nerve channels, and brain have experienced.

Unless we have had experience we cannot know. We never see *all* of an event out there—say an object like a chair—only enough to deal with it. We "bet," in the light of past experience, that it is a chair. An Eskimo who has never seen or used a chair would have nothing to bet on. One reason for becoming seasick is that a perfectly good chair, as seen from one angle in the laboratory, turns out from another angle to be nothing but a flimsy arrangement of sticks and wires. The relativity of perception is thus impressively demonstrated to the somewhat disorganized observer, and new light is thrown on the connection between words and things.

4. *Animal Psychology*

These studies include communication among animals, and also from animals to human beings. Dogs are more eloquent than cats in sending messages to people, while insects apparently don't give a damn. Bees have a mysterious and complicated message system of their own, in the form of an oriented dance. A scout returns and tells the hive where to find a good haul of nectar He can pinpoint it, says von Frisch, up to two miles from the hive. Studies of higher animals, especially chimpanzees, throw side lights on human communication, and along with startling parallels, emphasize the gulf which separates man from his fellow creatures.

5. *Child Psychology*

A baby arrives with a cry but it is wordless. He has a fear response, but no true perceptions, for lack of experience on which to base them. Naturally he has no stock of words. He sets about collecting experience immediately, and by about eighteen months he has enough memories stashed away to begin verbalizing. Then for several years his tongue, mouth, larynx, and thorax develop at a furious rate; the drive to talk is on him. He talks with his whole body. Some five-year-olds have been clocked at 35,000 running words a day—not of course all different, but all running.

At an early age, the experts say, normal children in all cultures have mastered the structure of their language Here is an illustration. Take three words in English· Man, Bear, Kill. These three words can be arranged—or structured—in six different ways, two of them meaningless, and two which mean something dramatically different from the remaining two. Thus:

KILL MAN BEAR means nothing as written.[8]
KILL BEAR MAN means nothing as written.
MAN KILL BEAR and
MAN BEAR KILL means the same satisfactory act.
BEAR KILL MAN and
BEAR MAN KILL mean the same disastrous act.

Junior at three has probably mastered such structural distinctions—a remarkable accomplishment when one stops to think about it—and at six he talks in fairly complex sentences.

6 *The Culture Concept*

Junior learns his language from the culture, and social scientists say that language is the most important part of any culture. Any two cultures, furthermore, will have cardinal problems of mutual understanding. A joke in one culture, for instance, may be a deadly insult in another.

[8] Spoken and accented you might make something out of it See C. C Fries, *The Structure of English*, Harcourt, Brace, 1952.

7. Linguistics

These scientists are very useful on any field expedition. They collect the sounds of a native language and arrange them into patterns. Presently they can describe and predict the basic phonetic structure. They are less interested in writing than in speaking, while grammar as traditionally taught fills them with alarm. It is not improbable that the linguists are on the way to revolutionizing the study of grammar—an idea which most high school students will be able to take in their stride.

Linguists are concerned not with how things *ought* to be said, but how they are in fact said. They are also concerned with nonverbal communication in the form of gestures and facial expressions—a subscience called *Kinesics* They tell us that while certain tribes may be living under conditions which we call primitive, there are no primitive languages. The tongue of the Australian aborigines—who are about as "primitive" as they come—is more complicated than English. Eskimo has more than 20 words for *snow*—something any skier can appreciate.

8. Metalinguistics

According to Benjamin Lee Whorf, the language we learn tends to control our thinking. In Chapter 10 we illustrated the idea by comparing cultures in the Southwest. in English the clock *runs*, but in Spanish *he walks*. This results in an important difference between the time sense of Anglos and Mexicans, and serious trouble in the practice of medicine. Indo-European languages tend toward black-or-white thinking, while the Chinese language tends toward multivalued thinking, which considers shades of gray. The Hopi language, says Whorf, makes it easier to understand the idea of relativity, with time as a fourth dimension.

9. Modern Physics

Until physicists cleared up their communication they could not tell each other what they had discovered. Every large new

advance, especially the theory of relativity, brought a communication crisis. Percy Bridgman, a Nobel prize winner, has ably documented this story in *The Logic of Modern Physics.* New language has been developed by the physicists in mathematics, multivalued logic, operational definitions, probability theory, statistics of aggregates, theory of types. These languages are international, understood as readily in Tokyo or New Delhi as in Pasadena. The operational definition is especially useful to the student of communication. It gives him a verbal screening machine to eliminate meaningless or unanswerable questions. "Is space bounded?" "Can time have a beginning and an end?" are such questions

10. Group Dynamics

Scientists here are intimately concerned with the relationships inside face-to-face groups, as described in Chapter 23. Much of that relationship takes the form of communication, both by words and by *Kinesics*—the reinforcement of words through gesture. When a member, for instance, leans back in his chair and carefully folds his arms, the message can usually be decoded as, "I won't budge from my position!"

Some of the group analysts are investigating *listening*, the reception and decoding of messages They are experimenting with listening clinics, with labor-management groups listening to the reading of a contract, and with college students—who, according to some experiments, hear only about twenty-five percent of what the lecturer says.

11 and 12. Semantics and General Semantics

These two closely connected disciplines may well merge in the years ahead. Semantics has been around since the turn of the century, when a book by Lady Viola Welby, *What Is Meaning?* first brought it to public attention. In 1921, C. K. Ogden and I. A. Richards published their classic study *The Meaning of Meaning*, and gave us the useful advice. "Find the

referent"—meaning find the thing in the space-time world to which an abstract term refers.

Take, for instance, such a term as "liberty." Floating up there in the stratosphere, it can mean all things to all men. Ogden and Richards would bring it down to earth by asking, *liberty to do what?* "Your liberty to swing your arms," a great jurist is reputed to have said, "ends where my nose begins." "Liberty," like "freedom," "democracy," and "justice" is only a vague sentiment, amiable or quarrelsome, until a referent is found where the idea can be put to work—liberty to criticize the government, freedom to travel, democracy in elections with secret ballot, the justice of letting an accused person cross-examine his accusers, and so on. Political speeches are normally studded with lofty terms which do not have a referent in a carload. Committees of the United Nations have been trying for two years, without success, to define "aggression." They can try for 200 years with no better luck, unless they start with referents and build cautious generalizations from there.

In 1933, Alfred Korzybski, a Polish-American, published *Science and Sanity*, and inaugurated the school of *General Semantics*. It differed from mere semantics in leaning more heavily on mathematics, relativity, neurology, and psychology. Most of us, said Korzybski, are "unsane," in the sense that we scramble communication, and waste time arguing about little men who are not there. Beyond this normal unsanity, there are cases of real mental breakdown which General Semantics can help repair. The first big test came when Dr. Douglas M Kelley, psychiatrist, tried using General Semantics in treating some 7,000 cases of battle shock in World War II. His hospital in Belgium returned 96 percent of its patients to their units, cured. It should be pointed out, however, that while semantic treatment undoubtedly helped, it was not the only therapy employed.[4]

Korzybski not only analyzed language from a fresh point of view, but suggested ways to make its use more precise, and

[4] This experiment is described at more length in *Power of Words*.

enable people to think straighter. One useful suggestion is never to forget that *a map is not the territory*. Language, he said, is the map, and the territory is a real event, out there beyond our heads. If the structure of the map agrees with the structure of the territory—if north and south are in the same relative positions—we can use the map to traverse the territory. But if our road map shows Toledo west of Chicago, and we want to drive to Toledo, we are in trouble. Korzybski tried to bring language maps closer to space-time territory.

Road Blocks

At least a dozen road blocks can break the communication line, among them.

1 Confusing words with things. Believing that the map is really the territory, or controls the territory Say the right words and your enemy will get the pox, or in the modern version, sell the label and never mind what's in the package.

2. Failing to check abstract terms with concrete events. As in the careless use of "liberty," "aggression," and the like.

3. Confusing facts with inferences, with opinions, or value judgments. Most people do not know the difference; they say, "It's a fact that I think she is not as virtuous as she should be."

4. False identifications. We have been treated to a wholesale demonstration of this road block in accusations of guilt-by-association. Reduced to a syllogism these take the form:

President Eisenhower once had meetings with Russian General Zhukoff.

Zhukoff is a Communist.

Therefore Eisenhower is a Communist.

Ridiculous! you cry, and you are right, of course it is ridiculous. But millions of Americans have not learned to avoid this kind of semantic confusion.

5. Thinking in terms of either-or, black-or-white, those who are not with us are against us. If Prime Minister Nehru of India is a so-called "neutralist," he is not with us, and therefore must be in the enemy camp. Isn't it serious enough to

have real Communists against us from Leningrad to Shanghai, without taking on the whole neutralist world?

Other roadblocks to clear communication include the use of gobbledygook, failure to appraise motives, failure to consider major characteristics before passing judgment, and so on.

Enough has been sketched to show that the communication sciences not only are hard at work, but are beginning to form an interlocking front. With every advance the science of man gains strength and direction.

In lighter vein we might end this chapter with another illustration of communication failure [5]

"Mrs Lee, do you think women are better housewives than they used to be?"

"Which women?"

"Which women? Why, any women."

"But I don't know 'any women.' I only know certain women."

"Well, then, the women you know. Are they better housewives than they used to be?"

"In the first place, I don't know what they used to be. In the second place, I don't know what you mean by 'better housewives.' Do you mean, do their draperies match their slip covers? Do you mean, do they compare prices before they buy? Do you mean, do they cook vegetables without destroying the vitamins?"

"Why, yes, we mean all those things."

"But I can't answer all those things at once."

"Well, then, answer one of them. Let's say, do the women you know cook vegetables without destroying the vitamins?"

"I couldn't say. I've never tested their vegetables for vitamins. Wouldn't know how to."

"Well, just give us your opinion, Mrs. Lee"

"What good is my opinion? That isn't a matter of opinion;

[5] An imaginary interview by Mrs. Irving Lee, after she had listened to a radio quiz program sponsored by a food manufacturer of "Fluffy Duff."

it's a matter of fact. The only way I can answer that question is to go and test their vegetables."

"But can't you just make a guess?"

"Oh, well, if you want me simply to guess, I can do that. Yes, my guess would be that most of the women I know destroy some of the vitamin value of vegetables by cooking. But actually, of course, I don't have any way of knowing."

"*So*, Mrs. Lee, you maintain that women are not better housewives today than they used to be. Well, we're all entitled to our own opinions, aren't we, folks?"

"Look here, I didn't say that. I made one little guess and you puffed it up into a big generalization."

"Thank you very much, Mrs. Lee."

"Why don't you quit asking people these ambiguous questions?"

"Thank you very much, Mrs Lee."

"And what's more, the first time I hear a sidewalk interviewer who can distinguish between statements of opinion and statements of fact, I'll buy a whole case of your Fluffy Duff."

Mrs. Lee has amused us while making a serious point Most of us don't know what we are talking about when we climb to the level of high abstractions, and neither does anyone else. The communication sciences are trying to haul us back to the base of common understanding.

27

On the Same Planet

Fitzpatrick, the great cartoonist of the St. Louis *Post Dispatch*, once pictured a huge bomb leaning against a wall, and beside it an equally huge question mark. Two small human figures in the foreground—they might be scientists—are looking up at the vast monoliths. The bomb is labeled, "How to Kill Everybody," and the question mark, "How to Live with Everybody." It was sketched when only the A-bomb was loose, but now with H-bombs in production, and cobalt bombs on the drawing board, the point is even more ominous.

Perhaps the choice is not quite so two-valued; perhaps there will be scattered survivors after the next World War, no one can tell. Atomic weapons, said Sir Winston Churchill in 1955, have passed "outside the scope of human control." The fall out on Eniwetok came as a surprise, and scientists no longer know what can happen, what radiation is doing and may do to forms of life on this planet. Heads of state, who use the methods of diplomacy and war which were standard before Hiroshima, are like boys playing with matches beside an open drum of gasoline.

Thermonuclear Truce

Sir Winston emphasized another idea which has been gaining ground, a happier idea. The very frightfulness of atomic weapons, he thinks, will tend to restrain their use. The U.S.S.R., the United States and Britain all are aware that if one side begins the assault, retaliation will be a matter of hours The size of the stock pile makes little difference so long as there are warheads for that first flight of missiles. Realizing

that atomic attack is a form of suicide, heads of state may hesitate to launch it.

The world may now have reached a Thermonuclear Truce which could last some years. It will be an uneasy truce, for if a psychotic like Hitler should come to power, he might consider it his exalted duty to press the button. Or some local "incident" might touch it off, or some trigger-happy junior officer. A daring belligerent during the truce might gamble boldly on getting what he wanted with lesser weapons—a "brush fire" war—and lose his gamble.

But there is a chance for time, and so a chance to end the truce by something other than pillars of mushroom cloud on all the continents. Perhaps we can utilize the uneasy years to block out the forms of a durable peace, and so contrive an answer to Fitzpatrick's question Perhaps not. But all men of good will must now try

Some Questions

Clearly this is the greatest test of the race since it came down from trees, stood upright, and began to talk like men Have we stood upright long enough? Are there enough mature men and women in the world to see the shape of the present crisis? Do they see the impasse, the dilemma of power and responsibility which we face? It can sound so easy· "We have an explosive that endangers survival; why not get rid of it?" "Everyone wants peace; why not agree to establish it?" These reasonable-sounding questions have difficult and discouraging answers.

> Shall we choose death because we cannot forget our quarrels? I appeal as a human being to human beings remember your humanity, and forget the rest. If you can do so, the way lies open to a new Paradise, if you cannot, nothing lies before you but universal death.[1]

This appeal by Bertrand Russell, eloquent as it is, neglects four serious difficulties.

1. Most of us, in all cultures, cannot forget our quarrels, or "forget the rest," without some intensive training

[1] *Saturday Review*, April 2, 1955.

2. Most of us have little concept of our "humanity," as a generalization.

3. We have no clear concept of a new Paradise—or even an old one.

4. We cannot imagine "universal death."

To cause ordinary mortals to act requires a method beyond an appeal to reason, however eloquent. Social scientists are beginning to understand the complicated process by which new ideas get into the central nervous system, how the learning mechanism operates, and change takes place. Appeals such as Russell's may be good for the soul, but if great masses of men are to be moved, we must go deeper.

To neutralize the bomb, a psychologist has written me, social scientists must begin at the same conceptual level as the physicists did when they split the atom, avoid haste, and go to the root of the problem. This calls for scientific courage. Men who are doing fundamental research should continue it, even if they fail to see a clear application.

Certain tasks, however, are obvious, and many useful tools are ready to hand. Let us look briefly at some of them, and summarize findings described earlier. First, however, let us consider what sort of agency might assemble and use the tools. We begin by setting up a rough, preliminary structure on which to hang ideas.

United Nations Clearing House

The United Nations now has a group working on peaceful uses of atomic energy, following the popular proposal of President Eisenhower in 1953. Let us assume that this group expands to become a clearing house not only for peacetime uses of the atom, but for all serious proposals covering security and peace. It should have qualified social scientists on the staff, able to distinguish between workable plans and perpetual motion machines. Its prime objective should be to find a modus vivendi, a method of accommodation, a technique for negotiation, between the Great Powers.

An early task might be to analyze all international machinery now in use. The World Court, the World Bank, the Postal Union, the international weather service, the Geneva Convention, the Red Cross, epidemic controls, Olympic games, uniform weights and measures, air lines and airports, scientific congresses, religious conferences—the list of agencies which at this moment link the peoples of the world together is as impressive as it is little known. How do these agencies work? Which work best and why?

Here, for instance, is the International Whaling Control.[2] In 1930, representatives from 20 governments concerned with whale fisheries met at Sandefiord in Norway. They came from Britain, the U.S S R., Japan, the United States, South Africa, Argentina, as well as Norway. They proceeded to set up the International Whaling Convention which specified rules for the annual hunt, for ocean "sanctuaries," for protecting various species, and a rigorous system of inspection and enforcement. In 1950 the world quota was set at 16,000 Antarctic whales of the large varieties, like the blue whale.

Inspectors of whales have the same difficult problem which inspectors of atomic weapons may some day have: they must develop a double loyalty—to the International Convention, and to their own national fleet. There is some poaching, but to date the system is working well. Everyone agrees that without it the whaling industry would have destroyed itself through national competition All the valuable kinds of whales would have become extinct. An interesting parallel for study.

Some Problems in Disarmament

Conference after international conference has come to a deadlock on the issue of nuclear test inspection—though one reason for beginning here was the apparent simplicity and desirability of such a measure Disarmament clearly presents many other tough problems—existing stockpiles, for instance, biological and chemical weapons, economic substitutes for arms production.

[2] See R B Robertson, *Of Whales and Men*, Knopf, 1954

In essence, we need a method for allaying fear. The United States is afraid of U.S.S.R. conquering the world, waving the banner of communism. (In 1940 we were afraid of Hitler conquering the world, waving the banner of fascism.) The Russians are afraid of the West overrunning the homeland, remembering what Hitler did on his march to Stalingrad, and what Western armies did on Russian frontiers after World War I. The Germans are afraid of the U.S.S.R., the French are afraid of Germany, the Chinese are afraid of a rearmed Japan. If these fears could be reduced, nations would be more ready to sit down around a table.

World peace must also rest on a modicum of economic security. The vast new potential of atomic energy can be used to increase standards of living. Atomic power, isotopes, irrigation of dry areas with sea water desalted by atomic heat, other engineering miracles, are already on the horizon. Energy in one form or another—from slave power to fuel oil—has always laid the base for a civilization. Now we are developing a wholly new energy base for a planetary civilization. Control agencies must be concerned with building things, not just with stopping things. The enterprise must appeal to the idealism of young people, as well as to the common sense of their elders.

Culture Concept Again

Every control agency and negotiating group will of course need the culture concept as a guide. Unless leaders understand the universal characteristics which all men share, permanent peace is inconceivable, and temporary machinery very difficult to install.

As things are now, chiefs of state, foreign ministers, war departments, must predict behavior in other countries, friendly and unfriendly, every day. If officials predict that certain nations will not live up to their agreements, or that their citizens are ripe for revolt, or that all the nation respects is force—and if they proceed to stake the future of all of us on such assumptions, we are in serious jeopardy. What a help it would be if predic-

tions about the other nations' psychology could be based on something more than fear and hunches.

Social scientists should be retained to attack seriously this problem of prediction. Others should give serious attention to the matter of in-group versus out-group—a subject on which sociologists, anthropologists, and psychologists have already pooled their interest, and which is close to the roots of nationalism and patriotism. At the primitive end of the in-group scale are tribes, like the Copper Eskimos, who think it perfectly moral to steal from strangers, though not from members of the tribe. At the sophisticated end are diplomats who insist that their great nation wants only peace, and the rival power is doing all the warmongering.

Anthropologists call the attitude of the Copper Eskimos "a kind of personal vanity enlarged to embrace the group" What shall we call its counterpart, among the citizens of a Great Power? Peace may depend on clearly understanding such motivations. Is some insularity necessary to stabilize a society, and if so how much? Would it help—as some students have half-seriously suggested—to declare war on Mars, and so throw the out-group to another planet?

The cultural lag must be reckoned with, and the vitality of current institutions, both at home and abroad. We can make little progress by resolving that such and such an institution should be abolished, especially if it is still serviceable to a powerful minority. The only known way to get rid of a worn-out culture trait is to replace it with a more practical one—which was William James's idea in his "moral equivalent of war." Peace will be won not so much by ceasing to do things—say disarming—as by actively doing something else—say building atomic power plants.

Seven Wants

A group of social scientists, led by Mark A. May of Yale, has made a study of American foreign information agencies, especially the Voice of America. Their report, published in 1953,

contains a short list of seven major wants and needs now shared by all the peoples of the world. The list should be rechecked, but as they stand these seven wants give us some valuable leads. Plans which collide with them are suspect. Plans which run parallel are headed in the right direction. People everywhere, the May committee found:

1. Want to know the facts, the truth about domestic and foreign affairs. *Where, they ask, can we go for news which is not twisted for political purposes?*
2. They want peace. It is a universal desire in all countries. *Who is furthering peace sincerely?*
3. They want better standards of living, more security in food and shelter. *Who is promoting such standards? Per contra, who is exploiting the poor?*
4. They want political independence; no more colonialism, no more foreign masters. *Who are the imperialists?*
5. They want their own religious customs and beliefs *Who is trying to undermine our religion?*
6. They want to know more about other peoples. They would like to go and see at first hand. *Who is afraid of letting us go, or of letting us in?*
7. Finally, they want to be on the band wagon, the winning side. *Whom shall we join?*

The U S.S.R. is winning on some of these issues, the democracies on others. The Kremlin is aware of them as forces to be dealt with, while Washington and London have often been more concerned with moral issues than with what people want. Any Western politico at the drop of a hat can tell anyone, anywhere, what he *ought* to want. Among other difficulties, however, the oughts collide.

These mass desires again show the wisdom of the rank and file. The things people want, the questions they ask, are direct and human. The answers they get are often slippery and abstract. The people of the world seem to be unconsciously oriented toward survival, like iron filings to a magnet. Their leaders, by their very responsibilities, to say nothing of the grim process

which brought them to the top, are oriented toward power. How can the people be heard?

It is hard for Westerners to realize that in the last few years more than 500 million people, a quarter of the race, have thrown off the yoke of colonialism. It is safe to assume that more will do the same, until colonialism is as dead as the divine right of kings. How would Americans, collectively or individually, enjoy the permanent role of underdog? Have we imagination enough to put ourselves in the place of a poverty-stricken peasant, working till dark to raise food which will be eaten by someone higher up? Can we remind ourselves that he has a body like ours and a family relationship not so different from ours? The collection of photographs assembled by Edward Steichen under the title "The Family of Man" can help us to remember. So can the pictures of small orphaned children in Korea holding up their arms to American soldiers.

To Utilize the Storehouse

Well, what can social science offer to peace and a viable world? Sample offerings line the shelves of the storehouse, and we have inspected a number of them, but the first is a renewed warning. Very few are being used in international relations, where cultural lag is at its strongest. War and nationalism are deeply embedded in Western culture, and are infecting those lesser powers who either had a tendency to non-violence—like India—or left the fighting to their colonial masters, or settled local quarrels with spear and arrow. Now the new UN states are enthusiastically seeking, and receiving, Western armaments

To reverse this trend requires a strong, clear intention for peace on the part of Western leaders The small nations, though they have registered their disapproval of our arms race, are helpless to control the great nuclear powers—which may account in part for their eagerness to acquire atomic weapons for themselves

Once the Western leaders dared to risk even a small reversal of the nuclear arms race, it would be possible to get the new nations to follow. The experience of the past decade has pretty well shown

that the most reasonable peace proposals tend to become perpetual motion machines, failing strong leadership, backed by a strong popular mandate.

So the first contribution of social science is a warning from anthropology. Do not underrate the strength of war habits and national prejudice in the culture; do not forget that peace depends on workable machinery to settle disputes between nations. Remember that it is not enough to keep postponing a resort to ultimate weapons from year to year; the postponement must be permanent, or destruction will be permanent. Applied technology, growing at an exponential rate, was bound sooner or later to bring us to this impasse in lethal weapons. That day has now arrived, however hard to glimpse through the mists of cultural lag

Here are other items from the storehouse, some described earlier in this book, some new, all helpful in this crisis.

1. Light on the "fighting instinct" Is the human animal incurably addicted to fighting and war? Not according to responsible psychologists and anthropologists, who agree that, while quarreling and fighting are in the genes, organized warfare is a culture trait, without which societies can survive and have survived. Personal fighting and violence, meanwhile, are traits which most individuals are able to do without, aided by a civilization that inculcates law and order What percentage of college graduates in the West have ever been in even a fist fight over individual disagreements?

2 Help for the UN. Why did the League of Nations fail? For one reason because the Senate would not permit the United States to join. How may the UN be made stronger and more useful? Social scientists such as Grenville Clark and Louis Sohn are hard at work on the problems of *World Peace through World Law,* and have published a book under that title.

3. Useful data is available in numerous study centers throughout the country, in universities, government, and private foundations. The University of Michigan has a Center for Research on Conflict Resolution. Stanford has a center for the behavioral sciences. The "area study" technique, developed by such scientists as Kluckhohn, Murdock, Leighton and Gardner, who in World War II discov-

ered what was going on in a country without being there, offers a mine of material. The technique can be useful in respect to areas like Red China, where for many years direct information has been sealed off. Russian Research Centers at Columbia, Harvard and elsewhere continue to collect stores of valuable data on the Russian people, their government, their economy, their leaders and ideology. Can we hope to negotiate successfully without an understanding of the group on the other side of the table? Many accounts of Russia in American mass media are not much more reliable than *Pravda*'s accounts of "ruling circles" in the United States.

4 Useful data is now being collected by the U. S. Arms Control and Disarmament Agency, set up by Congress in 1961. With its limited budget, however, this group might welcome reports by other expert and objective researchers.

5. To improve techniques of conference and negotiation, much useful material is available in studies by UNESCO and by the Group Dynamics people, especially National Training Laboratories, at Bethel, Maine, and elsewhere. The simple but effective technique of role-playing, in which one puts oneself in the other fellow's shoes, can be particularly valuable for delegates to international conferences. Foreign service officers should practice it intensively at every level. Even Messrs. Kennedy and Khrushchev, if they could role-play a summit conference beforehand, might make better progress. (A union delegate, after role-playing a meeting on contract renewal with officials of a large rubber company, remarked. "I could just feel those stockholders breathing down my neck!")

6. UNESCO can furnish useful studies too on national stereotypes. When you think of a Frenchman, what kind of image forms in your mind? When he thinks of an American, what does a Frenchman see? UNESCO's reports describe how these stereotypes change over the years. We may recall how most Americans pictured the Japanese after Pearl Harbor, or the Germans at the time of D-day, and compare with the present pictures.

7. The Foreign Service Institute in the State Department has recorded much good work in preparing career officers for foreign

service by giving them strong doses of the culture concept. Officers also learn remote languages by an effective and rapid method based on speaking first and writing later.

Henry Lee Smith, Jr., an expert language analyst, who helped install these courses at the Foreign Service Institute, points out that language is always a function of culture. As we have no world culture, an international synthetic language can never be much more than a signal system and must always lack the rich overtones of true language Whatever its shortcomings as a medium for poetry, for instance, a universally accepted communication code would nevertheless simplify all international relations, from locating the rest room to negotiating disarmament.

In a cultural exchange conference I attended in Russia in 1961, the language difference lengthened the time appreciably, in spite of simultaneous translations by skilled UN interpreters. It hampered our personal relations outside the conference room, as delegates tired quickly with the effort to understand each other. The few talented bilinguists fared best, but they were overworked trying to help the others. A few techniques from the laboratory at Bethel would also have expedited our communication.

The language barrier is said to have been the most formidable brake on the development of the Common Market in Europe. Communication difficulties, we may be sure, will continually haunt us until a common coin is adopted. The most popular natural language all over the world appears to be English. To adopt it as a world language, however, presents severe difficulties, both from such rival languages as Russian, Chinese and Arabic, and from the chaotic spelling and derivations of English words Social scientists must work continually on this cardinal matter of world communication Someone, I believe George Eliot, once said· "The peoples of the world are islands shouting at each other over seas of misunderstanding"

8. Close beside the problem of disallowing nuclear war, and deeply involved with it, stands the problem of the Hungry World —that half of mankind where per capita income is $100 a year or less in equivalent supplies, and where the illiteracy rate is above 50

percent. Is there any answer except to hold population in line with the food supply? While organic chemists invent synthetic foods of various types, social scientists are working on means to control the birth rate. Programs of foreign economic aid, unless guided by these findings, can result in and have already resulted in waste and futility. Of what use is the great Aswan Dam on the Nile if the new cropland it irrigates can barely feed the increase in population that accumulated during its construction, so that it leaves Egypt as hungry as ever?

28

Toward a Science of Man

What have we learned from our rough-and-ready survey across the front of the social sciences, in this second decade of the Atomic Age? The reader must answer for himself, but for the author the journey has been rewarding. This sample, rough as it is, shows that knowledge is now available on a scale which most of us have been unaware of.

The interest in social science, furthermore, is deep and growing. Government, business management, all our major institutions, increasingly depend on its findings. The questions, indeed, are piling up faster than answers can be found. The scientists are under pressure from two sides—on the one hand to speed application and engineering, on the other to maintain research standards. New responsibilities fall upon the psychologists and economists and political scientists, and now the whole faculty is charged with the greatest responsibility of all—to help us safely through the Thermonuclear Truce.

It is no longer necessary to argue whether social science is "science," or what good it is beyond providing credits for a university degree. The *Scientific American*, for instance, has long since ceased to look down its nose at the social disciplines. A count of articles published in 1953 and 1954 shows 38 out of 194 of them in the social field, with nine on the borderline, or almost one quarter not primarily concerned with traditional natural science. We note such titles as "Conditioning and Emotions," "Linear Programming," "Economic Psychology," "What Is Memory?"

FACING THE PARADOXES

A more important question is a philosophical one, and it is often raised. Granted that the scientific method has invaded the field of behavior, where is "science" itself taking us? Scientists have produced a weapon which Churchill says is out of human control—not to mention the robots, the "lonely crowds," the unemployed, the juvenile delinquents, the uprooted people, of the machine age. Might it not have been better if Galileo had never dropped his shot from the Leaning Tower; better if the Second Law of Thermodynamics had not been verified, better if Einstein had never demonstrated that energy equals mass times the speed of light, squared?

There are two answers. In the first place, Galileo *did* inaugurate the era of modern science, which the Royal Society presently formalized, Einstein did discover the explosive equation governing atomic energy, and whether science is a good thing or not, it is locked in the culture. Among other results, it has made life possible for far greater numbers than could survive without it Deprived of mechanized agriculture, serums, and prime movers, at least half the present population of the West would soon be dead.

In the second place, "science" is only one of a whole battery of paradoxes which the mature mind must face. "Science" can blow us off the planet, yes, but it is abolishing disease around the world, and has all but wiped out helpless poverty in the United States. "Language," as noted in Chapter 26, is both a blessing and a menace—"danger: men talking." "Religion" can be a great comfort, but religious fanatics have promoted holy wars. "Liberty" to move and speak freely is priceless, "license," at the other end of the scale, is destructive. "Democracy" can give the fairest form of government yet devised, and also provide a field day for demagogues. It is difficult to think of any large abstract quality which is not at its extremes both beneficent and malignant.

A little semantic analysis helps resolve these paradoxes. *The*

lofty terms are meaningless as they stand. Not until referents are found for them can they become meaningful—"liberty" to do what? Once found, referents can be arranged on a scale, or a frequency distribution curve, with the extremes at either end. Applying this idea to the scientific method we find that its uses are legion, on a scale that varies all the way from "how to live with everybody" to "how to kill everybody." Science, someone has said, does not provide an escalator to carry man automatically to Utopia, but an elevator which can carry him either up or down. Every new invention presents him with the challenge of which button to press. We should stop, look, and listen before jumping to the conclusion that "science," or "democracy," or "liberty," is either all good or all bad—any more than an ax is either good or bad. How are you going to use the ax?

How About Ethics?

The scientific method as such is amoral; but Alexander Leighton notes that ethical considerations can influence a piece of scientific research at three points: (1) When deciding what to investigate—say crime and prisons; (2) when selecting experimental techniques—say, no surgical experiments on human beings, however revealing; (3) when deciding how to apply the results—shall automation be allowed to increase unemployment? Remember, too, the oath of Hippocrates, and the ethical code of the psychologists.

Only the scientific method can resolve problems independently of our wills, desires, and emotions. To fudge an experiment, as we observed earlier, slant a conclusion, report anything but the whole truth as one knows it alone in the night, brings ignominy and oblivion. Integrity must follow curiosity in the development of any genuine scientist In this regard, science is perhaps the most ethical of all man's disciplines, operating above cultures, above nationalism, above all ideological systems. Thus ethics itself can be a legitimate study in social science. One professor I know teaches it as a branch of anthropology.

The culture concept, indeed, can provide a stabilizing element

for one's philosophy in this crisis-ridden world. It shows the student, on good scientific authority, that he belongs to something more enduring than one society or one nation. He feels himself part of a process which has been evolving for perhaps a million years. Many standard dogmas—Marxism and fascism for instance—dissolve on continued contact with the idea of culture, leaving something more substantial in their place.

Again in Chapter 12 we saw how science has demolished fixed notions about racial differences. If it has not established complete "equality," it has established the negative proposition which is almost as strong—there is as yet no proof of inherent inequality. We owe to social scientists the cardinal distinction between *race prejudice*, which is deep in one's nervous system and hard to change, and *discrimination*, which can be removed overnight in many cases. Ultimately its removal helps to melt down prejudice. Ethics and science meet in this analysis.

Two Observations

Throughout this book two major observations recur: the place of relativity in scientific work today, and the need for taking down partitions between the disciplines.

Absolutes in science have all but vanished, to be replaced by ideas of order, structure, relation, probability. Few conclusions are 100 percent so; there is always room for a new experiment to increase the probability. Such an attitude is baffling to minds that like stark yes or no answers, but there seems to be no other way to fruitful discovery. On a very few levels, absolutes may still prevail—perhaps C, the speed of light, is an absolute. But in most scientific work, as in climbing a granite face, it is a rocking, flexible balance which gets one up the cliff.

Waldemar Kaempffert meanwhile believes that scientific teamwork saved Britain:

> It was not the generals who won the war for the British, but the professors, and they won it by cooperatively applying the scientific method to every phase of fighting Strange as it may seem, zoolo-

gists, geneticists, mathematicians, psychologists, anthropologists, physicists and chemists, worked together in teams to solve problems presented by German bombers and submarines. . . .

Before the war, emphasis in the graduate schools here and abroad was on training students to be competent, clever, and critical within the walls of their own discipline. One goal was to see who could most effectively annihilate whom. The war reversed this attitude and demanded cooperation between disciplines and an end to intellectual feuding. Social scientists found it hard at first, but many grew to like it. "Each came out of it," says John W. Gardner, "with a new respect for the special competence of the others." How long will it be before a group of graduate students may be freely permitted to submit a joint thesis? Several advance cases are already on record.

This brings us to some notes about training. A professor of sociology gives us a picture of what to expect in a modern department of social science.[1] One of his colleagues is collecting data to determine "what combination of urban and rural living will conserve the values of each, yet avoid the ill effects of both a mass society and provincialism?" Another colleague inquires: "How does the life one leads influence his development and growth?" A third is just back from islands in the Pacific, where he worked out written languages for natives who used only the spoken word. (The poor chaps will now have to learn to spell.) A fourth associate, flying to the scene of tornadoes, earthquakes, plane crashes, is studying how people behave in crisis, and so how to control panic and speed relief in disasters

The role of a social scientist is now so central, Wilson says, that training is of great importance. It should include, along with his speciality, courses in biology, language, cross-cultural comparisons, statistics, history, philosophy, and logic The student should be "taught to challenge the easy generalizations by seeking in his own experience a contradictory case." He should learn to state a problem clearly and precisely before he

[1] E K. Wilson in *Antioch Notes*, November 15, 1954.

attempts an answer, and learn to relate his particular problem to a class of problems. "Whatever he sees, he must learn to analyze; and for this he needs background in the logic and tools of inquiry." His training should enable him to separate sharply what *is* from what *ought* to be.

The day is approaching, furthermore, when an intelligent layman will not feel himself competent to decide complicated questions about crime or sex or the federal budget without some background in social science—perhaps a course or two in college, or in the extension field. He does not now claim competence in genetics or astronomy without study, and why should he here? Newspaper editorials deal with social problems every day, but most editorial writers seem quite unaware that there is anything to learn beyond common sense and a fistful of figures.

What do students specializing in social science look like? We said earlier that they may spend as many years at it as a medical student. The Social Science Research Council has made a study of 153 students majoring in the field in 100 colleges.[2] They were a picked group, averaging B plus or better.

Their spelling—like your author's—was found to be "highly original," while their sentence structure was often a deep mystery. Very few have yet developed a clear prose style—as Oxford and Cambridge students usually do at the same age—and one wonders why. Their parents are a varied lot—professional people, business executives, tradesmen, clerks, and skilled workers. It was usually a high school teacher who first aroused their interest. "The fondness and sense of intellectual debt displayed when writing of these teachers are impressive." Sometimes a parent or a college professor opened a window and let in the light

These students reflect the flexible class structure of America, with parents encouraging children to a professional standing higher than their own. There has been a good deal of moving about the country, giving the youngsters direct knowledge of

[2] SSRC *Items*, September, 1954.

many places and many people. As a group, the students have been good observers, and despite high marks are far from "greasy grinds." They are active in athletics, fraternities, college organizations. The stereotype of the social misfit who retires into a world of books is "simply not substantiated."

The group is less interested in scholarship than in people, but is glad to use scholarly knowledge in trying to understand people. Along with curiosity about human behavior, a majority have a dash of the reformer in them. This helps to keep them interested while they gradually acquire a more scientific approach. (Perhaps Chapter 22 would do them no harm.) Said one: "I want to work in a field which presents challenges in terms of personal satisfaction, and in terms of a world need." On the whole their attitude reflects the observation of George C. Homans: "There is only one paramount reason for studying anything but the multiplication table . . . you are so interested in a subject that you cannot let it alone. . . ."

The proper study of mankind presents plenty of challenges. It is replete with half-answered, unanswered, and slurred-over questions. Young men and women of spirit and imagination have a none too easy career before them if they embrace social science. They will have, too, the haunting certainty that the world's future depends on finding better answers than any which have yet been demonstrated.

But these human problems are more urgent and more dramatic than the problems in any physics laboratory. Here, as the atomic age deepens, is the intellectual adventure of our time, here the unknown continents to be explored and mapped. What can be a greater life work than extending the boundaries of the science of man?

Selected Bibliography

This partial list gives sources cited in the text, along with some background material not directly quoted. Reports of laboratory or field studies are designated R, works especially recommended for students are starred; P stands for pamphlet. Magazine articles quoted are not listed here, but are covered in the text itself by footnotes.

A complete list of important work in so broad a field would clearly be impossible, and many excellent books remain unlisted. This includes the major classics and Great Books in these subjects, which the student can readily find in libraries or in popular editions. Two good recent summaries of the classic economists will be found, by George Soule and Robert Heilbroner. Linton's *Study of Man* is recommended for background in cultural anthropology, Leonard Doob's *Social Psychology* for that subject, and for sociology, both Davis, Bredemeier, and Levy's *Modern American Society* and MacIver and Page's *Sociology* are useful.

Allport, Gordon W., *The Nature of Prejudice*, Boston, Beacon Press and Cambridge, Addison-Wesley Publishing Company, Inc., 1954.

R Anderson, Sherwood, *Home Town: The Face of America*, New York, Alliance Book Corporation, 1940

Appleby, Paul, *Big Democracy*, New York, Alfred A Knopf, Inc., 1946

Arnold, Thurman, *The Bottlenecks of Business*, New York, Reynal & Hitchcock, 1940.

R Bales, R. F., *Interaction Process Analysis*, Cambridge, Addison-Wesley Publishing Company, Inc., 1950

Barnard, Chester I., *The Functions of the Executive*, Cambridge, Harvard University Press, 1938.

Barnard, Chester I., *Organization and Management*, Cambridge, Harvard University Press, 1948.

* Benedict, Ruth, *Patterns of Culture*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1934.

*P Benedict, Ruth, and Weltfish, Gene, *The Races of Mankind*, New York, Public Affairs Pamphlets, Pamphlet No. 85, 1943.

R Berelson, Bernard R., Lazarsfeld, Paul, and McPhee, William N., *Voting: A Study of Opinion Formation in a Presidential Campaign*, Chicago, University of Chicago Press, 1954.

Berle, Adolf, *The Twentieth Century Capitalist Revolution*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1954.

Berle, Adolf, and Means, Gardiner C., *The Modern Corporation and Private Property*, New York, The Macmillan Co., 1933.

R Blumenthal, Albert, *Small Town Stuff*, Chicago, University of Chicago Press, 1932.

Boas, Franz, *Anthropology and Modern Life*, New York, W. W. Norton & Company, Inc., 1928.

Boas, Franz, *The Mind of Primitive Man*, New York, The Macmillan Co., 1911, 1938.

Bridgman, Percy W., *The Logic of Modern Physics*, New York, The Macmillan Co, 1932.

Brunner, Edmund de S., and Hallenbeck, Wilbur C, *American Society: Urban and Rural Patterns*, New York, Harper & Brothers, 1954.

Burnham, James, *The Managerial Revolution: What Is Happening to the World*, New York, The John Day Co., 1941.

Cameron, Norman, *The Psychology of Behavior Disorders: A Biosocial Interpretation*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1947.

Cantril, Hadley, *The "Why" of Man's Experience*, New York, The Macmillan Co., 1950.

Carroll, John B., *The Study of Language: A Survey of Linguistics and Related Disciplines in America*, Cambridge, Harvard University Press, 1953.

Chamberlin, E. H., *The Theory of Monopolistic Competition*, Cambridge, Harvard University Press, 1932.

PR Chase, Stuart, *"Operation Bootstrap" in Puerto Rico*, Washington, National Planning Association, Planning Pamphlet No. 75, 1951.

Chase, Stuart, *Mexico, A Study of Two Americas*, New York, The Macmillan Co., 1931.

Chase, Stuart, *Power of Words*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1954.

Chase, Stuart, *Roads to Agreement*, New York, Harper & Brothers, 1951

Chase, Stuart, *The Tyranny of Words*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1938.

Childs, Marquis, *This Is Democracy: Collective Bargaining in Scandinavia*, New Haven, Yale University Press, 1938.

Clapp, Gordon R., *The TVA: An Approach to the Development of a Region*, Chicago, University of Chicago Press, 1955.

Clark, Colin, *The Conditions of Economic Progress*, London, The Macmillan Co., 1940.

Clark, John Maurice, *Guideposts in a Time of Change*, New York, Harper & Brothers, 1949

Clark, John Maurice, *Social Control of Business*, 2d ed, New York, McGraw-Hill Book Co., 1939.

Cohen, Morris R., and Nagel, Ernest, *An Introduction to Logic and Scientific Method*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1934.

Cole, Margaret, *Beatrice Webb*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1946.

Cooley, Charles H, *Social Organization*, New York, Charles Scribner's Sons, 1922.

R Dahir, James, *Communities for Better Living: Citizen Achievement in Organization, Design and Development*, New York, Harper & Brothers, 1950.

R Davis, Allison, *Social Class Influences on Learning*, Cambridge, Harvard University Press, 1948

R Davis, Allison, and Gardner, Burleigh and Mary, *Deep South: A Social Anthropological Study of Caste and Class*, Chicago, University of Chicago Press, 1941.

* Davis, Kingsley, and Bredemeier, H. C., *Modern American Society*, New York, Rinehart & Company, Inc, 1949

R Dietz, Walter, and Kirkpatrick, Frances, eds., *The Training Within Industry Report, 1940–1945*, Washington, War Manpower Commission, 1945.

Dimock, Marshall Edward, *Business and Government*, New York, Henry Holt & Co., Inc., 1949.

R Dollard, John, *Caste and Class in a Southern Town*, New York, Harper & Brothers, 1949.

* Dollard, John, and Miller, Neal E., *Personality and Psychotherapy*, New York, McGraw-Hill Book Co., 1950.

Dollard, John, and Miller, Neal E., *Social Learning and Imitation*, New Haven, Yale University Press, 1941.

* Doob, Leonard W., *Social Psychology: An Analysis of Human Behavior*, New York, Henry Holt & Co., Inc., 1952.

Doob, Leonard W., *The Plans of Men*, New Haven, Yale University Press, 1940.

Drucker, Peter, *The Practice of Management*, New York, Harper & Brothers, 1954.

R Dublin, Louis I., *The Facts of Life from Birth to Death*, New York, The Macmillan Co., 1951.

R Dublin, Louis I., and Lotka, A. J., *Length of Life*, 1936, rev. ed. with M. Spiegelman, New York, The Ronald Press Company, 1949.

Durkheim, Emile, *The Division of Labor in Society*, New York, The Macmillan Co., 1933.

Fine, Benjamin, *1,000,000 Delinquents*, Cleveland, The World Publishing Company, 1955

Finletter, Thomas, *Can Representative Government Do the Job?* New York, Reynal & Hitchcock, 1945.

R Flanagan, John C., ed., *The Aviation Psychology Program in the Army Air Forces*, 19 vols., Washington, Government Printing Office, 1948.

PR Flanagan, John C., *American Institute for Research Reports*, Pittsburgh, 1948-51.

Follett, Mary P., *Creative Experience*, New York, Longmans, Green & Co., Inc., 1924

Frank, Lawrence K., *Nature and Human Nature: Man's New Image of Himself*, New Brunswick, Rutgers University Press, 1951

Fraser, James G , *The Golden Bough*, abridged ed., New York, The Macmillan Co., 1922.

R Frisch, Karl von, *Bees, Their Vision, Chemical Senses, and Language*, Ithaca, Cornell University Press, 1950.

* Galbraith, J. Kenneth, *American Capitalism: The Concept of Countervailing Power*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1952.

Galbraith, J. Kenneth, *Economics and the Art of Controversy*, New Brunswick, Rutgers University Press, 1955.

Galbraith, J. Kenneth, *The Great Crash, 1929*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1955.

Giddings, Franklin H., *Studies in the Theory of Human Society*, New York, The Macmillan Co , 1922.

Gillin, John, *The Ways of Men: An Introduction to Anthropology*, New York, Appleton-Century-Crofts, Inc., 1948.

R Glueck, Sheldon and Eleanor, *Unraveling Juvenile Delinquency*, Cambridge, Harvard University Press, 1950.

R Golden, Clinton S., and Parker, Virginia, eds., *Causes of Industrial Peace under Collective Bargaining*, New York, Harper & Brothers, 1953.

Hansen, Earl Parker, *Transformation: The Story of Modern Puerto Rico*, New York, Simon and Schuster, Inc., 1955.

* Hayakawa, S. I., *Language in Thought and Action*, New York, Harcourt, Brace & Co , 1949.

R Healy, William, and Bronner, Augusta F., *New Light on Delinquency and Its Treatment*, New Haven, Yale University Press, 1936.

Hecht, Selig, *Explaining the Atom*, New York, The Viking Press, Inc., 1947.

* Heilbroner, Robert L., *The Worldly Philosophers: The Lives, Times, and Ideas of the Great Economic Thinkers*, New York, Simon and Schuster, Inc., 1953.

Herskovits, Melville J., *The Anthropometry of the American Negro*, New York, Columbia University Press, 1930.

Hicks, Clarence J., *My Life in Industrial Relations: Fifty Years in the Growth of a Profession*, New York, Harper & Brothers, 1941.

Hicks, Granville, *Small Town*, New York, The Macmillan Co., 1946.

Hogben, Lancelot, *Science for the Citizen*, New York, Alfred A. Knopf, Inc., 1938.

R Hollingshead, August B., *Elmtown's Youth: The Impact of Social Classes on Adolescents*, New York, John Wiley & Sons, Inc., 1949.

Homans, George C., *The Human Group*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1950.

* Huxley, Julian, *Man Stands Alone*, New York, Harper & Brothers, 1941.

R Katona, George, *Psychological Analysis of Economic Behavior*, New York, McGraw-Hill Book Co., 1951.

R Katona, George, and Mueller, Eva, *Consumer Attitudes and Demand, 1950–1952*, Ann Arbor, Survey Research Center, 1953.

Keynes, John Maynard, *The General Theory of Employment, Interest and Money*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1936.

Keynes, John Maynard, *How to Pay for the War*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1940

Kinsey, Alfred C., Pomeroy, Wardell B., and Martin, Clyde E., *Sexual Behavior in the Human Male*, Philadelphia, W. B. Saunders Co., 1948.

R Klineberg, Otto, ed., *Characteristics of the American Negro*, New York, Harper & Brothers, 1944.

Klineberg, Otto, *Race Differences*, New York, Harper & Brothers, 1935.

* Kluckhohn, Clyde, *Mirror for Man: The Relation of Anthropology to Modern Life*, New York, McGraw-Hill Book Co., 1949.

Korzybski, Alfred, *Science and Sanity: An Introduction to Non-Aristotelian Systems and General Semantics*, International Non-Aristotelian Library Publishing Co., 1933, 1941, 1948. Distributed by Institute of General Semantics, Lakeville, Conn.

Kroeber, A. L., *Anthropology*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1923.

Lasswell, Harold, *Politics: Who Gets What, When, How?* Gloucester, Peter Smith, 1950.

Lee, Irving J., *Language Habits in Human Affairs: An Introduction to General Semantics*, New York, Harper & Brothers, 1941.

*R Leighton, Alexander, *The Governing of Men*, Princeton, Princeton University Press, 1945.

Leighton, Alexander, *Human Relations in a Changing World:*

Observations on the Use of the Social Sciences, New York, E. P. Dutton & Co., Inc., 1949.

R Leontief, Wassily, *The Structure of the American Economy*, New York, Oxford University Press, Inc., 2d ed., 1951.

Lewin, Kurt, *Field Theory in Social Science: Selected Theoretical Papers*, New York, Harper & Brothers, 1951.

R Lewin, Kurt, *Resolving Social Conflicts*, New York, Harper & Brothers, 1948.

Lilienthal, David E., *Big Business, A New Era*, New York, Harper & Brothers, 1953.

* Lilienthal, David E., *TVA, Democracy on the March*, New York, Harper & Brothers, 1944

Lindeman, E C., *Social Education*, New York, New Republic, 1933.

* Linton, Ralph, *The Study of Man*, New York, Appleton-Century-Crofts, Inc., 1936.

R Lippitt, Ronald, *Training in Community Relations*, New York, Harper & Brothers, 1949

R Lombard, George F. F., *Behavior in a Selling Group: A Case Study of Interpersonal Relations in a Department Store*, Boston, Harvard Graduate School of Business Administration, 1955

Lorimer, Frank, and Osborn, Frederick, *Dynamics of Population*, New York, The Macmillan Co., 1934.

Lubell, Samuel, *The Future of American Politics*, New York, Harper & Brothers, 1952.

Lundberg, George A., *Can Science Save Us?* New York, Longmans, Green & Co., Inc., 1947.

*R Lydgate, William A., *What Our People Think*, New York, Thomas Y. Crowell Co., 1944.

Lynd, Robert, *Knowledge for What? The Place of Social Science in American Culture*, Princeton, Princeton University Press, 1939.

R Lynd, Robert and Helen, *Middletown: A Study in Contemporary American Culture*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1929.

R Lynd, Robert and Helen, *Middletown in Transition: A Study in Cultural Conflicts*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1937.

* MacIver, Robert M., and Page, Charles H., *Sociology*, New York, Rinehart & Company, Inc., 1949.

Malinowski, Bronislaw, *A Scientific Theory of Culture*, Chapel Hill, University of North Carolina Press, 1944.

Malthus, Thomas, *An Essay on the Principle of Population*, London, 1798.

Marrow, Alfred J., *Living Without Hate*, New York, Harper & Brothers, 1951.

R Marshall, Robert, *Arctic Village*, New York, Smith and Haas, 1933.

R May, Mark A., and associates, *Seventh Semi-annual Report of U. S. Advisory Committee on Information*, House Document 94 of 83rd Congress, Washington, Government Printing Office, 1953.

Mayo, Elton, *The Human Problems of an Industrial Civilization*, New York, The Macmillan Co., 1933.

* Mayo, Elton, *The Social Problems of an Industrial Civilization*, Boston, Harvard Graduate School of Business Administration, Division of Research, 1945.

PR Mayo, Elton, and Lombard, George F. F., *Teamwork and Labor Turnover in the Aircraft Industry of Southern California*, Boston, Harvard Graduate School of Business Administration, Business Research Studies, No. 32, 1944.

*R Mead, Margaret, *Sex and Temperament in Three Primitive Societies*, New York, William Morrow & Co., Inc., 1953.

Menninger, William C., *Psychiatry, Its Evolution and Present Status*, Ithaca, Cornell University Press, 1948.

Merriam, Charles E., *The Written Constitution and the Unwritten Attitude*, West Rindge, New Hampshire, R. R. Smith, 1931.

Merriam, Charles E., *What Is Democracy?* Chicago, University of Chicago Press, 1941.

Miller, George A., *Language and Communication*, New York, McGraw-Hill Book Co., 1951.

Mitchell, Wesley C., *The Backward Art of Spending Money, and Other Essays*, New York, McGraw-Hill Book Co., 1937.

R Morgan, Lewis H., *Ancient Society, or Researches in the Lines of Human Progress from Savagery Through Barbarism to Civilization*, New York, Henry Holt & Co., Inc., 1877.

Morgenstern, Oskar, and Neumann, John von, *The Theory of Games and Economic Behavior*, rev. ed., Princeton, Princeton University Press, 1947.

Murdock, George Peter, *Our Primitive Contemporaries*, New York, The Macmillan Co., 1926, 1934.

Murdock, George Peter, *Social Structure*, New York, The Macmillan Co., 1949.

Murray, Elwood, Barnard, Raymond H., and Garland, Jasper V., *Integrative Speech*, New York, The Dryden Press, Inc., 1953.

R Myrdal, Gunnar, *An American Dilemma*, 2 vols., New York, Harper & Brothers, 1944.

* Ogburn, William F., *Social Change*, New York, The Viking Press, Inc., 1950.

Ogburn, William F., *The Social Effects of Aviation*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1946.

* Ogburn, William F., and Nimkoff, M. F., *Sociology*, Boston, Houghton Mifflin Co., 1940, 1946, 1950.

Ogburn, William F., Odum, Howard, and Hunt, Edward E., eds., *Recent Social Trends*, 2 vols., New York, McGraw-Hill Book Co., 1933.

Ogden, C. K., and Richards, I. A., *The Meaning of Meaning*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1923, 1936.

Park, R. E., and Burgess, Ernest W., *Introduction to the Science of Sociology*, Chicago, University of Chicago Press, 1921.

* Parker, Carleton H., *The Casual Laborer and Other Essays*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1920.

R Raper, Arthur F., *Preface to Peasantry*, Chapel Hill, University of North Carolina Press, 1936.

R Redfield, Robert, *Tepoztlan, A Mexican Village*, Chicago, University of Chicago Press, 1930.

Rivers, W. H. R., *Medicine, Magic and Religion*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1924.

Rivers, W. H. R., *Social Organization*, W. J. Perry, ed., vol. 1, *History of Civilization*, New York, Alfred A. Knopf, Inc., 1924.

R Roethlisberger, F. J., and Dickson, William J., *Management and the Worker*, Cambridge, Harvard University Press, 1940.

* Rogers, Carl R., *Counseling and Psychotherapy*, Leonard Carmichael, ed., Boston, Houghton Mifflin Co., 1942.

Ruml, Beardsley, *Tomorrow's Business*, New York, Farrar & Rinehart, 1945.

Sapir, Edward, *Language: An Introduction to the Study of Speech*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1921.

R Saunders, Lyle, *Cultural Difference and Medical Care*, New York, Russell Sage Foundation, 1954.

* Scheinfeld, Amram, *The New You and Heredity*, Philadelphia, J. B. Lippincott Co., 1950.

R Schultz, Richard S., *Wartime Supervision of Workers: The Human Factors in Production for Executives and Foremen*, New York, Harper & Brothers, 1943.

Selekman, Benjamin M., *Labor Relations and Human Relations*, New York, McGraw-Hill Book Co., 1947.

Seligman, E. R. A., Johnson, Alvin, and Lerner, Max, eds., *Encyclopedia of the Social Sciences*, 8 vols., New York, The Macmillan Co., 1937.

Shafer, Boyd C., *Nationalism, Myth and Reality*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1955.

Shannon, Claude, and Weaver, Warren, *The Mathematical Theory of Communication*, Urbana, University of Illinois Press, 1949.

* Soule, George, *Ideas of the Great Economists*, New York, The Viking Press, Inc., 1952.

Soule, George, *The Useful Art of Economics*, New York, The Macmillan Co., 1929.

R Spicer, Edward H., ed., *Human Problems in Technological Change: A Casebook*, New York, Russell Sage Foundation, 1952.

Steffens, Lincoln, *Autobiography*, New York, Harcourt, Brace & Co., 1931.

Stimson, Dorothy, *Scientists and Amateurs: A History of the Royal Society*, New York, Henry Schuman, Inc., 1948.

R Stouffer, Samuel A., *Communism, Conformity and Civil Liberties: A Cross-section of the Nation Speaks Its Mind*, Garden City, Doubleday & Company, Inc., 1955.

PR Stouffer, Samuel A., and associates, *Report for the Five Years,*

1946–1951, Cambridge, Harvard University, Laboratory of Social Relations.

Stouffer, Samuel A., and associates, *The American Soldier*, 2 vols., Princeton, Princeton University Press, 1949.

Sumner, William Graham, *Folkways*, Boston, Ginn & Company, 1906

Taylor, Frederick W., *Scientific Management*, New York, Harper & Brothers, 1923.

R Terman, Lewis M., and Merrill, M. A, *Measuring Intelligence*, Boston, Houghton Mifflin Co, 1937.

Thelen, Herbert A., *Dynamics of Groups at Work*, Chicago, University of Chicago Press, 1954.

Thomas, W. I, *Primitive Behavior*, New York, McGraw-Hill Book Co, 1937.

Thomas, W. I., *The Unadjusted Girl*, Boston, Little, Brown & Co., 1923.

Turner, Frederick Jackson, *The Frontier in American History*, New York, Henry Holt & Co., Inc, 1920.

Veblen, Thorstein, *The Theory of the Leisure Class*, New York, The Macmillan Co., 1899. Modern Library, Inc, 1934

R Walker, Charles R., and Guest, Robert H., *The Man on the Assembly Line*, Cambridge, Harvard University Press, 1952.

R Warner, W. Lloyd, and associates, *Democracy in Jonesville: A Study in Quality and Inequality*, New York, Harper & Brothers, 1949.

R Warner, W. Lloyd, and Lunt, Paul S., *The Social Life of a Modern Community*, Vol. 1 of Yankee City Series, New Haven, Yale University Press, 1941.

R Warner, W. Lloyd, and Lunt, Paul S, *The Status System of a Modern Community*, Vol. 2 of Yankee City Series, New Haven, Yale University Press, 1942.

R Warner, W. Lloyd, and Srole, Leo, *The Social Systems of American Ethnic Groups*, Vol. 3 of Yankee City Series, New Haven, Yale University Press, 1945.

R Warner, W. Lloyd, and Low, J. O., *The Social System of the Modern Factory*, Vol. 4 of Yankee City Series, New Haven, Yale University Press, 1947.

R West, James, *Plainville, U. S. A.*, New York, Columbia University Press, 1945.

PR Whetten, Nathan L., *Wilton, A Rural Town near Metropolitan New York*, Connecticut State College, Storrs, Studies of Suburbanization in Connecticut, No. 3, 1939.

P Whorf, Benajmin Lee, *Four Articles on Metalinguistics*, Washington, Foreign Service Institute, 1949.

Wiener, Norbert, *Cybernetics*, Cambridge, Technology Press, 1949.

Williams, James Michel, *Our Rural Heritage and the Expansion of Rural Life*, New York, Alfred A. Knopf, Inc., 1925.

R Williams, Robin M., Jr., and Ryan, Margaret W., *Schools in Transition: Community Experiences in Desegregation*, Chapel Hill, University of North Carolina Press, 1954.

• Wissler, Clark, *An Introduction to Social Anthropology*, New York, Henry Holt & Co., Inc., 1929.

Woodward, C. Vann, *The Strange Career of Jim Crow*, New York, Oxford University Press, Inc., 1955.

R Yerkes, Robert M., *Chimpanzees, A Laboratory Colony*, New Haven, Yale University Press, 1943.

Young, Donald, *American Minority Peoples*, New York, Harper & Brothers, 1932.

Young, Pauline V., *Scientific Social Surveys and Research*, New York, Prentice-Hall, Inc., 1939, 1949, 1955.

Index